ध्वनिसिद्धान्त

का

काव्यशास्त्रीय, सौन्दर्यशास्त्रीय और समाजमनोवैज्ञानिक अध्ययन

(इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० लिट् उपाधि के लिए प्रस्तुत शोध-प्रबंध)

परामर्शदाता :
डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय डी० लिट्
प्रोफ़ेसर तथा अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

प्रस्तुतकर्ता
कृष्ण कुमार शर्मा
एम० ए० (हिन्दी-संस्कृत), पीएच० डी०

प्रस्तावना

आनन्दवर्धन प्रतिपादित ध्वनिसिद्धान्त भारतीय काव्यशास्त्र परम्परा की अन्यतम उपलब्धि है। यह सिद्धान्त काव्य, काव्यरचना प्रक्रिया और काव्य-सौन्दर्य के व्यापक प्रतिमानों को प्रस्तुत करता है।

आनन्दवर्धन का युग (ईसा ८५५-८८३) धर्म और दर्शन की दृष्टि से भी वैविध्यपूर्ण था। शंकर के अद्वैत सिद्धान्त का प्रतिपादन हो चुका था। अद्वैत सिद्धान्त पारमार्थिक रूप से एक ब्रह्म की स्थापना करते हुए व्यावहारिक दृष्टि से सगुण को भी स्वीकार करता है। प्रो. हिरियन्ना ने धर्म, दर्शन, काव्य और काव्यशास्त्र में भारतीय-मानस की सदृशसूत्रता का उद्घाटन करते हुए कविता और आलोचना के विकास की समांतरता को प्रकट किया है।[१] वैदिक काव्य का विषय प्रकृति और उसकी शक्तियाँ था, क्लासीकल काव्य में प्रकृति के स्थान पर अनुभूति को स्वीकार किया गया।[२] इस प्रकार कवि की दृष्टि बाहर से भीतर की ओर स्थानान्तरित हुई। दार्शनिक विचारणा में भी यह दृष्टि-सादृश्य है। ब्रह्म और जगत् की एकता का प्रतिपादन, असंख्य देवताओं की मान्यता से चलकर एक अंतर्यामी की धारणा बही तो है। काव्यशास्त्र के क्षेत्र में भी यही घटित हुआ। भामह और उद्भट दोष-गुण और अलंकारादि बाह्य तत्वों के विवेचन में काव्यशास्त्र

---

१. 'एम. हिरियन्नाज़ व्यूज़ आन थियरी आव पोएट्री' डा. रामचन्द्र द्विवेदी (निबंध)

२. आर्ट एक्सपीरीएन्स, एम. हिरियन्ना, पृ. ६

को बांधे रहे। आनन्दवर्धन ने इन तत्वों से उठकर काव्य के आत्मा प्रतीयमान अर्थ की चर्चा की। यह सिद्धान्त आत्मा सिद्धान्त के पूर्ण सदृश है। जैसे जगत के उपादान और अनुभव स्वयं में सत्य नहीं है वरन् एक चरम सत्य की विविधरूपा, किन्तु अपूर्ण अभिव्यक्ति हैं। उसी प्रकार शब्द और वाच्यार्थ कविता के बाह्य रूपाकार हैं जब तक सहृदय इस बाह्य को भेदकर कविता के चरम प्रतीयमान अर्थ तक नहीं पहुंचता उसे चित्तविस्तार रूपा चमत्कृति की अनुभूति नहीं हो सकती। यह धारणा शंकर की वेदान्ती विचारणा के अनुकूल है। इसी प्रकार आनंदवर्धन 'स एव अर्थः काव्यस्यात्मा' कहकर भी ध्वनि में वस्तु और अलंकार की वाच्यातिशयी प्रतीयमानता को स्वीकार करते हैं।

पारमार्थिक और व्यावहारिक दृष्टि-भेद उस युग का सत्य था। आनंदवर्धन का सिद्धान्त काव्य के संदर्भ में इस युग-सत्य का प्रमाण है। ऐसा प्रतीत होता है जैसे आनंदवर्धन का व्यक्तित्व दो स्तरों में संचरण करता है। एक स्तर ध्वन्यालोक के प्रथम और द्वितीय उद्योत में है जहां 'सएवार्थः' कहा गया है, द्वितीय स्तर की प्रतीति चतुर्थ उद्योत में होती है। जिसमें अनन्त काव्य-मार्गों की स्वीकृति दी गई है। आनंदवर्धन एक ओर कवि को प्रतीयमानता का मार्ग दिखाते हैं कि कहीं चूकना नहीं है, वाच्यार्थ तक ही सीमित नहीं रहना। प्रतीयमानता के चरम तक जो काव्य-सृजन का चरम बिन्दु है -- पहुंचना है। दूसरी ओर आनंदवर्धन सहृदय का विधान करते हैं कि सहृदय है तो स्वयं प्रतीयमान अर्थ को पा ही लेगा।

आनन्दवर्धन की दृष्टि में सौन्दर्य वस्तु निष्ठ होते हुए भी सहृदय की अपेक्षा रखता है। सहृदय के अभाव में, 'सौन्दर्य है' यह कौन कहेगा ? और वस्तु सौन्दर्य के अभाव में सहृदय सौन्दर्य पाएगा भी कहां ?

ध्वनिसिद्धान्त काव्य की रचना-प्रक्रिया का सिद्धान्त है। कवि की अनुभूति ही रस रूप अर्थ में परिणत होती है। कवि की लौकिक अनुभूति दु:खसुखात्मक और वैयक्तिक है जब यह काव्यरूप में परिणत होती है तो रस कहलाती है। यह रसरूप अनुभूति प्रमाता के हृदय में व्यक्त होती है। ध्वन्यालोक के अनुसार आनंदवर्धन के मत को प्रस्तुत करके भी न जाने कैसे डा० रेवाप्रसाद द्विवेदी रस को केवल 'प्रमातानिष्ठ' लिख जाते हैं।

व्यंजना वृत्ति पर आधृत ध्वनिसिद्धान्त काव्यार्थ की सार्वभौम व्याख्या प्रस्तुत करता है। हमारा निश्चित मत है ध्वनिसिद्धान्त प्रतिपादित विचारणाएं कविता के सौन्दर्य और उसकी अनुभूति से संबद्ध समस्याओं का समाधान तो करती ही हैं, सृजन-प्रक्रिया विषयक सुचिंतित निष्कर्ष भी उपस्थित करती है। अत: इस सिद्धान्त में प्रस्तुत निकष आधुनिक तो क्या, किसी भी युग की कविता के लिए संगत है।

प्रस्तुत शोध-प्रबंध ध्वनिसिद्धान्त की नए ज्ञान के प्रकाश में व्याख्या करते हुए, भारतीय काव्यशास्त्र के निषेध के युग में उसकी प्रामाणिकता पुन: प्रतिपादित करता है।

ध्वनिसिद्धान्त के दो रूप हैं--सामान्य और विशिष्ट। सामान्य स्वरूप सभी कलाओं के सौन्दर्य की व्याख्या हेतु संगत है। सौन्दर्य का स्वरूप, आधान और अनुभूति तथा सौन्दर्यविषयक अन्य समस्याओं के संदर्भ में आनंदवर्धन ने जो धारणाएं ईसा की नवम् शताब्दी में उपस्थित की थी उनकी मूल्यवत्ता, ललित कलाओं के प्रसंग में आधुनिक सौन्दर्यशास्त्रियों की विचारणाओं से प्रमाणित होती हैं। ध्वनिसिद्धान्त के इस स्वरूप की, ललितकलाओं के सन्दर्भ में व्याख्या हिन्दी में प्रथम बार इस शोध-प्रबंध में की जा रही है। यह इस सिद्धान्त की, इस प्रकाश में पुन: व्याख्या है।

भरत का रससिद्धान्त नाट्य संदर्भीय है। काव्य में रस के स्वरूप का विधान आनंदवर्धन ने ही किया है। काव्य में रस प्रतीयमान अर्थरूप में

ही रह सकता है। एक ओर आनंदवर्धन ने रस और कवि की अनुभूति का संबंध स्थापित किया है दूसरी ओर सहृदय की अनिवार्यता ज्ञापित कर रस का संबंध उसकी चित्तवृत्तियों से जोड़ा है। डा० नगेन्द्र ने रस को काव्य का सार तत्व कहते हुए ध्वनिसिद्धान्त में रससिद्धान्त की अपेक्षा कल्पना पर बल और अनुभूति की गुणीभूतता की चर्चा की है। यह विचारणा उपयुक्त नहीं है। आनंदवर्धन ने कवि की अनुभूति को ही रस रूप में परिणत माना है --

काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवे: पुरा ।

क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थ: शोक: श्लोकत्वमागत: ।।

उपर्युक्त कारिका में `शोक` अनुभूति के काव्यात्मारूप अर्थ में परिणत होने का ही कथन है। अत: यह नहीं कहा जा सकता है कि ध्वनिसिद्धान्त में अनुभूति का गौण स्थान है। सच यह है कि डा० नगेन्द्र आदि का व्यापक `रस-सिद्धान्त` आनंदवर्धन के ध्वनिसिद्धान्त की रस ध्वनि का ही विवेचन है भरत के मूल रस सिद्धान्त का नहीं। ध्वनिसिद्धान्त के इस काव्यशास्त्रीय पक्ष का उद्घाटन इस शोध प्रबंध में किया गया है।

ध्वनिसिद्धान्त काव्य-रचना-प्रक्रिया का विवेचन भी करता है। कवि की अनुभूति काव्यसृजन की प्रक्रिया में प्रतीयमान होकर व्यक्त होती है। काव्यात्मक आवेग और नियंत्रण का द्वन्द्व अनुभूति को प्रतीयमान होने को बाध्य करता है। अतएव अनुभूति की काव्यगत प्रतीयमानता आधुनिक समाज मनोवैज्ञानिक शोधों से प्रमाणित तथ्य है। आधुनिक कविता के शिल्प-उपादान प्रतीक, बिम्ब और पुराख्यान आदि भी कवि की मूल अनुभूति को ही व्यंजित करते हैं। इस दृष्टि से प्रतीयमानता, बिम्ब और प्रतीक का विवेचन प्रथम बार इस ग्रंथ में किया गया है। इस प्रकार यह शोध ग्रंथ ध्वनिसिद्धान्त को नई दृष्टि से पुन: प्रस्तुत करता है।

प्रस्तुत ग्रंथ में नौ अध्याय, उपसंहार और एक परिशिष्ट है।

प्रथम चार अध्यायों में यह बतलाया गया है कि परवर्ती काव्यशास्त्र में प्रतिफलित काव्यात्मा, अलंकार, गुण आदि की मान्यताओं का मूल स्त्रोत ध्वन्यालोक ही है। पंचम अध्याय में आधुनिक शैलीशास्त्र की दृष्टि से ध्वनिसिद्धान्त पर विचार कर यह सिद्ध किया गया है कि आधुनिक शैलीशास्त्र की कविता विश्लेषण-प्रणाली वही है जो ध्वनिसिद्धान्त में भाषा अवयवों की व्यंजकता के संदर्भ में कही गई है, इसी अध्याय में जर्मन काव्यशास्त्री बीअरविश की काव्यव्यवस्था के समकक्ष ध्वनिसिद्धान्त को एक काव्य-व्यवस्था के रूप में देखा गया है।

छठे अध्याय में आधुनिक सौन्दर्यशास्त्रियों, कलाकारों और कलाविज्ञों की मान्यताओं के संदर्भ में ध्वनिसिद्धान्त के सौन्दर्यशास्त्रीय पक्ष का विवेचन किया गया है। सातवें अध्याय में कला की प्रभाविता और फोरग्राउन्डेड विधियों के प्रकाश में व्यंजक अवयवों का विवेचन है।

आठवें अध्याय में समाजमनोविज्ञान के प्रमाणों से यह प्रमाणित किया गया है कि कविता में कवि की अनुभूति प्रतीयमान होकर ही व्यक्त होती है।

नवम् अध्याय में बिम्ब, प्रतीक और पुराख्यान की व्यंजकता हिन्दी कविता के उद्धरण देकर विवेचित की गई है।

उपसंहार में कतिपय निष्कर्ष हैं। परिशिष्ट १ में डा० नगेन्द्र को भेजे गए प्रश्न एवं उनके उत्तर हैं।

`ध्वनिसिद्धान्त' पर कुछ कार्य हुए हैं उन्हें तीन वर्गों में रखा जा सकता है प्रथम वर्ग में वे ग्रंथ हैं जो ध्वनिसिद्धान्त के शब्दशक्ति पक्ष का शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत करते हैं जैसे डा० भोलाशंकर व्यास कृत `ध्वनि-संप्रदाय और उसके सिद्धान्त : इस ग्रंथ में व्यंजना शक्ति से संबंधित शास्त्रीय विवेचन है। द्वितीय प्रकार के वे ग्रंथ हैं जिनमें ध्वनिसिद्धान्त को

विवेचित व्याख्याओं के साथ उपस्थित किया गया है । डा० रेवाप्रसाद द्विवेदी कृत `आनंदवर्धन` ग्रंथ इसी कोटि का है । तृतीय कोटि में वे साहित्यशास्त्र संबंधी ग्रंथ हैं जो साहित्यशास्त्र के अन्य संप्रदायों के साथ ध्वनि संप्रदाय का भी विवरण देते हैं । इसके अतिरिक्त अंग्रेजी में डा० कृष्णामूर्ति डा० हिरियन्ना, कृष्ण चैतन्य आदि के कार्य ध्वनिसिद्धान्त पर नूतन संकेत भी देते हैं । इस पृष्ठभूमि में प्रस्तुत शोध-प्रबंध की विषयवस्तु परीक्षणीय है ।

अंत में, मैं उन सभी प्राचीन और अर्वाचीन काव्यशास्त्रियों के प्रति आभार प्रकट करता हूं जिनके ग्रंथों का अध्ययन मैंने इस शोध प्रबंध के लिए किया है ।

इस ग्रंथ की सहायक ग्रंथ सूची को अकारादि क्रम से तकनीकी स्वरूप, उदयपुर विश्वविद्यालय के सहायक पुस्तकालयाध्यक्ष श्री श्रीनारायण नाटानी ने दिया है, उनका आभारी हूं ।

डा० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय जी आचार्य तथा अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय के परामर्श से यह ग्रंथ लिखा जा सका है, उनके प्रति कुछ भी कह कर मैं ऋणमुक्त नहीं हो सकता, न होना चाहता हूं ।

(कृष्ण कुमार शर्मा)

विषय सूची

ध्याय १ : ध्वनिसिद्धान्त : प्रेरणा और सिद्धि

-------२

अध्याय २ : काव्यात्मा और अन्य काव्य-संदर्भ

अध्याय ३ : गुण, अलंकार और संघटना

अध्याय ४ : रस विरोध, अंगीरस, शांतरस और मार्क्सपदा का समाहार

अध्याय ७ : व्यंजकत्व : सौन्दर्योपादान

अध्याय ८ : ध्वनिसिद्धान्त और समाज मनोवैज्ञानिक संदर्भ

...

संकेत सूची

सू.ना.शु.	सूर्य नारायण शुक्ल
ब. सं.	बड़ौदा संस्करण
ना. शा.	नाट्य शास्त्र
आ. वि.	आचार्य विश्वेश्वर
का. प्र.	काव्य प्रकाश
आ.प्र.	आनंद प्रकाश
हि.अ.भा.	हिन्दी अभिनव भारती
भा.का.शा.	भारतीय काव्यशास्त्र
ध्व.	ध्वन्यालोक
रे.प्र.	रेवा प्रसाद
हि. व. जी.	हिन्दी वक्रोक्तिजीवित
औ. वि. च.	औचित्य विचार चर्चा
ज. पा.	जगन्नाथ पाठक

अ ध्या य - १

ध्वनिसिद्धान्त : प्रेरणा और सिद्धि

१.१ आचार्य आनन्दवर्धन द्वारा प्रतिपादित ध्वनिसिद्धान्त व्यंजनाव्यापार पर आधृत है। आनंदवर्धन ने वाच्यार्थ से व्यतिरिक्त प्रतीयमान अर्थ को व्यंग्यार्थ कहा है और व्यंग्यार्थ की प्रतीति `व्यंजना` द्वारा सिद्ध की है। प्रतीयमान अर्थ के अस्तित्व की ओर आनन्दवर्धन के पूर्व भी संकेत किये जाते रहे थे, परन्तु इसकी सर्वप्रथम निर्भ्रान्त स्थापना ध्वन्यालोक में ही संपन्न हुई है। `ध्वन्यालोक` में आचार्य आनन्दवर्धन ने स्पष्ट लिखा है कि यह सिद्धान्त विद्वानों द्वारा पूर्वतः संकेतित भूमिका पर आधृत है। निम्नलिखित श्लोक का `सूरिभिः` पद आनंदवर्धन की इसी भावना को व्यक्त करता है --

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।

व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥[1]

वृत्ति में लिखा गया है -- `सूरिभिः कथितः इति विद्वदुपज्ञेयमुक्तिः, न तु यथाकथंचित् प्रवृत्तेति प्रतिपाद्यते। प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणाः।[2]

वैयाकरण-श्रूयमाण वर्णों में `ध्वनि` का व्यपदेश करते हैं --` ते च श्रूयमाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति`[3]। इस प्रकार आनन्दवर्धन की व्यंजना और `ध्वनि` का प्रेरणास्रोत वैयाकरणों का `श्रूयमाण

---

१. ध्वन्यालोक, बालप्रिया टीका, पृ.१०३
२. वही, पृ.१३२
३. वही, पृ. १३३

वर्णों में ध्वनि का व्यवहार है। अत: व्यंजना सम्बन्धी धारणा और व्यंजकत्व व्यापार द्वारा प्रतीत व्यंग्यार्थ की प्रेरणा[2] को भली भांति समझने के लिये वैयाकरणों की श्रूयमाण वर्ण विषयक धारणा को स्पष्ट करना अपेक्षित है। जिस 'आधार' (श्रूयमाण वर्णेषु... आदि) का संकेत आनंदवर्धन ने किया है--उसका सूत्र-स्थापन स्फोटायन ने किया था, परंतु वह विस्तार न पा सका। सर्वप्रथम, 'स्फोट'[1] शब्द का प्रयोग कर पतंजलि ने उस पूर्व परम्परा का निर्देश किया है। परन्तु इस सिद्धान्त की पूर्ण व्याख्या भर्तृहरि के 'वाक्यपदीय' ग्रंथ में उपलब्ध होती है।

१.२ 'श्रूयमाणवर्ण प्रक्रिया के दो अंग हैं-- एक श्रूयमाण वर्ण 'वाक्' की उत्पत्ति और द्वितीय इस वाक् का श्रोता द्वारा ग्रहण। वाक् की उत्पत्ति के विषय में भर्तृहरि से पूर्व की परम्परा, चार स्थितियां मानती रही है-- १.परा, २.पश्यन्ती, ३.मध्यमा और ४.वैखरी। 'परा' स्थिति वक्ता की इच्छा से सम्बन्धित है, ज्यों ही वक्ता के मन में अभिव्यक्ति की इच्छा (वक्तुरिच्छा) उत्पन्न होती है, शब्द परमाणु-आकाश में बादलों के समान (अभ्राणीव)--उमड़ने लगते हैं। इन शब्द परमाणुओं में चयन-प्रक्रिया इस स्थिति में नहीं हो पाती, इच्छा का ही प्राधान्य रहता है। 'परा' स्थिति में उत्पन्न-इच्छा का विश्लेषण 'पश्यन्ती' अवस्था में होकर उसका शब्द रूप निश्चित हो जाता है, अत: इसे चिन्तन अथवा मनन की अवस्था भी कह सकते हैं। विश्लेषण का कार्य तैजस् तत्त्व द्वारा होता है-- स मनोभावमापद्य तेजसा पाकमागत:[2] इसलिए 'पश्यन्ती' का कार्य 'विश्लेषणपूर्ण विनिश्चय' कहा गया है। 'मध्यमा' अवस्था में प्राण और वायु का योग कहा गया है। इसे प्रयत्न की अवस्था कहते हैं। उच्चारणावयव और प्रश्वास की समस्त प्रक्रिया इसी अवस्था में सम्पन्न होती है। 'पश्यन्ती' अवस्था में विनिश्चित

---

१. 'प्रतिमादर्शन', जोशी पृ.३१७

२. वाक्यपदीयम्, ब्र.का.स्व. कारिका ११३, पृ.१२०

शब्द के अनुसार ही उच्चारणावयव और प्रश्वास में अवरोधादि प्रयत्न होते हैं । इस प्रकार जो निश्चित स्वरूप वाली वाक् व्यक्त होती है, वह वैखरी कहलाती है । यह 'वैखरी' ही विश्व के पारस्परिक व्यवहार का माध्यम है । इन चार अवस्थाओं में से भर्तृहरि, 'पश्यन्ती', 'मध्यमा' , और 'वैखरी' का ही परिगणन करते हैं , व्याकरण का अधिकार क्षेत्र अधिक से अधिक 'पश्यन्ती' अवस्था तक ही है । क्योंकि इसी अवस्था में अर्थभावनासहित शब्द 'बुद्धिस्थ' रहता है और प्रकृति - प्रत्यय विश्लेषण प्रक्रिया भी संपन्न होती है --

'तद्वच्छब्दोऽपि बुद्धिस्थ: श्रुतीनां कारणं पृथक्'[1]

वितर्कित: पुरा बुद्ध्या क्वचिदर्थे निवेशित:[2]

'परा' में व्याकरण की गति नहीं है इसीलिये भर्तृहरि ने उसका उल्लेख नहीं किया, 'वक्तुरिच्छा' का विश्लेषण भर्तृहरि ने अवश्य किया है । अत: वाक् की उत्पत्ति में भर्तृहरि द्वारा तीन चरण माने गये हैं--

(१) पश्यन्ती । (२) मध्यमा । (३) वैखरी ।

यही 'वैखरी' वाक् श्रोता तक पहुंचती है । ग्रहण का क्रम उत्पत्ति के क्रम का विलोम है । 'श्रूयमाण वर्णों' का अवसर इस 'ग्रहण' के प्रसंग में ही उत्पन्न होता है । ग्रहण की प्रक्रिया में चार चरण हैं -- नाद-स्फोट-ध्वनि (व्यक्ति) और स्वरूप । 'स्वरूप' से तात्पर्य है, श्रोता द्वारा वक्ता की इच्छा के 'स्वरूप' का समझा जाना ।

१.१ नाद -- व्यक्त वर्णध्वनियां नाद के रूप में ही श्रोता तक पहुंचती हैं । व्यक्त ध्वनि वायु में, तरंग रूप में प्रसरण करती है ।

---

१. वाक्यपदीयम् , सु. ना. शु. कारिका ४६ , पृ. ६३
२. वही, का.४७ पृ.६४

तरंग की विशेषता व्यक्त वाक् के अनुरूप ही होती है। अर्थात् दीर्घ और ह्रस्व उच्चरित वर्ण के अनुसार तरंग की तरंगलम्बाई (Wave Length) भी होगी। यह तरंग कानों के पर्दे से टकरा कर वर्ण का पुनरुत्पादन करेगी, यह पुनरुत्पादित वर्ण ही नाद है। इस प्रकार प्रत्येक उच्चरित वर्ण की तरंग उस वर्ण का नाद उत्पन्न करेगी--क्योंकि सभी उच्चरित वर्णों की तरंगे एक साथ नहीं पहुंचतीं, उच्चारण के क्रम से पहुंचती हैं। अत: नाद क्रमजन्मा होता है। इसी अर्थ में भर्तृहरि ने नाद को क्रमजन्मा कहा है - `नादस्य क्रमजन्मत्वात्`[१] परंतु, यहीं एक प्रश्न होता है, कि उच्चरित वर्णों की तरंगें क्रमश: पहुंच कर क्रमश: ही नाद को उत्पन्न करेंगी, तब शब्द की पूर्णता का ज्ञान कैसे होगा ? क्योंकि दूसरे वर्ण की तरंग पहुंचने तक प्रथम वर्ण की तरंग तिरोहित होने लगेगी। इसी समस्या का समाधान `स्फोट सिद्धान्त` है।

१.४ <u>स्फोट</u> - शब्द की पूर्णता का ज्ञान `स्फोट` में होता है। `स्फोट के अनुग्रह से शब्द सुनाई पड़ते हैं, अर्थ का बोध होता है। स्फोट निमित्त और अर्थबोधक भी है। श्रोता के लिए वैखरी निमित्त है और स्फोट अर्थबोधक है क्योंकि पूर्वपूर्व वर्णों के नाश हो जाने से उत्तर उत्तर वर्ण के एक साथ न रहने से अर्थ बोध नहीं हो सकता था। अत: स्फोट ही अर्थबोधक माना गया है।`[२] उदाहरण के लिये `गौ:` शब्द लें। इसमें तीन वर्ण हैं ग्, औ, और : (विसर्ग), वक्ता जब `गौ:` का उच्चारण करेगा, तब ये तीन वर्ण क्रमश: तीन ध्वनि तरंगों के रूप में श्रोता के कान के पर्दे से टकरा कर क्रमश: नाद उत्पन्न करेंगे। परन्तु `गौ:` की प्रतीति तो तीनों वर्णों के एकान्वित रूप में ही हो सकती है, पृथक-पृथक में नहीं। एक अथवा दो वर्णों में ही पूर्ण `गौ:` की प्रतीति मानने पर, शेष वर्ण व्यर्थ कहे जाएंगे। लेकिन तीनों वर्णों का एकान्वित रूप भी संभव नहीं है, क्योंकि कोई भी ध्वनि दो क्षण से अधिक नहीं ठहरती। जब तक `औ` ध्वनि पहुंचेगी

१.वाक्यपदीय, कारिका ४८

`ग` ध्वनि तिरोहित हो जायेगी। स्फोट की धारणानुसार `गौ`
का अर्थबोध `स्फोट` द्वारा होता है। अर्थात् `पूर्व-पूर्व वर्णों के
संस्कार (`ग्` का संस्कार, `औ` का संस्कार) अन्तिम वर्ण (:विसर्ग)
के उच्चारण के साथ संयुक्त होकर शब्द की पूर्णता की प्रतीति के साथ
ही अर्थबोध कराते हैं। यही `पूर्णता की प्रतीति` स्फोट है। भर्तृहरि
स्फोट में शब्द और अर्थ, दोनों की पूर्णता की समकालिक अनुभूति
मानते हैं। वाक्य की पूर्णता की प्रतीति, वाक्यस्फोट कही गयी है।
वाक्यपूर्णता के साथ-साथ वाक्यार्थ-प्रतीति भी होती है। `यद्यपि ध्वनियों
के क्रम से जन्म लेने के कारण स्फोट सक्रम प्रतीत होता है तथापि वह
सक्रम नहीं है किन्तु, जैसे मयूर के अंडे के रस में मयूर के अंग-प्रत्यंग अक्रम
रहते हुए भी क्रम से ही विकसित होते हैं वैसे स्फोट भी अक्रम है किन्तु
ध्वनि के क्रम से उच्चरित होने से स्फोट में सक्रमता प्रतीत होती है।
इसी प्रकार शब्द में वर्ण, पद, वर्णावयव, पदावयव, जाति, व्यक्ति,
सखण्ड आदि प्रतीतियां भ्रम हैं। वस्तुत: एक तथा सत्य वाक्य ही स्फोट
है।`[1]

१.५ <u>व्यंग्य-व्यंजकभाव-</u> भर्तृहरि ने नाद और स्फोट में व्यंजक-व्यंग्य
भाव कहा है -- जैसे ग्रहण (इन्द्रिय) और ग्राह्य (रूप आदि) की योग्यता
नियत है- वैसे स्फोट और नाद की व्यंग्य-व्यंजक भाव से योग्यता नियत
है।

> ग्रहणग्राह्योः सिद्धा नियता योग्यता यथा।
> व्यंग्यव्यंजकभावेन तथैव स्फोटनादयो:[2] ॥

नाद व्यंजक है और सुफोट व्यंग्य। नाद और स्फोट का यह संबंध नित्य
और स्वाभाविक है। नाद के अभाव में स्फोट की अस्तित्व-सिद्धि ही
असंभव है। स्फोट में शब्द अथवा वाक्य की `श्रुति` पूर्ण होती है। इस
प्रकार स्फोट में अर्थ-प्रतीति भी है, किन्तु स्फोट को व्यंग्य कहा इसलिये,

---

१.वाक्यपदीयम्, सू.ना.शु. पृ.१३

२.वाक्यपदीयम्, का.९७, पृ.१०९

स्फोट में प्रतीत होने वाले अर्थ को भी व्यंग्य कहा जा सकता है। आचार्य आनन्दवर्धन द्वारा प्रतिपादित व्यंग्यार्थ का आधार यही धारणा है। `नाद` व्यंजक है, यह नाद वर्णध्वनियों से उत्पन्न होता है, अत: नाद, ध्वनिरूप ही है--ध्वनि, वर्णों का गुण है, नाद का व्यंजकत्व, कारण स्वरूप वर्णों का ही व्यंजकत्व है और वर्ण ही शब्द का निर्माण करते हैं तथा शब्द की पूर्णता के साथ ही अर्थ की प्रतीति भर्तृहरि द्वारा कही गई है, इस लिये अर्थ के प्रति वर्णनिर्मित शब्द का भी व्यंजकत्व सिद्ध होता है। इसी आधार पर शब्द तथा वाच्य व्यतिरिक्त अर्थ में आनंदवर्धन ने व्यंजक-व्यंग्य भाव प्रतिपादित किया है। व्यंग्य-व्यंजक भाव मूलत: वैयाकरणों द्वारा प्रतिपादित है, स्थिति-साम्य के कारण आनंदवर्धन ने इसका उपयोग `ध्वनि सिद्धान्त` में किया। व्यंग्य-व्यंजक भाव के अर्थ में विस्तार भी हुआ क्योंकि ध्वनि सिद्धान्त के अंतर्गत, शब्द ही नहीं, वाच्य, लक्ष्य, और व्यंग्य की व्यंजकता भी प्रतिपादित की गई है।

काव्यशास्त्र के प्रथम आचार्य भरत के नाट्यशास्त्र में भी रसाभिव्यक्ति स्वीकार की गई है। अत: अभिव्यक्ति सिद्धान्त के निश्चित संकेत व्याकरण और नाट्यशास्त्र दोनों में ही उपलब्ध होते हैं। व्याकरणशास्त्र में प्रतिपादित व्यंजक-व्यंग्य भाव की चर्चा की जा चुकी है। भरत के एतद्विषयक कथन निम्नलिखित हैं --

(१) नानाभावाभिनय-व्यंजितान् वागंगसत्वोपेतान्[१]
स्थायिभावानास्वादयन्ति सुमनस: ।

(नाना प्रकार के भावों के आंगिक, वाचिक और सात्विक अभिनयों से स्थायिभाव व्यंजित होते हैं तथा सहृदय उनका आस्वादन करते हैं।)

१.ना.शा. ब.सं. पृ.२८८

(२) अष्टौ मावा: स्थायिन: ।
त्रयस्त्रिंशद् व्यभिचारिण: ।
अष्टौ सात्त्विका: ।
एते काव्यरसाभिव्यक्ति हेतव: ॥[1]

(स्थायिभाव आठ होते हैं , तेतीस व्यभिचारि माव हैं, आठ सात्त्विक माव हैं । ये काव्य रस की अभिव्यक्ति में हेतु हैं ।)

(३) काव्यार्थसंश्रितैर्विभावानुभाव-व्यंजितै: ।
एकोनपंचाशद्भावै: अभिनिष्पद्यन्ते रसा: ।।[2]

(काव्यार्थ के आश्रित रहने वाले विभाव-अनुभाव से व्यंजित भावों से रस निष्पन्न होते हैं ।)

१.६ ध्वनि -- `ध्वनि` शब्द का प्रयोग मी आनंदवर्धन ने वैयाकरणों के मतानुसार किया है । नाद के कारणभूत वर्णों को वैयाकरणों ने `ध्वनि` कहा है और नाद को व्यंजक, इस आधार पर आनंदवर्धन ने व्यंजक को `ध्वनि` कहा है । तदनुसार व्युत्पत्ति का स्वरूप होगा -- `ध्वनति य: स व्यंजक: शब्दो ध्वनि:` । `स्फोट` के अनंतर जो अर्थविस्तार होता है, वह श्रोता द्वारा ग्रहण की तृतीय अवस्था है । इसे मी मर्तृहरि ने `ध्वनि` अथवा `व्यक्ति` कहा है --

`कैश्चिद् व्यक्तय एवास्या: ध्वनित्वेन प्रकल्पिता:`[3]

अत: अर्थविस्तार मी ध्वनि कहा गया है । इस सूत्र को ग्रहण कर आनंदवर्धन ने प्रतीयमान अर्थ को मी `ध्वनि` संज्ञा दी है --

`ध्वन्यते इति ध्वनि:`

वैयाकरणों ने इसे `व्यक्ति` कहा है, आनंदवर्धन ने मी प्रतीयमान अर्थ की व्यंजना प्रतिपादित की है । शब्द और अर्थ के इस धर्म को ध्वनन अथवा व्यंजकत्व कहा है --

---

१.ना.शा.ब.सं. पृ.३५८
२.वही, पृ.३५६
३.वाक्यपदीयम, का.६१

`ध्वन्यते अनेन इति ध्वनि:`

वैयाकरणों की उपर्युक्त धारणाएं ही, `ध्वनि-सिद्धान्त` में गृहीत-व्यंजना (व्यक्ति), व्यंजक-व्यंग्य-भाव और व्यंजकत्व का आधार हैं। ध्वन्यालोक के तृतीय उद्योत में भी आनंदवर्धन ने कहा है कि उन्होंने यह सिद्धान्त वैयाकरणों से ग्रहण किया है, अत: वैयाकरणों से विरोध-अविरोध का प्रसंग ही नहीं होता --

> `परिनिश्चितनिरपभ्रंशशब्दब्रह्मणां विपश्चितां मतमाश्रित्यैव प्रवृत्तोऽयं ध्वनिव्यवहार इति तै: सह किं विरोधाविरोधौ चिन्त्येते।`[१]

`व्यक्ति` के उपरान्त, वक्ता के इच्छारूप अर्थ (स्वरूप) की प्रतीति कही गई है। यह अर्थ से अर्थ की व्यंजना का आधार है। आर्थी व्यंजना का मूल स्रोत यही है। यह ध्यातव्य है कि वैयाकरणों की उपर्युक्त धारणाएं अर्थग्रहण की प्रक्रिया के प्रसंग में हैं--और ध्वनिसिद्धान्त भी अर्थग्रहण के आयाम प्रस्तुत करता है। `ध्वन्यालोक` में आचार्य आनंदवर्धन ने ध्वनि-सिद्धान्त स्थापन द्वारा प्रतीयमान अर्थग्रहण कराने वाली, शब्द की व्यंजनावृत्ति का प्रतिपादन किया और इस प्रकार काव्य के `सर्वांगपूर्ण सिद्धान्त की `रूपरेखा` प्रस्तुत की। व्यंजना का आधार तो व्याकरण में था, परन्तु उसका पूर्णरूप में स्थापन उतना सरल नहीं था। आनंदवर्धन को व्यंजनालब्धप्रतीयमान (व्यंग्यार्थ) की निर्विवाद अस्तित्व-सिद्धि के लिए पर्याप्त तर्कों का आश्रय लेना पड़ा। अब तक शक्ति के रूप में अभिधा, लक्षणा और तात्पर्य ही मान्य थीं। अत: व्यंग्यार्थ को अभिधेयार्थ, लक्ष्यार्थ और तात्पर्यार्थ से अतिरिक्त सिद्ध कर उसके स्वरूप का स्पष्ट निरूपण भी आनंदवर्धन को करना था। ध्वनि-सिद्धान्त का आधार व्यंजना है, अत: व्यंजना की सिद्धि `ध्वनि` की सिद्धि है। इसलिये विरोधियों ने भी व्यंजना का ही विरोध किया। आचार्य आनंदवर्धन ने ध्वनि अथवा व्यंजनाविरोधियों के कतिपय विकल्पों को स्वयं प्रस्तुत कर उनका तर्कपूर्वक

---

१. ध्व.आ.वि.तृ--उ.पृ.२७६

खंडन किया है। ध्वन्यालोक के प्रथम श्लोक में ही ध्वनिविरोधियों के विकल्प कहे गये हैं --

काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्व-
स्तस्याभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये ।
केचिद् वाचां स्थितमविषये तत्वमूचुस्तदीयं[१]
तेन ब्रूमः सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपम् ।।

('काव्य की आत्मा' ध्वनि है, ऐसा काव्यतत्वविदों द्वारा भली भाँति परम्परा से प्रकट किया गया है। (तब भी) कुछ उसका अभाव कहते हैं, अन्य उसे 'भाक्त' कहते हैं, और कुछ उसे वाणी का अविषय (गिरातीत, अवर्णनीय) तत्व कहते हैं, इसलिए 'सहृदयों के मन की प्रसन्नता हेतु हम उसका स्वरूप कहते हैं।')

इस श्लोक में 'ध्वनि' का निषेध करने वालों की तीन कोटियाँ कही गई हैं --

१. अभाववादी (ध्वनि का अभाव मानने वाले।)
२. ध्वनि का लक्षणा में अंतर्भाव करने वाले।
३. ध्वनि को अनिर्वचनीय मानने वाले।

१.७ <u>अभाववादी</u>-- अभाववादियों के तीन विकल्प दिये गये हैं।[२] ये निम्नलिखित हैं --

(क) <u>प्रथम विकल्प</u> -- कुछ अभाववादी यह कह कर ध्वनि का निषेध कर सकते हैं कि --'काव्य शब्दार्थ शरीर वाला है' (शब्दार्थशरीरन्ता-वत् काव्यम्)। इस शब्दार्थरूप धर्म को सभी निर्विवाद रूप से स्वीकारते हैं। तथा शब्दगत अर्थात् शब्द के रूप के माध्यम से सौन्दर्य बढ़ाने वाले, 'चारुत्वहेतु' अनुप्रासादि प्रसिद्ध ही हैं। अर्थगत-चारुत्वहेतु उपमादि भी परिचित हैं। वर्णों की विशिष्ट संघटना से चारुत्व निष्पन्न करने वाले

---

१. ध्वन्यालोक-- आ.वि.पृ.२
२. 'तत्राभाववादिनां चामी विकल्पाः संभवन्ति'। पृ.५

(वर्णसंघटनाधर्माश्च) माधुर्य आदि गुण भी प्रतीत होते ही हैं। इन गुणों से अभिन्न रहने वाली (तदनतिरिक्तवृत्तयो) जो उपनागरिका आदि वृत्तियां कुछ लोगों द्वारा प्रकाशित की गई हैं, वे भी श्रवणगोचर हुई हैं। वैदर्भीआदि रीतियां भी ज्ञात हैं (रीतयश्च वैदर्भीप्रभृतय:)। तब इन सबसे व्यतिरिक्त यह ध्वनि नाम का क्या है?[१]

(ख) द्वितीय विकल्प-- अन्य कह सकते हैं--`ध्वनि है ही नहीं'।[२] परंपरागत मार्ग से व्यतिरिक्त मार्ग में काव्यप्रकार मानने से काव्यत्व की हानि है। अर्थात् परंपरा से जिसमें काव्यत्व माना जाता रहा है, जैसे शब्द, अर्थ, अलंकार आदि, इनसे व्यतिरिक्त (ध्वनि) में काव्यत्व स्वीकार करने से काव्यत्व की हानि ही होगी। अत: परंपरायुक्त मार्ग में ही काव्यत्व है, उससे भिन्न मार्ग (ध्वनि) में नहीं। काव्य का लक्षण,[३] `सहृदयों के हृदयों को आनंद देने वाला `शब्दार्थयुक्तत्व' है। अर्थात् शब्द और अर्थ का ऐसा समायोजन, जो सहृदयों के हृदय को आनंद दे, काव्य है। यदि ध्वनिसंप्रदाय में कतिपय व्यक्तियों को सहृदय मानकर ध्वनि में काव्य का व्यपदेश किया जाय तो अन्य विद्वानों को मान्य न होगा।[४]

(ग) तृतीय विकल्प-- ध्वनि का निषेध करने वालों का तृतीय विकल्प यह हो सकता है--`ध्वनि' नाम का कुछ अपूर्व (अर्थात् पहले जिसका कथन न किया जा चुका हो ऐसा) संभव ही नहीं हो सकता। यदि वह (ध्वनि) कमनीयता का अतिक्रमण नहीं करता है तो पहले से कहे गये अनुप्रासादि चारुत्व हेतुओं में ही उसका अन्तर्भाव हो जायगा। और पहले से कहे गये चारुत्वहेतुओं में से ही किसी का (तेषामन्यतमस्यैव वा) यह

---

१. तदव्यतिरिक्त: कोऽयं ध्वनिर्नामेति? पृ.५

२. नास्त्येव ध्वनि:।

३. `सहृदयहृदयाह्लादिशब्दार्थमयत्वमेव काव्यलक्षणम्।`

४. न च तत्समयान्त:पातिन: सहृदयान् कांश्चित् परिकल्प्य तत्प्रसिद्ध्या ध्वनौ काव्यव्यपदेश: प्रवर्तितोऽपि सकलविद्वन्मनोग्राहितामवलम्बते। पृ.६

नूतन नाम (ध्वनि) रखा जाता है (अपूर्वसमाख्यामात्रकरणे) तो यह अतीव तुच्छ कथन होगा (यकिंचन कथनं स्यात्) । साथ ही वाक् के अनेक विकल्प होने से, कथनशैलियों के अनन्त होने से, प्रसिद्ध काव्यलक्षणकारों द्वारा (काव्यलक्षणविधायिभि:) कोई प्रकारलेश अप्रदर्शित रह भी गया हो (अप्रदर्शिते प्रकारलेशे) तो उस छोटे से प्रकार को ही 'ध्वनि' 'ध्वनि' कह कर, असत्य सहृदयता से आँखें बन्द कर जो नृत्य किया जाता है उसका हेतु हम नहीं जानते । (ध्वनिर्ध्वनिरिति यदेतदलीकसहृदयत्वभावनामुकुलितलोचनै: नृत्यते, तस्य हेतुं न विद्म:) । अनेक महात्माओं द्वारा अनेक अलंकार प्रकार प्रकाशित किये गये हैं -- प्रकाशित किये भी जाएँगे, पर उनकी ऐसी दशा सुनाई नहीं पड़ती जैसी 'ध्वनि' 'ध्वनि' कहने वालों की है । अत: ध्वनि प्रवाद मात्र है । इसमें कुछ भी विचारणीय (क्षोदक्षमं) तत्व नहीं है ।[१] इस विषय में आनन्दवर्धन ने अपने समकालीन मनोरथ कवि का श्लोक भी उद्धृत किया है । मनोरथ कवि ध्वनि विरोधी थे --

> यस्मिन्नस्ति न वस्तु किंचन् मन:प्रह्लादि
> सालङ्कृति ,
> व्युत्पन्नै रचितं न चैव वचनैर्वक्रोक्तिशून्यं च यत् ।
> काव्यं तद् ध्वनिना समन्वितमिति प्रीत्या
> प्रशंसन् जडो,
> नो विद्मोऽभिदधाति किं सुमतिना पृष्ट:
> स्वरूपं ध्वने: ।।[२]

'जिसमें, मन को प्रसन्न करने वाली (मन: प्रह्लादि) अलंकारसहित (सालङ्कृति) कोई वस्तु (अर्थ तत्व) नहीं है । जो व्युत्पन्न शब्दों (व्युत्पन्नैर्वचनै:) से रचा नहीं गया और वक्रोक्तिशून्य है (वक्रोक्तिशून्यम्) ऐसे काव्य को 'ध्वनि समन्वित है' । ऐसा कहकर प्रीतिपूर्वक प्रशंसा करता हुआ मूर्ख ('ध्वनिना समन्वितमिति' प्रीत्या प्रशंसन् जडो), विद्वानों के

---

१. तस्मात् प्रवादमात्रं ध्वनि: । न त्वस्य क्षोदक्षमं तत्वं किंचिदपि प्रकाशयितुं शक्यम् ।

२. 'ध्वन्यालोक' आ. वि. पृ. ७

द्वारा (सुमतिना) पूछे जाने पर, ध्वनि का स्वरूप (ध्वने: स्वरूपं) क्या कहता है (कहेगा) हम नहीं जानते ।`

१.८ लक्षणा में ध्वनि के अंतर्भाव का निषेध (भाक्तमाहुस्तमन्ये[१])-- अन्य विद्वान ध्वनिसंज्ञक काव्य को गुणवृत्ति कहते हैं ।[२] यद्यपि ध्वनि नाम का प्रयोग कर काव्य के लक्षण निर्माताओं ने गुणवृत्ति अथवा अन्य किसी प्रकार का प्रकाशन नहीं किया है । तथापि काव्य में (काव्येषु) गुणवृत्ति से (अमुख्यवृत्त्या) व्यवहार दिखलाने वालों ने[३] ध्वनिमार्ग का जरा सा स्पर्श करके भी लक्षण नहीं किया (मनाक् स्पृष्टोऽपि न लक्षित इति) इस प्रकार की कल्पना करके ही कहा है, `भाक्तमाहुस्तमन्ये` इति ।

मामह के `काव्यालंकार` पर उद्भट ने `मामहविवरण` व्याख्या की रचना की थी । काव्य के हेतुओं के सम्बन्ध में मामह की निम्नलिखित कारिका है --

> शब्दश्छन्दोभिधानार्था इतिहासाश्रया: कथा: ।
> लोको युक्ति: कलाश्चेति मन्तव्या: काव्यहेतव: ।।

इस कारिका में प्रयुक्त `शब्द` और `अभिधान` का भेद उद्भट ने स्पष्ट किया है -- इस प्रकरण का अभिप्राय यह है कि `शब्द` पद से शब्द का ग्रहण करना चाहिए और `अर्थ` पद से अर्थ का । शब्द का अर्थबोधनपरक जो व्यापार है उसे `अभिधान` पद से ग्रहण करना चाहिए । यह अभिधान या अभिधा व्यापार मुख्य या गुणवृत्ति भेद से दो प्रकार का है ।[४] इस प्रकार मामह ने `अभिधान` पद से, उद्भट ने गुणवृत्ति पद से और वामन ने `सादृश्यात् लक्षणावक्रोक्ति:` में `लक्षणा` से ध्वनिमार्ग का थोड़ा सा स्पर्श, अन्यार्थ की प्रतीति मानकर किया तो है, पर उसके लक्षण का

---

१. `भाक्तमाहुस्तमन्ये` पृ. ८

२. अन्ये तं ध्वनिसंज्ञितं काव्यात्मानं गुणवृत्तिरित्याहु: पृ. ८

३. तथापि अमुख्यवृत्त्या काव्येषु व्यवहारं दर्शयता ध्वनिमार्गो मनाक् स्पृष्टोऽपि न लक्षित इति परिकल्प्यैवमुक्तम्, भाक्तमाहुस्तमन्ये इति पृ.६

४. ध्वन्यालोक आ.वि. पृ.४

निरुपण नहीं किया । `मक्ति` में ध्वनि का अंतर्भाव करने वालों के साथ नित्यप्रवर्तमान सूचक `लट्` लकार के `आहु:` का प्रयोग, मत की निश्चितता की ओर संकेत करता है । `जगदु:` और `ऊचु:` अभाववादी मतों की संभावना का प्रकाशन करते हैं । `मक्ति` अथवा लक्षणा के -- मुख्यार्थबाध, तद्योग और प्रयोजन-तीन बीज कहलाते हैं । इन तीनों दृष्टियों से लक्षणा (मक्ति) की तीन प्रकार से व्युत्पत्ति की जाती है --

(१) मुख्यार्थस्य मंगो मक्ति: (मुख्यार्थबाधपरक व्युत्पत्ति)

(२) मज्यते सेव्यते पदार्थेन इति सामीप्यादिधर्मो मक्ति:
(तद्योगपरक व्युत्पत्ति)

(३) प्रतिपाद्ये शैत्यपावनत्वादौ श्रद्धातिशयो मक्ति:
(प्रयोजनपरक व्युत्पत्ति)

इन मुख्यार्थबाधादि तीन बीजों से जो अर्थ प्राप्त होता है वह माक्त अथवा लक्ष्यार्थ है । `गुणवृत्ति` से शब्द और अर्थ दोनों का ग्रहण होता है । `गंगायां घोष:` इस उदाहरण वाक्य में `सामीप्यादि` गुण के द्वारा ही `गंगा` शब्द का तट अर्थ में वृत्तिबोधकत्व है । शब्द की जिस अर्थ से वृत्ति होती है, वह अर्थ भी गुणवृत्ति हो सकता है । और अमुख्य अभिधा व्यापार तो गुणवृत्ति कहा ही जाता है । गुणवृत्ति की ये तीनों व्युत्पत्तियां अभिनवगुप्त ने इस प्रकार दी है --

(१) गुणा: सामीप्यादयो धर्मास्तैक्ष्ण्यादयश्च, तैरुपायैर्वृत्तिरर्थान्तरे यस्य (शब्दस्य)

(२) तैरुपायैर्वृत्तिर्वा शब्दस्य यत्र स गुणवृत्ति: (अर्थ:)

(३) गुणद्वारेण वा वर्तनं गुणवृत्तिरमुख्या भिधाव्यापार: ।
(व्यापार:)[1]

जैसे `ध्वनि` की शब्दपरक, अर्थपरक और व्यापारपरक व्याख्याएं होती हैं, वैसे ही गुणवृत्ति की भी । इसी आशय से आचार्य आनंदवर्धन ने कहा है, कि कुछ लोग `ध्वनि` को `गुणवृत्ति` कहते हैं । ध्वनि का विरोध

---

१. `ध्वन्यालोक` सं० डा० त्रिपाठी पृ.५५

करने वाले, इस प्रकार के भी हो सकते हैं, जो ध्वनि के अस्तित्व को स्वीकार करें पर उसे वाणी के लिये अगोचर कहें। उनके मत में `ध्वनि` अवर्णनीय है, केवल सहृदयसंवेद्य है।[१] इस प्रकार `ध्वनि` के विरोधियों के मतों का पूर्वस्थापन किया गया है। अब क्रमश: इन मतों का आनंदवर्धनकृत खण्डन यहां प्रस्तुत किया जा रहा है। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है ध्वनि सिद्धान्त का आधार व्यंजना शक्ति से प्रतीत, व्यंग्यार्थ है। अतएव व्यंग्यार्थ की सत्ता सिद्ध करना ही व्यंजनासिद्धि का प्रथम चरण है। यह सिद्ध करना है कि व्यंग्यार्थ अब तक कहे गये, अभिधादि से प्राप्त अर्थ से भिन्न है। इस सिद्धि में व्यंजना की स्थापना स्वत: हो जायगी, क्योंकि व्यंग्यार्थ की प्रतीति में किसी व्यापार और शक्ति की कल्पना करनी ही होगी। अभाववादियों के प्रथम विकल्प में शब्द और अर्थ तक ही काव्य माना गया है। अत: सर्वप्रथम वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ का भेद प्रदर्शित किया गया है।

१.१ वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ के भेद की युक्तिप्रणाली--व्यंग्यार्थ, वाच्यार्थ के सामर्थ्य से आक्षिप्त होता है, तथा उसके वस्तुमात्र, अलंकार रसादि अनेक भेद हैं। इन सभी भेदों में वह व्यंग्यार्थ, वाच्यार्थ से अन्य ही है।[२] वस्तुरूप भेद वाच्यार्थ से बहुत भिन्न है।

(१) वाच्यार्थ कभी विधिरूप होता है और प्रतीयमान अर्थ निषेधरूप यथा -- भ्रम धार्मिक विश्रब्ध: स शुनकोऽद्य मारितस्तेन।[३]
गोदानदीकच्छकुञ्जवासिना दृप्तसिंहेन।।

यह कथन किसी कुलटा का है। अपने प्रिय मिलन के स्थान पर, किसी पुजारी को पुष्पचयन करते देख उसके आनंद-विहार में बाधा पहुंचती है, इसलिये वह कहती है `हे पुजारी निर्विघ्न भ्रमण करो, जिस कुत्ते से तुम डरते थे, उसे तो गोदावरी तीर के कुंज में निवास करने वाले दृप्त सिंह ने मार दिया है।` इस प्रकार वाच्यार्थ में `भ्रमण करो` यह विधिरूप अर्थ है, परन्तु

---

१. केचित् पुनर्लक्षणकरणशालीनबुद्धयो ध्वनेस्तत्त्वं गिरामगोचरं सहृदयसंवेद्यमेव समाख्यातवन्त:। ध्वन्यालोक आ. वि. पृ. ६

२. स ह्यर्थो वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तं वस्तुमात्रम्, अलंकाररसादयश्चेत्यनेकभेदप्रभिन्नो दर्शयिष्यते। सर्वेषु च तेषु प्रकारेषु तस्य वाच्यादन्यत्वम्। तथा हि

प्रकरण का विमर्श करने पर इस वाच्यार्थ से आक्षिप्त निषेध रूप प्रतीयमान अर्थ प्रतीत होता है, `भ्रमण मत करो` । पहले तो कुत्ता ही था, अब उस कुत्ते को भी क्रूरतापूर्वक मारने वाला मदमस्त सिंह है, यहाँ वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ का भेद स्पष्ट है, अत: वाच्यार्थ से भिन्न व्यंग्यार्थ की स्थिति माननी ही होगी । कहीं वाच्यार्थ निषेधरूप होता है और प्रतीयमान अर्थ विधिरूप होता है ।

श्वश्रूरत्र निमज्जति, अत्राहं दिवसकं प्रलोकय ।
मा पथिक रात्र्यन्ध शय्यायां मम निमंक्ष्यसि ।।[१]

यह किसी प्रोषितपतिका का कथन है । कोई पथिक पुरुष इसके घर रात्रिनिवास करना चाहता है, नायिका की भी सहमति है, घर में नायिका की सास भी है । अत: नायिका कहती है कि `हे रतौंधी वाले (रात्र्यन्ध) पथिक दिन में ही देख लो मैं यहाँ सोती हूँ और मेरी सास यहाँ, ऐसा न हो कि रात्रि में मेरी शय्या पर आ गिरो ।` इस प्रकार वाच्यार्थ निषेधपरक है -- कि `शय्या पर मत गिर पड़ना` परन्तु प्रतीयमान अर्थ है, कि `दिन में ही शय्या देखलो` `आ ही गिरना` । अत: प्रतीयमान अर्थ विधिरूप है । यह वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ भेद का द्वितीय प्रमाण है, इसलिये वाच्यार्थ में ही व्यंग्यार्थ का अन्तर्भाव नहीं हो सकता । कहीं वाच्यार्थ विधिरूप होता है परन्तु प्रतीयमान अर्थ न तो विधिरूप होता और न निषेधरूप ही, यथा निम्नलिखित श्लोक में वाच्यार्थ विधिरूप है `कि जाओ` पर प्रतीयमान अर्थ (दु:ख) न तो निषेधरूप ही है और न विधिरूप ही --

व्रज ममैवैकस्या भवन्तु नि:श्वासरोदितव्यानि ।
मा तवापि तया विना दाक्षिण्यहतस्य जनिषत ।।[२]

---

१. ध्वन्यालोक आ. वि. पृ. १५

२. वही

`यह खंडिता नायिका की उक्ति है, परस्त्री-उपभोग-जन्य लक्षणों को देखकर अतीव दु:खपूर्वक वह कहती है--जाओ (व्रज)। ये निश्वास, रुदन अकेले मेरे ही हों (गमैवैकस्या) दाक्षिण्य के कारण, तुम्हें भी उसके बिना (तया विना) ये सब न भोगने पड़ें।` दक्षिण नायक वह होता है, जो अनेक महिलाओं पर समान राग रखे। यह नायक दक्षिण है, अत: इस नायिका पर भी अनुराग रखता है। पर जब वह आया है तो उसके शरीर पर अन्यस्त्री उपभोगजनित चिह्न हैं। उन्हें देखकर नायिका ने यह उक्ति कही है। यहां वाच्यार्थ है-- `जाओ` यह विधि रूप है, परन्तु प्रतीयमान दु:ख न तो विधिरूप ही है, और न निषेधरूप ही।

कहीं वाच्यार्थ प्रतिषेध (निषेध) रूप होता है, व्यंग्यार्थ न विधिरूप न निषेधरूप, यथा प्रस्तुत श्लोक में --

प्रार्थये तावत् प्रसीद निवर्तस्व मुखशशिज्योत्स्नाविलुप्ततमोनिवहे।
अभिसारिकाणां विघ्नं करोष्यन्यासामपि हताशे॥[1]

आचार्य विश्वेश्वर ने इस श्लोक की तीन व्याख्याएं की हैं और प्रथम दो को अनुचित कहकर तृतीय को ही उचित माना है--ये व्याख्याएं इस प्रकार हैं[2]--

(क) नायिका, नायक के घर आई है, परन्तु नायक के गोत्रस्खलन आदि अपराध से क्रुद्ध होकर लौट जाना चाहती है, तब नायक ने उसके प्रति यह चाटूक्ति कही है। `प्रार्थना करता हूं, मान जाओ, लौट आओ। अपने चन्द्रमुख की ज्योत्स्ना से गाढ अन्धकार का नाश करके अरी हताशे! तुम अन्य अभिसारिकाओं का भी विघ्न कर रही हो।` इस व्याख्या में प्रतीयमान अर्थ वल्लभा के प्रति चाटु विशेष है।

(ख) द्वितीय व्याख्या के अनुसार यह सखी की उक्ति है, नायिका मना करने पर भी अभिसार के लिये गमन करना चाह रही है, तब सखी कहती है `शीघ्रता करके अनादर का पात्र बनने वाली हे हताशे, तुम न केवल अपने मनोरथ में स्वयं विघ्न कर रही हो वरन् अपने मुखचन्द्र की ज्योत्स्ना से अन्य अभिसारिकाओं के कार्य में भी विघ्न कर रही हो। इसमें सखी

---

१. ध्वन्यालोक, आ. वि., पृ.१६
२. वही

का चाटुरूप अभिप्राय व्यंग्यार्थ है ।

इन दोनों व्याख्याओं का दोष --

सखीपक्ष में नायिका विषयक रतिरूप भाव व्यंग्य है, (अर्थात् सखी नायिका का भला चाहती है, यह उसपर अनुराग के कारण ही, अतः सखी का अनुराग व्यंग्य है ।) और यह व्यंग्य `दूसरों का भी विघ्न करेगी, लौट आओ` आदि इस वाच्यार्थ का अंग बन जाता है । इस प्रकार यह श्लोक गुणीभूत व्यंग्य का उदाहरण बन जाता है, क्योंकि भाव, वाच्यार्थ का अंग बन रहा है ।

प्रथम व्याख्या के अनुसार नायक की उक्ति मानने पर नायकगत रति वाच्यार्थ का अंग बन जाती है, तब भी यह ध्वनि का उदाहरण नहीं रहेगा । अतः उपर्युक्त दोनों ही व्याख्याओं में यह गुणीभूतव्यंग्य का उदाहरण बन जाता है, इसलिये ये व्याख्याएं उचित नहीं हैं ।

(ग) तृतीय व्याख्या के अनुसार-- नायिका, नायक के घर की ओर जारही है, नायक रास्ते में नायिका के घर की ओर जाता हुआ मिल जाता है । अतः वह कहता है `लौट चलो` यह वाच्यार्थ है । परन्तु `मेरे घर चलो`, `तुम्हारे घर चलें` आदि व्यंग्य है, और व्यंग्य न विधिरूप है न निषेधरूप लेकिन वाच्यार्थ तो प्रतिषेधरूप है ।

१.१० <u>वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ के विषयगत भेद का प्रतिपादन</u> --वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में आचार्य आनन्दवर्धन ने विषयगत भेद भी बतलाया है । विषयगत भेद का अर्थ यह है कि वाच्यार्थ किसी के प्रति हो और व्यंग्यार्थ किसी और के प्रति । जैसे--निम्नलिखित श्लोक में --

कस्य वा न भवति रोषो दृष्ट्वा प्रियायाः सव्रणमधरम् ।
सभ्रमरपद्माघ्रायिणि वारितवामे सहस्वेदानीम् ।।[१]

सखी का कथन है, इसमें वाच्यार्थ है `अपनी प्रिया के सव्रण अधर को देखकर किसे रोष न होगा, मना करने पर भी भ्रमरसहित पद्म

---

१. ध्वन्यालोक-- आ. वि. पृ. १७

को सूंघने वाली, अब सही ।` इसका विषय है, नायिका। वस्तुत: नायिका के अधर पर परपुरुषोपभोगजनित व्रण है । सखी जानती है कि नायिका का पति इस व्रण को देखकर रुष्ट होगा, अत: इधर उधर ही कहीं श्रवण-परिधि में उपस्थित पति को जानकर भी उसकी उपस्थिति से अनभिज्ञ सी बनती हुई कह रही है कि पति समझ ले कि व्रण परपुरुषोपभोगजनित नहीं है, भ्रमरजनित है । इस व्यंग्यार्थ का विषय पति है । अत: वाच्यार्थ का विषय नायिका और व्यंग्यार्थ का विषय पति होने से वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में विषयगत भेद भी सिद्ध होता है । इस प्रकार वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ की भिन्नता के अन्य रूप भी हो सकते हैं । अत: वाच्यार्थ तक ही काव्य नहीं है , उसके अतिरिक्त भी अर्थ होता है, यह सिद्ध हुआ । इस अर्थ को व्यंग्यार्थ कहते हैं और यह व्यंजना द्वारा प्रतीत्य है ।

१.११ रसादि की व्यंग्यता - रसादि रूप ध्वनि वाच्य के सामर्थ्य से तो आक्षिप्त होती है, परन्तु शब्द का साक्षात व्यापार न होने से वाच्यार्थ से भिन्न ही है । क्योंकि यदि वह वाच्य है तो यह वाच्यता दो ही प्रकार से हो सकती है -

(१) स्वशब्द से (अर्थात् `रस` शब्द का प्रयोग करें या शृंगारादि शब्द का प्रयोग करें और रस की प्रतीति हो तब उसे वाच्य कहा जा सकता है)। वाच्यत्वं तस्य स्वशब्दनिवेदितत्वेन वा स्यात् । अथवा -

(२) विभावादि प्रतिपादन द्वारा (विभावादिप्रतिपादनमुखेन)

यदि प्रथम पक्ष स्वीकार करें कि रस अथवा शृंगारादि के शब्दों से रस प्रतीति होती है तो `रस` अथवा `शृंगारादि` शब्दों का जहां प्रयोग नहीं हुआ है, वहां रस की प्रतीति नहीं होनी चाहिए ।[1] परन्तु सर्वत्र रसों का स्वशब्दनिवेदितत्व नहीं होता ।[2] जहां कहीं `रस` अथवा शृंगारादि शब्दों का प्रयोग होता भी है वहां भी विशिष्ट विभावादि के प्रतिपादन द्वारा

---

१. पूर्वस्मिन् पक्षे स्वशब्दनिवेदितत्वाभावे रसादीनामप्रतीतिप्रसंग: । पृ.१८
२. न च सर्वत्र तेषां स्वशब्दनिवेदितत्वम्... ... ... ,,

ही रस की प्रतीति होती है।[1] `रस` अथवा `शृंगारादि` शब्दों के प्रयोग से वह प्रतीति अनूदित मात्र होती है।[2] उन शब्दों से वह प्रतीति नहीं होती (नतु तत्कृता)। केवल `रस` अथवा शृंगारादि शब्दों से युक्त (शृंगारादि-शब्दमात्रभाजि) और विभावादि के प्रतिपादन से रहित (विभावादिप्रतिपादनरहिते) काव्य में थोड़ी सी भी रस प्रतीति नहीं होती। लेकिन जहाँ स्वशब्द से (रसादि शब्द से) अभिधान न भी हो, पर विभावादि का प्रतिपादन हो, रस की प्रतीति होती है।[3] केवल स्वशब्द के अभिधान से तो अप्रतीति ही सिद्ध होती है। रस तो वाच्य के सामर्थ्य से आक्षिप्त व्यंग्य ही होता है, स्वयं वाच्य नहीं। अत: व्यंग्यार्थ का अस्तित्व तो मानना ही होगा। अभाववादियों का द्वितीय विकल्प था कि, प्रसिद्ध मार्ग से भिन्न में काव्य मानने से काव्यत्व की हानि है।[4] इसका उत्तर देते हुए आचार्य आनंदवर्धन कहते हैं, `यह कथन युक्ति-युक्त नहीं है। क्योंकि लक्षण बनाने वालों को वह ज्ञात नहीं हुआ, इसलिए वे लक्षण न कर सके, अन्यथा लक्ष्य ग्रन्थों (रामायणादि) की परीक्षा करने पर तो वह `ध्वनि` ही सहृदयों के हृदय को आह्लादित करने वाला तत्व सिद्ध होता है।[5] इससे भिन्न, अर्थात् जिसमें ध्वनि नहीं है, वह चित्रकाव्य ही है।`

१.१२ अलंकारादि में ध्वनि के अंतर्भाव का निषेध -- अभाववादियों का तृतीय विकल्प था, `यदि ध्वनि रमणीयता का अतिक्रमण नहीं करती तो पूर्वोक्त चारुत्व हेतुओं-अलंकारादि-में ही उसका अंतर्भाव हो जायगा।`[6]

---

१. यत्राप्यस्ति तत् तत्राविशिष्टविभावादिप्रतिपादनमुखेनैवैषां प्रतीति: ।पृ.१८
२. स्वशब्देन सा केवलमनूद्यते । ... ... ,,
३. यतश्च स्वाभिधानमन्तरेण केवलेभ्योऽपि विभावादिभ्यो विशिष्टेभ्यो रसादीनां प्रतीति: पृ.१८
४. प्रसिद्धप्रस्थानातिरेकिणो मार्गस्य काव्यत्वहानेर्ध्वनिर्नास्ति ध्व.वि.पृ.१८
५. लक्ष्ये तु परीक्ष्यमाणे स एव सहृदयाह्लादकारि काव्यतत्वम्.... ,,
६. कामनीयकमनतिवर्तमानस्य तस्योक्तालंकारादिप्रकारेष्वन्तर्भाव: ... ,,

आनंदवर्धन इस युक्ति को भी असमीचीन मानते हैं (तदप्यसमीचीनम्) । क्योंकि वाच्य-वाचक भाव पर समाश्रित मार्ग (अलंकारादि) में व्यंग्य-व्यंजकभाव समाश्रित ध्वनि का अंतर्भाव कैसे हो सकता है ?[१] वाच्य-वाचक के चारुत्वहेतु (अलंकारादि) तो इस ध्वनि के अंग हैं । ध्वनि अंगी रूप है ।

अलंकारादि-वाच्य-वाचक पर ही आश्रित हैं, परन्तु जैसा कि पूर्व पृष्ठों में सिद्ध किया गया है, व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ से भिन्न है, तथा उसकी प्रतीति व्यंजना से ही होती है । अत: व्यंजक और व्यंग्य में 'व्यंजकत्व' व्यापार होता है । इसलिए 'ध्वनि' व्यंग्य व्यंजक भाव पर आश्रित है । अत: अलंकारादि चारुत्व हेतुओं में ध्वनि का अंतर्भाव नहीं हो सकता । इस संबंध में आनंदवर्धन द्वारा उद्धृत परिकर श्लोक यह है --

व्यंग्यव्यंजकसम्बन्धनिबन्धनतया ध्वने: ।

वाच्यवाचकचारुत्वहेत्वन्त:पातिता कुत: ।।[२]

(ध्वनि के व्यंग्य-व्यंजक संबंध पर आधारित होने के कारण, वाच्यवाचकभाव पर आश्रित चारुत्व हेतुओं में अन्तर्भाव कहां ।)

परन्तु , अलंकारादि में ध्वनि का अन्तर्भाव करनेवालों का कथन है कि जहां प्रतीयमान अर्थ की विशदता से प्रतीति नहीं होती वहां भले ही ध्वनि का विषय न मानें पर जहां विशदतापूर्वक प्रतीति है, जैसे समासोक्ति आक्षेप, अनुक्त निमित्त, विशेषोक्ति, पर्यायोक्ति अपह्नुति, दीपक, संकर आदि अलंकारों में तो प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति होती है, वहां तो ध्वनि का चारुत्वहेतु अलंकारों में अन्तर्भाव माना ही जा सकेगा ।[३]

यत्रार्थ: शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ ।

व्यंक्त: काव्यविशेष: स ध्वनिरिति सूरिभि: कथित: ।।[४]

अर्थात् जहां अर्थ स्वयं को अथवा शब्द अपने अर्थ को गुणीभूत कर अर्थान्तर की अभिव्यक्ति करते हैं वहां ध्वनि है ।[५] इसका आशय है कि प्रतीयमान

---

१. 'वाच्यवाचकमात्राश्रयिणि प्रस्थाने व्यंग्यव्यंजकसमाश्रयेण व्यवस्थितस्य ध्वने: कथमन्तर्भाव:' २ ध्व. प.

२. ध्वन्यालोक पृ. ३८

३. ननु यत्र प्रतीयमानार्थस्य वैशद्येनाप्रतीति: स नाम माभूद् ध्वनेर्विषय: । यत्र तु प्रतीतिरस्ति यथा समासोक्त्याक्षेपानुक्तनिमित्तविशेषोक्तिपर्यायोक्तापह्नुतिदीपकसंकरालंकारादौ तत्र ध्वनेरन्तर्भावो भविष्यति ।' ... .. पृ. ३६

४. ध्वन्यालोक पृ. ३७

अर्थ की प्रतीति ही प्रमुख हो शब्द का अभिधेय गौण हो, अथवा वाच्यार्थ गौण होकर विशदतापूर्वक व्यंग्यार्थ की प्रतीति कराये तब ध्वनि कही जा सकती है। अरिकथित अलंकारों में अर्थान्तर की प्रतीति तो होती है परन्तु वाच्यार्थ गुणीभूत नहीं होता, अथवा कहें कि अर्थान्तर प्रमुख नहीं होता। इसलिये इन अलंकारों में, ध्वनि का अंतर्भाव भी नहीं हो सकता। पहले कहे गये सभी अलंकारों के उदाहरण देकर आनंदवर्धन ने इस तथ्य को प्रमाणित किया है कि व्यंग्यार्थ की प्रधानता में ही ध्वनि है,[1] समासोक्ति आदि में व्यंग्य की प्रधानता नहीं होती। इस दृष्टि से समासोक्ति अलंकार का निम्नलिखित उदाहरण परीक्षणीय है --

> `उपोढरागेण विलोलतारकं तथा गृहीतं शशिना निशामुखम्।
> यथा समस्तं तिमिरांशुकं तथा पुरोऽपि रागाद् गलितं न लक्षितम्।।[2]

राग को धारण किये हुए (उपोढरागेण) चंद्रमा के द्वारा (शशिना) चंचलतारों वाले (विलोलतारकं) रात्रि के मुख को (निशामुखम्) इस प्रकार ग्रहण किया गया कि अनुराग के कारण (रागाद्) समस्त अंधकाररूपी वस्त्र गिर जाने पर भी रात्रि को ज्ञात न हुआ (गलितं न लक्षितम्) `नायक-नायिका पक्ष में इसका अर्थ होगा, `नायक ने अनुराग से पूर्ण होकर नायिका के चंचल पुतलियों वाले मुख को पकड़ लिया। स्पर्शजनित सुख के कारण वह नायिका ऐसी अवश हो गई कि उसे अपने वस्त्र का गिर जाना भी ज्ञात न हो सका।` समासोक्ति अलंकार में समान विशेषणों से अन्य अर्थ की प्रतीति होती है।[3] आचार्य मम्मट के अनुसार `श्लेषयुक्त विशेषणों द्वारा अप्रकृत का कथन, दो अर्थों का संक्षेप में कथन होने से समासोक्ति अलंकार कहलाता है।` उपर्युक्त उद्धरण में `उपोढरागेण` `विलोलतारकं` `रागाद् गलितम्` आदि श्लिष्ट विशेषणों द्वारा, `रात्रि` और `नायिका विषयक` दो अर्थों की प्रतीति हो रही है। नायक-नायिका विषयक अर्थ अप्रकृत अर्थ है। अलंकारों में ध्वनि

---

१. व्यंग्यप्राधान्ये हि ध्वनिः। न चैतत् समासोक्त्यादिषु।

२. ध्वन्यालोक--आ. वि. पृ. ३६.

३. परोक्तिर्भेदकैः श्लिष्टैः समासोक्तिः। प्रकृतार्थप्रतिपादकवाक्येन श्लिष्ट-विशेषणमाहात्म्यात् न तु विशेष्यस्य सामर्थ्यादपि, यत् अप्राकृतस्यार्थस्याभिधानं सा समासेन संक्षेपेणार्थद्वयकथनात् समासोक्तिः। का.प्र. पृ. ४७४

का अन्तर्भाव करने वाले इसमें नायक-नायिका विषयक अर्थ को प्रतीयमान अर्थ कहकर चारुत्वहेतुओं में ध्वनि का अंतर्भाव सिद्ध करना चाहते हैं।

आनंदवर्धन का कथन है कि ----'उपोढ़रागेण...' आदि में नायिका परक व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो रही है। परन्तु, निशा और चन्द्र विषयक वाच्यार्थ ही यहां प्रमुख है। व्यंग्यार्थ, वाच्यार्थ का अंग बन रहा है।' व्यंग्यार्थ से अनुगत वाच्य की प्रधानतया प्रतीति होने से यहां ध्वनि नहीं हो सकती। [१]

अत: समासोक्ति अलंकार में व्यंग्यार्थ की प्रतीति होने पर भी, उसका प्राधान्य न होने से समासोक्ति में ध्वनि का अंतर्भाव नहीं माना जा सकता।

आक्षेप अलंकार में यद्यपि वाच्यार्थ व्यंग्यार्थ का आक्षेप कराता है, तथापि वाच्यार्थ का चारुत्व ही प्रधान होता है अत: व्यंग्यार्थ वहां भी प्रमुख नहीं होता। आक्षिप्त व्यंग्यार्थ की सामर्थ्य से ही वाच्यार्थ का ज्ञान होता है।[२] 'आक्षेप' की परिभाषा आचार्य मम्मट ने इस प्रकार कही है-- 'जो बात कहना चाहते हैं, उसमें विशेष उत्कर्ष प्रकट करने के लिए जो उसका निषेध किया जाय (१) वक्ष्यमाणविषयक (अर्थात् जो बात आगे कहनी है उसका) पहले से ही निषेध करके कहा जाय। अथवा (२) पूर्वकथित का निषेध करके कथन किया जाय।' वह आक्षेप दो प्रकार का होता है। [३]
आक्षेप अलंकार का उदाहरण है --

अनुरागवती संध्या दिवसस्तत्पुर:सर:।
अहो दैवगति: कीदृक् तथापि न समागम:।। [४]

अनुराग से पूर्ण सन्ध्या भी है, दिवस भी उसके आगे बढ़ रहा है, पर कैसी दैवगति है कि तब भी समागम नहीं होता। नायिका-नायक पक्ष में अर्थ होगा--अनुराग से पूर्ण नायिका है, नायक भी उसके समक्ष है तबविलक्षण दैव की गति के कारण मिलना नहीं हो पाता। यहां सन्ध्या विषयक अर्थ

---

१. इत्यादौ व्यंग्यानुगतं वाच्यमेव प्राधान्येन प्रतीयते। समारोपितनायिका-नायकव्यवहारयोर्निशाशशिनोरेव वाक्यार्थत्वात्। पृ. ४०
२. आक्षेपे पि व्यंग्यविशेषाक्षेपिणो पि वाच्यस्यैव चारुत्वं, प्राधान्येन वाक्यार्थाक्षेपोक्तिसामर्थ्यादेव ज्ञायते। .... ध्व० पृ.४२
३. निषेधो वक्तुमिष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया।
४. ध्वन्यालोक--आ. वि. पृ.४२

वाच्यार्थ है और नायिका विषयक व्यंग्यार्थ, परन्तु इस व्यंग्यार्थ के आक्षेप से ही संध्याविषयक वाच्यार्थ का चारुत्व बढ़ता है और वाच्यार्थ ही सुन्दर लगता है। आचार्य आनंदवर्धन के शब्दों में -- यहाँ व्यंग्य की प्रतीति होने पर भी वाच्य का ही चारुत्व है, उस (वाच्य) की ही प्राधान्येन विवक्षा है।[१]

दीपक और अपह्नुति अलंकार में उपमा की व्यंग्य रूप में प्रतीति होती है। पर वहाँ भी वह व्यंग्य उपमा प्राधान्येन विवक्षित नहीं होती। यदि व्यंग्य उपमा का ही प्राधान्य विवक्षित होता तो उसे उपमा अलंकार ही क्यों न कहते ? उपमाकृत चारुत्वोत्कर्ष न होने से ही वहाँ 'उपमा' नाम से व्यवहार नहीं होता।[२] अत: दीपक और अपह्नुति में भी ध्वनि का अंतर्भाव नहीं हो सकता। दीपक अलंकार में उपमेय और उपमान के क्रियादिरूप धर्म का एक ही बार कथन किया जाता है। बहुत सी क्रियाओं के एक ही कारक का कथन भी दीपक ही है।[३] जैसे --

कृपणानां धनं नागानां फणमणि: केसरा: सिंहानाम्।
कुलबालिकानां स्तना: कुत: स्पृश्यन्तेऽमृतानाम् ।।

कृपणों के धन, नाग की मणि, सिंह की अयाल और कुलस्त्रियों के स्तनों को उनके मरे बिना कैसे स्पर्श किया जा सकता है। इसमें 'कुलबालिकानां स्तना:' उपमेय है, शेष, 'कृपणानां धनं' आदि उपमान। 'स्पृश्यन्ते' इस क्रिया द्वारा समान धर्म का कथन है। उपमा व्यंग्य है। परन्तु, व्यंग्य उपमा का प्राधान्य नहीं है। 'दीपक' इस अन्य नाम से कहा जाना ही, 'व्यंग्य उपमा' के अप्राधान्य का प्रमाण है।

अपह्नुति में उपमेय का निषेध करके उपमान का कथन किया जाता है।[४] जैसे ---

---

१. अत्र सत्यामपि व्यंग्यप्रतीतौ वाच्यस्यैव चारुत्वमुत्कर्षवदिति तस्यैव प्राधान्यविवक्षा।

२. यथा च दीपकापह्नुत्यादौ व्यंग्यत्वेनोपमाया: प्रतीतावपि प्राधान्ये-नाविवक्षितत्वान्न तथा व्यपदेशस्तद्वदत्रापि द्रष्टव्यम्.. ध्व.आ.वि.पृ.४३

३. सकृद्वृत्तिस्तु धर्मस्य प्रकृताप्रकृतात्मनाम्।
सैव क्रियासु बह्वीषु कारकस्येति दीपकम् ।। का.प्र.प्रा वि.पृ.४८७

४. प्रकृतं यन्निषिध्यान्यत्साध्यते सा त्वपह्नुति.... ,, ४७०

अवाप्त: प्रागल्भ्यं परिणतरुच: शैलतनये ,
कलंको नैवायं विलसति शशांकस्य वपुषि ।
अमुष्येयं मन्ये विगलदमृतस्यन्दशिशिरे ।
रतिश्रान्ता शेते रजनिरमणी गाढमुरसि ।।

हे पार्वती (शैलतनये ।) परिपूर्ण (परिणतरुच:) चन्द्रमा के शरीर (शशांकस्य वपुषि) में प्रगल्भताप्राप्त यह कलंक नहीं है, वरन् रति से थकी हुई रात्रि चन्द्रमा के अमृत प्रवाह के कारण शीतल वक्ष पर सिर रखकर लेटी है । यहां उपमेय `चंद्र पर कलंक` का निषेध कर उपमान का कथन किया गया है । उपमानोपमेय भाव अर्थात् उपमा व्यंग्य है । परन्तु उसका प्राधान्य नहीं है । अत: दीपक अपह्नुति आदि में ध्वनि का अंतर्भाव नहीं हो सकता ।

अनुक्तनिमित्ता विशेषोक्ति में प्रकरणवश व्यंग्य की प्रतीति मात्र होती है, वह प्रतीति किसी सौन्दर्य अथवा चमत्कार को उत्पन्न नहीं करती, अत: उसका प्राधान्य नहीं होता ।[१] विशेषोक्ति में अखण्ड कारणों का सद्भाव होने पर भी कार्य नहीं होता ।[२] यह विशेषोक्ति तीन प्रकार की होती है --(१) अनुक्तनिमित्ता (२) उक्तनिमित्ता तथा (३) अचिन्त्यनिमित्ता । उक्तनिमित्ता में और अचिन्त्यनिमित्ता भेदों में व्यंग्यार्थ का अवसर ही नहीं होता । अत: आचार्य आनंदवर्धन ने अनुक्तनिमित्ता विशेषोक्ति का उदाहरण दिया है क्योंकि इसी में व्यंग्यार्थ का अवसर है । अनुक्तनिमित्ता में निमित्त का कथन नहीं होता, परन्तु वह अचिन्त्य भी नहीं होता, उसकी कल्पना की ही जा सकती है । जैसे इस उदाहरण में --

आहूतोऽपि सहायैरोमित्युक्त्वा विमुक्तनिद्रोऽपि ।
गन्तुमना अपि पथिक: संकोचं नैव शिथिलयति ।।

---

१. अनुक्तनिमित्तायामपि विशेषोक्तौ ... इत्यादौ व्यंग्यस्य प्रकरणसामर्थ्यात् प्रतीतिमात्रम् । न तु तत्प्रतीतिनिमित्ता काचिच्चारुत्वनिष्पत्तिरिति न प्राधान्यम् । पृ.४४

२. विशेषोक्तिरखण्डेषु कारणेषु फलावच:-काव्य प्र०आ०वि० पृ.४६८ अनुक्त-निमित्ता `उक्तनिमित्ता` `अचिन्त्यनिमित्ता च

`साथियों के द्वारा पुकारे जाने पर भी (आहूतोऽपि सहायैः) हां कहकर जाग जाने पर भी (ओमित्युक्त्वा विमुक्त निद्रोऽपि) जाने की इच्छा होने पर भी (गन्तुमना अपि) पथिक संकोच नहीं छोड़ता (पथिकः संकोचं नैव शिथिलयति) यहां पथिक के संकोच न छोड़ने के निमित्त की कल्पना की जा सकती है। भट्ट उद्भट ने शीताधिक्य को, अन्य प्रियादर्शन कराने वाले स्वप्नलोभ को निमित्त मानते हैं। यह निमित्त ही यहां व्यंग्य है। परन्तु इसमें कोई चमत्कार नहीं है। अत: विशेषोक्ति में भी ध्वनि का अंतर्भाव नहीं हो सकता।

पर्यायोक्ति में, अलंकार में यदि व्यंग्यार्थ की प्राधान्येन प्रतीति हो तो पर्यायोक्ति का अंतर्भाव ध्वनि में किया जा सकता है, परन्तु ध्वनि का पर्यायोक्ति में नहीं।[१] आचार्य मम्मट ने पर्यायोक्ति का लक्षण किया है --

`वाच्य-वाचक भाव बिना जो कथन करना वह पर्यायोक्ति अलंकार है।`[२] जैसे `भ्रम धार्मिक विस्रब्धः` आदि श्लोक में भ्रमण का निषेध, `वाच्य-वाचक भाव से प्रकट नहीं होता` वह व्यंग्य-व्यंजक भाव से व्यक्त होता है। अत: वहां कथन वाच्य-वाचक भाव बिना ही है।

और भामह ने जो पर्यायोक्ति को उदाहृत किया है, वहां तो व्यंग्य का प्राधान्य ही नहीं है। उस उदाहरण में वाच्य का उपसर्जनीभाव (गौणभाव) विवक्षित नहीं है, अर्थात् वाच्यार्थ ही प्रधान है। इसलिए `पर्यायोक्ति` में ध्वनि का अंतर्भाव कैसे हो सकता है। पुन: `ध्वनि` तो महाविषय है। वह तो अंगी के रूप में प्रतिपादित किया जायेगा।[३]

---

१. पर्यायोक्तेऽपि यदि प्राधान्येन व्यंग्यत्वं तद् भवतु नाम तस्य ध्वनावन्तर्भावः न तु ध्वनेस्तत्रान्तर्भावः। पृ.५६

२. काव्यप्रकाश. आ.वि. पृ. ५२१

३. तस्य महाविषयत्वेन अंगित्वेन च प्रतिपादयिष्यमाणत्वात्। पृ... ५६

अपहनुति और दीपक में वाच्यार्थ की प्रधानता और व्यंग्यार्थ की आनुषंगिकता (अनुयायित्व) प्रसिद्ध ही है। अत: उपर्युक्त अलंकारों में ध्वनि जैसे महाविषय का अन्तर्भाव नहीं कहा जा सकता।

संकर अलंकार में जहां एक अलंकार, दूसरे अलंकार की छाया को पुष्ट करता है, वहाँ भी व्यंग्य की प्राधान्येन विवक्षा न होने से, ध्वनि का विषय नहीं होता।[१] संकर अलंकार के चार भेद होते हैं--(१) अंगांगिभावसंकर, (२) एकवाक्यानुवर्तन संकर (३) एकवाक्यांशसमावेशरूप संकर (४) सन्देह संकर।

जहां अनेक अलंकार परस्पर उपकारक भाव से स्थित हों, स्वतंत्र भाव से स्थित न हों, वहाँ अंगांगिभाव संकर अलंकार होता है। जहां एक ही वाक्य अथवा वाक्यांश में शब्दालंकार तथा अर्थालंकार दोनों हो, वहां एकवाक्यानुवर्तन संकर अथवा एकवाक्यांशसमावेश संकर अलंकार क्रमश: होते हैं। विरुद्ध अलंकारों का वर्णन एक साथ होने पर, किसे प्रधान माना जाय और किसे गौण, यह निर्णय करना कठिन हो जाता है-- इस प्रकार की स्थिति में संदेह संकर अलंकार कहा जाता है। इस संदेह संकर के प्रसंग में आचार्य आनंदवर्धन ने कहा है कि 'अलंकार द्वय की संभावना के कारण, वाच्य और व्यंग्य का समान प्राधान्य होगा'[२] अत: एक के गुणीभूत और द्वितीय के प्रधान होने का प्रश्न ही नहीं होता, ऐसी स्थिति में संदेहसंकर में ध्वनि का अंतर्भाव संभव नहीं है। अंगांगिभाव संकर में, वाच्य यदि उपसर्जनीभाव से व्यंग्य के प्रति स्थित हो तो इस प्रकार के संकर को ध्वनि का विषय कहा जा सकता है। परन्तु वही एक ध्वनि है यह नहीं कहा जा सकता।[३]

पुन: यह भी ध्यातव्य है कि संकरालंकार में, संकर शब्द का प्रयोग ही ध्वनि की संभावना का निराकरण कर देता है। 'संकर' शब्द संकीर्णता का वाचक है। अत: किसी एक अलंकार की प्रधानता होने पर संकीर्णता ही नहीं

---

१. संकरालंकारेऽपि यदालंकारोऽलंकारान्तरच्छायामनुगृह्णाति तदा व्यंग्यस्य प्राधान्येनाविवक्षितत्वान्न ध्वनिविषयत्वम्।

२. 'अलंकारद्वयसम्भावनायान्तु वाच्यव्यंग्ययो: समं प्राधान्यम्'

३. अथ वाच्योपसर्जनीभावेन व्यंग्यस्य तत्रावस्थानं तदा सोऽपि ध्वनिविषयोऽस्तु, न तु स एव ध्वनिरिति वक्तुं शक्यम्।

रहेगी । इसलिए `संकर` शब्द का प्रयोग ही इस बात का सूचक है कि संकर अलंकार के सभी भेदों में कोई भी अलंकार प्रधान नहीं होता । अत: इसमें ध्वनि का प्रश्न नहीं उठता ।

अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार में भी ध्वनि का अंतर्भाव नहीं होता । अप्रस्तुत प्रशंसा में, अप्रस्तुत के वर्णन से प्रस्तुत का आक्षेप किया जाता है । आचार्य मम्मट ने अप्रस्तुत प्रशंसा की परिभाषा इस प्रकार दी है --

`प्रस्तुत अर्थ की प्रतीति कराने वाली अप्रस्तुत की प्रशंसा, अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार है ।`[१]

अप्रस्तुतप्रशंसा के तीन भेद हैं--(१) सामान्यविशेष भावमूलक,(२) कार्यकारण भावमूलक, (३) सादृश्यमूलक । प्रथम और द्वितीय के दो-दो भेद होकर चार तथा एक सादृश्यमूलक, इस प्रकार अप्रस्तुत प्रशंसा के पांच भेद हो जाते हैं । सामान्यविशेष भावमूलक में--सामान्य प्रस्तुत और विशेष अप्रस्तुत हो सकता है तथा इसका विपरीत भी, इसी प्रकार कार्यकारण भाव में कार्य प्रस्तुत हो तथा कारण अप्रस्तुत हो सकता है, और इसके विपरीत भी। इस प्रसंग में आचार्य आनंदवर्धन का कथन है कि `अप्रस्तुत प्रशंसा में `सामान्य विशेष भाव से अथवा निमित्तनिमित्त भाव से अभिधीयमान अप्रस्तुत का प्रतीयमान प्रस्तुत के साथ संबन्ध होता है, तब अभिधीयमान अप्रस्तुत और प्रतीयमान प्रस्तुत, ये दोनों समानरूपेण प्रधान होते हैं ।[२]

जब अभिधीयमान अप्रस्तुत सामान्य का प्रतीयमान प्रस्तुत (प्राकरणिक) विशेष के साथ सम्बन्ध होता है तो विशेष की प्रतीति होने पर भी उस विशेष से अविना भाव से सम्बन्धित सामान्य की भी उतनी ही प्रधानता से प्रतीति होती है । क्योंकि बिना विशेष के सामान्य नहीं रह सकता इसलिये विशेष के सामान्यनिष्ठ होने पर सामान्य के साथ विशेष की भी समान रूप

---

१. `अप्रस्तुतप्रशंसा या सा सैव प्रस्तुताश्रया` का.प्र.आ.वि. पृ.४७६

२. `अप्रस्तुतप्रशंसायामपि यदा सामान्यविशेषभावान्निमित्तनिमित्तभावाद्वाभिधीयमानस्याप्रस्तुतस्य प्रतीयमानेन प्रस्तुतेनाभिसम्बन्धस्तदा अभिधीयमानप्रतीयमानयो: सममेव प्राधान्यम्` ।

से प्रतीति होती है।[१] सामान्य में क्योंकि सभी विशेषों का अन्तर्भाव होता ही है। इसी प्रकार कार्यकारण रूप अप्रस्तुतप्रशंसा में भी है, वहां अप्रस्तुत अभिधीयमान कार्य के साथ प्रतीयमान प्रस्तुत कारण और अभिधीयमान अप्रस्तुत कारण के साथ प्रतीयमान प्रस्तुत कार्य की भी समान रूप से प्रतीति होती है। अत: प्रधानता और गौणता का प्रश्न अप्रस्तुतप्रशंसा में भी नहीं है।

सादृश्यमूलक अप्रस्तुत प्रशंसा में जहां अप्रकृत और प्रकृत का सम्बन्ध होता है, वहां अभिधीयमान अप्रस्तुत तुल्य पदार्थ का (सरूपस्य) प्राधान्य विवक्षित न होने पर (अर्थात् अभिधीयमान अप्रस्तुत तुल्य परार्थ के गौण होने पर) इसका ध्वनि में अंतर्भाव हो सकेगा (प्रधान्येनाविवक्षायां ध्वनावेवान्त: पात:)। जब यह गौण नहीं होगा तथा प्रस्तुत के साथ समान रूप से विवक्षित होगा, तब अलंकार ही होगा।[२]

व्यंग्यस्य यत्राप्राधान्यं वाच्यमात्रानुयायिन:।
समासोक्त्यादयस्तत्र वाच्यालंकृतय: स्फुटा:।।

जहां व्यंग्य का अप्राधान्य होता है, वह वाच्य का अनुयायी मात्र होता है, वहां समासोक्ति आदि वाच्यालंकार स्पष्ट ही है।

व्यंग्यस्य प्रतिमामात्रे वाच्यार्थानुगमेऽपि वा।
न ध्वनिर्यत्र वा तस्य प्राधान्यं न प्रतीयते।।

जहां व्यंग्य का आभास मात्र (प्रतिमामात्र) हो, अथवा वह वाच्यार्थ का अनुगमन करता हो (वाच्यार्थ की पुष्टि करता हो) अथवा उसकी प्रधानता प्रतीत न होती हो, वहां भी ध्वनि नहीं है।

तत्परावेव शब्दार्थौ यत्र व्यंग्यं प्रति स्थितौ।
ध्वने: स एव विषयो मन्तव्य: संकरोज्झित:।।

---

१. यदा तावत् सामान्यस्याप्रस्तुतस्य अभिधीयमानस्य प्राकरणिकेन विशेषेण प्रतीयमानेन सम्बन्धस्तदा विशेषप्रतीतौ सत्यामपि प्राधान्येन तत्सामान्येनाविनाभावात् सामान्यस्यापि प्राधान्यम्। यदापि विशेषस्य सामान्य निष्ठत्वं तदापि सामान्यस्य प्राधान्ये, सामान्ये सर्वविशेषाणामन्तर्भावाद् विशेषस्यापि प्राधान्यम्.....ध्व० पृ.५१

२. इतरथा त्वलंकारान्तरमेव...... पृ.५१

शब्द-अर्थ (शब्दार्थौ) जहां व्यंग्यनिष्ठ हों, व्यंग्य के प्रति तत्पर हों (तत्परावेव) वहीं ध्वनि का संकर रहित विषय समझना चाहिये। अत: चारुत्वहेतुओं अलंकारादि में ध्वनि का समावेश नहीं हो सकता। व्यंग्य का जिसमें प्राधान्य हो उस काव्य विशेष को ध्वनि कहा है। अलंकार, गुण, वृत्ति आदि उसके अंग रूप में ही प्रतिपादित किये जाएंगे। और पृथक-पृथक (पृथग्भूतो) अवयवों को ही अवयवी नहीं कहा जाता, समन्वित रूप में तो अवयव, अवयवी के अंग ही कहे जाते हैं, स्वयं अंगी नहीं। ध्वनि के महाविषय होने से अलंकारादि में उनका अंतर्भाव नहीं होता।[1] इस प्रकार आचार्य आनंदवर्धन ने अभाववादियों की तृतीय उक्ति का उत्तर दिया। यह सिद्ध हुआ कि व्यंग्यार्थ की स्वतंत्र सत्ता है। उसका अन्तर्भाव कहीं नहीं हो सकता और जहां व्यंग्यार्थ की प्रधानता हो वही ध्वनि का विषय है, अन्यत्र नहीं।

पुन: आचार्य आनन्दवर्धन द्वारा संस्तुत ध्वनि सिद्धान्त, यों ही कह दिया गया सिद्धान्त नहीं है वरन् पहले भी विद्वान इसका संकेत कर चुके हैं। सर्वप्रथम विद्वान् वैयाकरण हैं, क्योंकि व्याकरण ही समस्त विद्याओं का मूल है। वैयाकरण श्रूयमाण वर्णों में 'ध्वनि' का व्यवहार करते हैं।[2] वैयाकरणों के मत का अनुसरण करने वाले काव्य तत्व के ज्ञाता विद्वान इसीलिए (१) वाच्य, (२) वाचक, (३) व्यंग्यार्थ, (४) व्यंजना व्यापार और (५) काव्य पद में ध्वनि का व्यपदेश करते हैं अत: ध्वनि सिद्धान्त का आधार व्याकरण है। इसलिए इसे यों ही कहा हुआ ह कथन मात्र नहीं समझ लेना चाहिए।

---

१. यत: काव्यविशेषोऽङ्गी ध्वनिरिति कथित:। तस्य पुनरंगानि, अलंकारा गुणा वृत्तयश्चेति प्रतिपादयिष्यन्ते। न चावयव एव पृथग्भूतोऽवयवीति प्रसिद्ध:। अपृथग्भावे तु तदंगत्वं तस्य। ध्वनेर्महाविषयत्वान्न तन्निष्ठत्वमेव। पृ. ५२ ध्व. आ. वि.

२. प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणा, व्याकरणमूलत्वात् सर्वविद्यानाम् ते च श्रूयमाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति।

इस प्रकार के स्वरूप वाली और आगे जिसके भेद-प्रभेदों का कथन किया गया है ऐसी ध्वनि का निरूपण , किसी अप्रसिद्ध अलंकार के प्रतिपादन तुल्य नहीं है ।[१] अत: ध्वनि के प्रतिपादन में जो उत्साह है, वह समुचित ही है । यह ध्वनिविरोधियों के उस कथन का उत्तर है जिसमें ध्वनिवादियों के ध्वनि के प्रति उत्साहातिरेक को अकारण कहा गया था ।

अत: `ध्वनि` के अभाव को मानने वालों की युक्तियों को निरस्त किया गया और व्यंग्यार्थ की अभिधेयार्थ से भिन्न सत्ता सिद्ध की गई । आचार्य आनंदवर्धन ने व्यंग्यार्थ की दृष्टि से और व्यंजक की दृष्टि से भी व्यंजना व्यापार सिद्ध किया है । यहां व्यंग्यार्थ के स्तर पर सिद्धि का अवसर है । परन्तु, व्यंजक की दृष्टि से प्रतिपादन के पूर्व उन मतों का निराकरण भी आवश्यक है , जो व्यंग्यार्थ का लक्ष्यार्थ में और व्यंजना को लक्षणा में अंतर्भावित करना चाहते हैं ।

१.११ व्यंग्यार्थ के लक्ष्यार्थ में अन्तर्भाव का निषेध - भक्ति, `ध्वनि है, यह कथन अनुपयुक्त है । इसका समाधान इस प्रकार होगा । `भक्ति` `ध्वनि` से एकत्व प्राप्त नहीं करती, क्योंकि इस ध्वनि का स्वरूप ही भिन्न है--

`भक्त्या बिभर्ति नैकत्वं रूपभेदादयं ध्वनि:` वाच्यार्थ से भिन्न अर्थ (व्यंग्यार्थ) वाच्य-वाचक द्वारा जहां प्रधानता से तात्पर्यरूप में प्रकाशित होता है वहां ध्वनि होती है, और भक्ति तो उपचार मात्र है । भक्ति में ध्वनि का अन्तर्भाव करने वालों के तीन विकल्प हो सकते हैं --

(१) भक्ति और ध्वनि में अभेद ही है । इस शंका को निरस्त करते हुए आचार्य आनन्दवर्धन ने कहा है कि , `भक्ति` और ध्वनि में स्वरूप का भेद होने से इनमें एकत्व नहीं हो सकता, क्योंकि व्यंग्यार्थ का प्राधान्य होने पर ही ध्वनि होती है और जब शब्द मुख्यार्थ को छोड़ कर, उसी से सम्बन्धित अन्य अर्थ की प्रतीति कराता है, तब लक्षणा होती है,। इसलिये रूपभेद के कारण `भक्ति` और `ध्वनि` में एकत्व नहीं हो सकता ।

---

१. महाविषयस्त यत् प्रकाशनं तदप्रसिद्धालंकारविशेषमात्रप्रतिपादने तुल्यमिति

(२) द्वितीय विकल्प यह है कि भक्ति, `ध्वनि` का लक्षण हो। यह भी संभव नहीं है। भक्ति, ध्वनि का लक्षण नहीं हो सकती। यदि भक्ति को ध्वनि का लक्षण माना गया तो `अतिव्याप्ति` और अव्याप्ति` दोष होते हैं।[1]

अतिव्याप्तेरथाव्याप्तेर्न चासौ लक्ष्यते तया`

`अतिव्याप्ति और अव्याप्ति के कारण यह ध्वनि उससे (तथा, भक्ति) से लक्षित नहीं होती।`

अतिव्याप्ति वहां होती है जहां भिन्न विषय में भी लक्षण घटित होने लगे। ध्वनि से व्यतिरिक्त विषय में भी `भक्ति` होती है।[2] यदि ध्वनि का लक्षण भक्ति है तो जहां `भक्ति` है वहाँ ध्वनि भी होनी ही चाहिये परन्तु ऐसा नहीं है। ऐसे स्थलों पर भी, जहां ध्वनि नहीं है, `भक्ति` होती है। जहां व्यंग्यकृत महान सौष्ठव नहीं होता वहां भी कवि प्रसिद्धि के अनुरोध से अथवा उपचार या गौणी शब्दवृत्ति से व्यवहार करतेहैं। जैसे ---

परिम्लानं पीनस्तनजघनसंगादुभयत:,
स्तनोर्मध्यस्यान्त: परिमिलनमप्राप्य हरितम्।
इदं व्यस्तन्यासं श्लथभुजलताक्षेपवलनै:,
कृशांग्या: सन्तापं वदति बिसिनीपत्रशयनम्॥[3]

यह `रत्नावली` नाटिका से उद्धृत श्लोक है। सागरिका मदनशैय्या को छोड़ कर चली गई है। तदुपरान्त राजा और विदूषक, कुंज में प्रवेश करते है। राजा सागरिका द्वारा छोड़ी हुई शैय्या को देखकर विदूषक से कहता है कि यह `बिसिनीपत्रशयनम्` उस कृशांगी के सन्ताप को कहता है। पूर्ण श्लोक का अर्थ इस प्रकार है।

---

१. नैव भक्त्या ध्वनिर्लक्ष्यते। अतिव्याप्तेरव्याप्तेश्च।

२. तत्रातिव्याप्तिर्ध्वनिव्यतिरिक्ते पि विषये भक्तेः सम्भवात्।

३. ध्वन्यालोक आ. वि. पृ. ५६।

`(सागरिका के) पुष्ट स्तन और जघन प्रदेश के संग से यह कमलपत्र की शैय्या दोनों ओर से मलिन हो गई है, मुर्झा गई है। परन्तु कटिप्रदेश के भाग से स्पर्शित न होने के कारण (परिमिलनमप्राप्य) बीच का भाग हरा ही है। इसकी रचना (न्यासम्) श्लथ भुजाओं के इधर उधर फेंके जाने के कारण व्यस्त हो गई है। इस प्रकार की यह कमलपत्र की शैय्या उस कृशांगी के विरह संताप का कथन करती है।`

यहां `वदति` में लक्षणा है। परन्तु, यह ध्वनि का स्थल नहीं है। यदि लक्षणा को ध्वनि का लक्षण कहें तो यहां उसकी संगति कैसे होगी ? क्योंकि यहां भक्ति (लक्षणा) तो है ध्वनि नहीं। अतिव्याप्ति के अन्य उदाहरण निम्नलिखित हैं -

कुपिताः प्रसन्ना अवरुदितमुख्यो विहसन्त्यः ।
यथा गृहीतास्तथा हृदयं हरन्ति स्वैरिण्यो महिलाः ।।[१]

स्वैरिणी महिलाएं, कुपित, प्रसन्न अथवा रुदन से भी, हंसते हुए भी, सभी प्रकार चित्त का हरण कर लेती है। यहां `गृहीता, और `हरन्ति` में लक्षणा तो है पर ध्वनि यहां भी नहीं है। आचार्य आनन्दवर्धन ने `अतिव्याप्ति` के प्रसंग को स्पष्ट करने के लिये निम्नलिखित दो उदाहरण और दिये हैं --

(१) भार्यायाः प्रहारो नवलतया दत्तः प्रियेण स्तनपृष्ठे ।[२]
मृदुकोऽपि दुस्सह इव जातो हृदये सपत्नीनाम् ।।

प्रिय के द्वारा (प्रियेण) नवीना (नवलतया) भार्या के (भार्यायाः) स्तनों पर दिया गया (दत्तः) मृदु प्रहार भी सपत्नियों के हृदय को दुस्सह होगया (दुस्सह इव जातो हृदये सपत्नीनाम्) इस श्लोक में दत्तः में लक्षणा है। किसी वस्तु पर से अपना अधिकार हटाकर अन्य के अधिकार में दे देने को दान कहते हैं प्रहार के साथ `दत्तः` अनुपयुक्त है इसलिये यहां `दत्तः` का लक्ष्यार्थ ही संगत होगा। परन्तु यहां भी ध्वनि का विषय नहीं है।

---

१. ध्वन्यालोक आ. वि . पृ. ६०
२. ध्वन्यालोक, आ. वि. पृ. ६०

(२) परार्थे यः पीडामनुभवति भंगेऽपि मधुरो,
यदीयः सर्वेषामिह खलु विकारोऽप्यभिमतः ।
न सम्प्राप्तो वृद्धिं यदि स भृशमक्षेत्रपतितः,
किमिक्षोर्दोषोऽसौ न नरगुणाया मरुभुवः ।।[१]

'जो दूसरों के लिये (परार्थे) पीडा का अनुभव करता है । (पीडामनुभवति), अपमानित होने पर भी (भंगेऽपि) मधुर रहता है (मधुरः) जिसका विकार, क्रोधादि (विकारोऽपि) भी सबको (सर्वेषाम्) अच्छा लगता है । (अभिमतः) । अनुचित स्थान में पड़कर (भृशमक्षेत्र पतितः) यदि वह वृद्धि नहीं पाता (वृद्धिं न सम्प्राप्तो) तो क्या यह इक्षु का दोष है, उस अगुण मरुभू का दोष नहीं ।'

यहां इक्षु (गन्ना) पक्ष में 'अनुभवति' क्रिया बाधितार्थ है, क्योंकि अनुभव तो चेतन का धर्म है, जड 'इक्षु' का नहीं--अतः 'अनुभवति' का लक्ष्यार्थ 'पीड्यमानत्व' लेना पड़ता है । इस प्रकार यहां लक्षणा (भक्ति) तो है, पर ध्वनि नहीं । इसलिए भक्ति (लक्षणा), 'ध्वनि' का लक्षण नहीं हो सकती, क्योंकि तब अतिव्याप्ति दोष होगा ।

'भक्ति को ध्वनि का लक्षण मानने पर अव्याप्ति दोष भी होगा । क्योंकि ध्वनि का एक भेद अभिधामूलक भी है, जिसे विवक्षितान्यपरवाच्य कहा जाता है । इसके भी अनेक भेद होते हैं । इसमें लक्षणा होती ही नहीं । अतः 'भक्ति' को ध्वनि का लक्षण मानने पर इस प्रकार के उदाहरणों में जहां ध्वनि तो है, भक्ति नहीं है, 'अव्याप्ति' दोष होगा । इसलिए 'अतिव्याप्ति' और 'अव्याप्ति' दोषों के कारण भक्ति ध्वनि का लक्षण नहीं हो सकती ।[२]

---

१. ध्वन्यालोक, आ. वि. पृ. ६१

२. अव्याप्तिरप्यस्य लक्षणस्य । नाहि ध्वनिप्रभेदो विवक्षितान्यपरवाच्य-लक्षणः अन्ये च बहवः प्रकाराः...... तस्माद् भक्तिरलक्षणम्... पृ. ६५

अन्य उक्ति से (उक्त्यन्तरेण) जो चारुत्व (चारुत्वम्) प्रकाशित करना (प्रकाशयन्) अशक्य होता है (अशक्यम्) उस चारुत्व का प्रकाशन करने वाला, व्यंजकत्व धारण करने वाला शब्द ही ध्वनि कहलाने का विषय है।

उक्त्यन्तरेणाशक्यं यत् तच्चारुत्वं प्रकाशयन् ।
शब्दो व्यंजकतां बिभ्रद् ध्वन्युक्तेर्विषयीभवेत् ।।[१]

इसका आशय हुआ, कि व्यंजक शब्द द्वारा जिस चारुत्व का निष्पादन होता है वह चारुत्व अन्य किसी उक्ति से संभव नहीं है। और ऐसे ही शब्द को ध्वनि कहा जा सकता है। ध्वनि सिद्धान्त में 'शब्द', अर्थ, व्यापार, काव्य आदि सबके लिए विभिन्न व्युत्पत्तियों का आश्रय लेकर 'ध्वनि' शब्द का प्रयोग किया गया है। यहां व्यंजक शब्द को 'ध्वनि कहने की युक्ति दी गई है।

आचार्य आनन्दवर्धन, अपने विषय से भिन्न अर्थ में रूढ़ हो गये शब्दों को भी ध्वनि का विषय नहीं मानते। 'लवण' से निष्पन्न 'लावण्य' शब्द है। लावण्य का अर्थ है लवणयुक्त, परन्तु 'लावण्य' शब्द इस अर्थ से भिन्न अर्थ (सौन्दर्यादि) में रूढ़ हो गया है। इस प्रकार के शब्दों में ध्वनि का विषयत्व नहीं है --

रूढा ये विषयेऽन्यत्र शब्दाः स्वविषयादपि ।
लावण्याद्याः प्रयुक्तास्ते न भवन्ति पदं ध्वनेः ।।[२]

(लावण्यादि शब्द अपने विषय से भिन्न विषय में रूढ़ होकर प्रयुक्त होते हैं, वे भी 'ध्वनि' पद के विषय नहीं हैं)

इस प्रकार के शब्दों में उपचरित गौणी वृत्ति (लक्षणा) तो है ही। इस प्रकार विषय में कहीं ध्वनि हो भी तो वह उस रूढ़ शब्द के कारण नहीं होती, वरन् उसका कारण अन्य ही होता है।

---

१. ध्वन्यालोक आ. वि. पृ. ६१
२. वही, पृ. ६२

इसके अतिरिक्त, लक्षणा में ध्वनि के अन्तर्भाव न होने के अन्य भी कारण हैं। जिस प्रयोजन का बोध कराने के लिये मुख्य अभिधा व्यापार को छोड़कर गुणवृत्ति का आश्रय लिया जाता है, उस प्रयोजन के प्रति 'शब्दस्खलद्‌गति' (बाधित) नहीं होता --

मुख्यां वृत्तिं परित्यज्य गुणवृत्त्यार्थदर्शनम्।
यदुद्दिश्य फलं, तत्र शब्दो नैव स्खलद्‌गति ।।[१]

इसका आशय यह है कि शब्द जब मुख्यार्थ में बाधित होता है, तब लक्षणा होती है। जैसे 'गंगायां घोषः' उदाहरण में 'गंगा प्रवाह में ग्राम की स्थिति 'असंभव होने से 'गंगा' शब्द का 'प्रवाह रूप' मुख्यार्थ बाधित है- या कहें 'गंगा' शब्द अपने मुख्यार्थ में 'स्खलद्‌गति' है। मुख्यार्थ में स्खलद्‌गति होने से ही वह तट रूप लक्ष्यार्थ का बोध कराता है। इस प्रयोग का प्रयोजन है, शैत्य पावनत्वादि की प्रतीति। परन्तु इस प्रयोजन के प्रति गंगा शब्द स्खलद्‌गति नहीं है। इस प्रयोजन की प्रतीति के लिये ही मुख्य वृत्ति को त्याग कर लक्षणा द्वारा अर्थ-दर्शन कराया गया है।

लक्षणा द्वारा अर्थ-प्रतीति में, मुख्यार्थबाध, तद्योग, रूढ़ि अथवा प्रयोजन होना अनिवार्य है। परन्तु व्यंग्यार्थ (प्रयोजन) के प्रति शब्द के अर्थ में बाध न होने से अथवा कहें कि प्रयोजन में शब्द के स्खलद्‌गति न होने से प्रयोजन की प्रतीति लक्षणा द्वारा नहीं हो सकती। अतः प्रयोजन तो व्यंग्य ही होगा। इस प्रकार व्यंजनागम्य व्यंग्यार्थ (प्रयोजन) और बाधितमुख्यार्थ से प्रतीत लक्ष्यार्थ का भेद और स्वरूप स्पष्ट होने से लक्ष्यार्थ अथवा लक्षणा में व्यंग्यार्थ अथवा व्यंजना का अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता। फिर भी यदि 'चारुत्वातिशयविशिष्ट अर्थ के प्रकाशनरूप प्रयोजन के सम्पादन में शब्द बाधितार्थ हो तब तो शब्द का प्रयोग ही दूषित होगा।'[२]

---

१. ध्वन्यालोक आ. वि. पृ. ६२

२. 'तत्र हि चारुत्वातिशयविशिष्टार्थप्रकाशनलक्षणे प्रयोजने कर्तव्ये यदि शब्दस्यामुख्यता तदा तस्य प्रयोगे दुष्टतैव स्यात।' पृ. ६२

इसलिये गुणवृत्ति तो वाच्य-वाचक मात्र पर आश्रित है। व्यंग्य-व्यंजक भाव पर आश्रित व्यंजना का यह लक्षण कैसे हो सकती है --

वाचकत्वाश्रयेणैव गुणवृत्तिर्व्यवस्थिता ।
व्यंजकत्वैकमूलस्य ध्वनेः स्याल्लक्षणं कथम् ।।[१]

(वाचक के आश्रय से गुणवृत्ति व्यवस्थित है, वह व्यंजकत्व पर आधारित ध्वनि का लक्षण कैसे हो सकती है।)

तब भक्ति, ध्वनि के किसी भेद का उपलक्षण तो हो सकती है यह 'भक्ति' में ध्वनि का अन्तर्भाव करने का तृतीय संभावित विकल्प है --

'कस्यचिद् ध्वनिभेदस्य सा तु स्यादुपलक्षणम्'[२]

भक्ति, वक्ष्यमाण ध्वनि के अनेक भेदों में से किसी विशेष भेद का उपलक्षण हो सकती है। तब भी सम्पूर्ण ध्वनि का उपलक्षण तो नहीं होगी। यदि दुर्जनतोष न्याय से यह मानें कि 'भक्ति' (लक्षणा) से ध्वनि लक्षित हो सकती है। तब तो अभिधा व्यापार द्वारा ही समस्त अलंकार वर्ग भी लक्षित हो सकती है ऐसी स्थिति में पृथक् पृथक् अलंकारों का लक्षण करने की आवश्यकता ही क्या है।[३]

यदि मानें कि पहले ही ध्वनि का लक्षण कर दिया गया है, तो इससे ध्वनि का ही पक्ष सिद्ध होता है --

लक्षणेऽन्यैः कृते चास्य पक्षसंसिद्धिरेव नः ।[४]

---

१. ध्वन्यालोक पृ. ६५

२. ध्वन्यालोक, आ. वि. पृ. ६७

३. सा पुनर्भक्तिर्वक्ष्यमाणप्रभेदमध्यादन्यतमस्य भेदस्य यदि नामोपलक्षणतया सम्भाव्येत। यदि च गुणवृत्त्य व ध्वनिर्लक्ष्यत इत्युच्ते तदाभिधाव्यापारेण तदितरोऽलंकारवर्गः समग्र एव लक्ष्यते इति प्रत्येकमलंकाराणां लक्षणकरणवैयर्थ्य प्रसंग........ पृ ६७

४. ध्व. आ. वि., पृ. ६७

क्योंकि `ध्वनि` का लक्षण पहले ही किया गया है, इससे सिद्ध होता है कि ध्वनि है। और `ध्वनि` है `यह तो हमारा (ध्वनिवादियों) मत है ही। वह हमारा मत पहले से ही सिद्ध है अतः हम तो बिना प्रयत्न ही सफल हो गये।`[१]

१.१४ ध्वनि की अनाख्येयता का निवारण - ध्वनि विरोधियों का अंतिम विकल्प है, ध्वनि के गिरागोचर होने का। ऐसे लोगों को आचार्य आनन्दवर्धन का उत्तर है कि --

`सहृदयों के हृदयों को आनन्द देने वाली ध्वनि अवर्णनीय (अनाख्येय) है--यह कथन भी परीक्षा करके कहा हुआ नहीं है।` क्योंकि उपर्युक्त रीति से ध्वनि के सामान्य और विशेष लक्षण कर दिये जाने पर भी यदि उसे अनाख्येय ही कहा जायगा तो, ऐसी अनाख्येयता (तत्) का प्रसार तो सभी वस्तुओं में हो सकेगा।`[२]

अर्थात् व्यंग्यार्थ का अस्तित्व सिद्ध कर दिया गया है, व्यंग्यार्थ की प्रधानता का आख्यान कर ध्वनि की परिभाषा की गई है। लक्षणा से उसका भेद भी प्रतिपादित किया गया। इसके बाद भी यदि ध्वनि को गिरागोचर-अनाख्येय ही कहा जाय, तो फिर संसार की कोई भी वस्तु अनाख्येय हो सकती है। यदि अनाख्येय कहने से यह तात्पर्य है कि ध्वनि महान है, अन्य काव्यों में ध्वनि काव्य की श्रेष्ठता अवर्णनीय है। इस प्रकार `अनाख्येयता` में अतिशयोक्ति द्वारा इसकी उत्कृष्टता प्रतिपाद्य है, तब तो ठीक है।

१.१५ व्यंजक के दृष्टिकोण से व्यंजना सिद्धि-- तृतीय उद्योत में आचार्य ने वर्ण, शब्द, शब्दांश, संघटना आदि का व्यंजकत्व प्रतिपादित कर ध्वनि के भेद-प्रभेदों का प्रदर्शन किया है। व्यंजना विरोधी, इस प्रकार के व्यंजकत्व पर प्रश्नचिह्न लगाते हैं। उनके मतानुसार, व्यंग्य अर्थ का प्रकाशन ही पर्याप्त है तब यह पृथक व्यंजकत्व क्या है? (किमिदं व्यंजकत्वं नाम) तथा जिस अर्थ का प्रतिपादन आचार्य आनंदवर्धन ने किया है, उसका व्यंजकत्व हो नहीं सकता,

---

१. स च प्रागेव संसिद्ध इति, अयत्नसम्पन्नसमीहितार्थाः सम्पन्नाः स्मः; पृ.९७

२. यत उक्तया नीत्या... तत् सर्वेषामेव वस्तु उत्प्रसक्तम्... पृ.९८

(नहि व्यंजकत्वं व्यंग्यत्वं चार्थस्य) व्यंजक की सिद्धि पर व्यंग्य आधारित है और व्यंजकत्व की सिद्धि को व्यंग्य की अपेक्षा है। व्यंग्य और व्यंजक अन्योन्याश्रित है। अत: एक के असिद्ध होने पर दूसरा भी सिद्ध नहीं

हो सकता। क्योंकि अर्थ का व्यंग्यत्व नहीं हो सकता, इसलिये व्यंग्य की सिद्धि ही नहीं हुई। व्यंग्य और व्यंजक, क्योंकि सापेक्ष है अत: व्यंजक भी स्थापित नहीं हुआ। इसलिए व्यंजना नहीं है; यह व्यंजना विरोधियों का एक और तर्क है। परन्तु प्रथम उद्योत में वाच्य से अतिरिक्त व्यंग्य की स्थापना आचार्य आनंदवर्धन कर चुके हैं। विरोधियों का मत है कि इस वाच्य व्यतिरिक्त अर्थ को व्यंग्यार्थ ही क्यों कहा जाय ?[1] जहां व्यंग्यार्थ कहा जाने वाला अर्थ प्रधानरूप से अवस्थित है, वहां उसे वाच्यार्थ कहना ही युक्तिसंगत है। क्योंकि वाक्य उस अर्थ के प्रति ही प्रयुक्त है।[2] अत: उस अर्थ को प्रकाशन करने में वाक्य का अभिधा व्यापार ही है, तब इस अन्य (व्यंजना) व्यापार की कल्पना क्यों ? तात्पर्य रूप जो अर्थ है, वह मुख्य होने से वाच्यार्थ ही है। इस मुख्य तात्पर्य रूप अर्थ के बीच में जो अन्य वाच्यार्थ की प्रतीति होती है, वह उस मुख्य तात्पर्य रूप अर्थ की प्रतीति में उपाय मात्र है। जैसे वाक्यार्थ की प्रतीति में पदार्थ-प्रतीति उपाय मात्र है वैसे ही तात्पर्यरूप अर्थ की प्रतीति के पूर्व प्रतीत होने वाला वाच्यार्थ उपाय मात्र है।[4] इस प्रकार तात्पर्यवादी (व्यंजनाविरोधी) तात्पर्य में ही व्यंग्यार्थ का पर्यवसान कर उसे वाच्यार्थ ही कहना चाहते हैं तथा व्यंग्य, व्यंजक और व्यंजना व्यापार का निषेध करते हैं। उनके मतानुसार इस सब की आवश्यकता

---

१. सत्यमेवैतत्। प्रागुक्तयुक्तिभिर्वाच्यव्यतिरिक्तस्य वस्तुत: सिद्धिकृता, स त्वर्थो व्यंग्यतयैव कस्मात् व्यपदिश्यते ? पृ.२५३

२. यत्र च प्राधान्येनावस्थानं तत्र वाच्यतयैवासौ व्यपदेष्टु युक्त:। तत्परत्वाद् वाक्यस्य। पृ. २५३.

३. किन्तस्य व्यापारान्तरकल्पनया ?

४. या त्वन्तरा तथाविधे विषये वाच्यान्तरप्रतीति: सा तत्प्रतीतेरुपायमात्रं, पदार्थ पदार्थप्रतीतिरिव वाक्यार्थप्रतीते:। पृ.२४५

ही नहीं है। आचार्य आनन्दवर्धन ने, व्यंजनाविरोधियों की उपर्युक्त युक्तियों का खंडन कर व्यंजना की सिद्धि की है।

जहां शब्द अपने अर्थ को अभिधा से बोधन कराता हुआ अन्य अर्थ का भी बोध कराता है; वहां उसके स्वार्थाभिधायित्व (अपने अर्थ का अभिधा द्वारा बोधन में) और अर्थान्तर अवगमहेतुत्व (अन्य अर्थ का बोध कराने में) में अभेद माना जायगा या भेद, इन दोनों में अभेद तो माना नहीं जा सकता,[1] क्योंकि ये दोनों व्यापार भिन्नविषय और भिन्नरूप होते हैं। यथा शब्द का वाचकत्वरूप व्यापार शब्द के अपने अर्थ के विषय में होता है और गमकत्वरूप व्यापार अन्य अर्थ के विषय में। वाच्य और व्यंग्य के संबंध में 'स्व' और 'पर' के व्यवहार को भुला नहीं जा सकता। वाच्यार्थ की प्रतीति साक्षात् संबंध से होती है, और व्यंग्यार्थ की प्रतीति परंपरया (संबंधि-सम्बन्ध) संबंध से।[2] वाच्यार्थ, शब्द से साक्षात् संबंधित होता है और दूसरा अर्थ वाच्यार्थ के सामर्थ्य से आक्षिप्त होता है। इसीलिये इसे परंपरया संबंध से सम्बन्धित कहा गया है। यदि इस दूसरे अर्थ का शब्द से साक्षात् संबंध हो तो उसमें 'अन्य अर्थ' इस प्रकार के व्यवहार की आवश्यकता ही क्या रहेगी? अत: उन दोनों का विषय-भेद प्रसिद्ध है। आशय यह हुआ कि शब्द अपने अर्थ का बोध अभिधा व्यापार द्वारा कराता है। इस स्वअर्थ-बोधन के साथ अन्य अर्थ का भी बोध कराता है। यह 'अन्य अर्थ' इसी लिये 'अन्य अर्थ' कहा जाता है कि यह शब्द का वाच्यार्थ नहीं होता। इसलिये वाच्यार्थ से भिन्न अर्थ की सत्ता माननी ही होगी। यही नहीं, वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में स्वरूप भेद भी है।[3] क्योंकि जो अभिधाशक्ति है वही अवगमन (व्यंजक) शक्ति नहीं है। उदाहरणार्थ गीतादि को ले सकते हैं। गीत शब्द

---

१. यत्र शब्द: स्वार्थमभिदधानोऽर्थान्तरमवगमयति तत्र यत्तस्य स्वार्थाभिधायित्वं यच्च तदर्थान्तरावगमहेतुत्वं तयोरविशेषो विशेषो वा? न तावदविशेष:। तृ. उ. पृ. २५४

२. न च स्वपरव्यवहारो वाच्यव्यंग्ययोरपह्नोतुं शक्य:। एकस्य सम्बन्धित्वेन प्रतीते: अपरस्य सम्बन्धिसम्बन्धित्वेन। तृ.उ.पृ. २५५

३. रूपभेदोऽपि प्रसिद्ध एव।

अवाचक होते है--उनसे किसी अभिधार्थ की प्रतीति नहीं होती तथापि उनसे रसादिरूप अर्थ का अवगम होता है। इस प्रक्रिया में अभिधा का व्यापार नहीं होता, परन्तु अवगमन (व्यंजकत्व) व्यापार तो है ही इसलिये अभिधा व्यापार से पृथक् व्यंजकत्व व्यापार स्वीकार करना चाहिये। गीतादि ही नहीं शब्द रहित चेष्टाओं से भी विशेष अर्थ का प्रकाशन प्रसिद्ध है। चेष्टाओं में तो अभिधाव्यापार की गति ही नहीं है, तब चेष्टाओं से विशेष अर्थों की अभिव्यक्ति में कौन सा व्यापार होगा ? व्यापार होना तो अनिवार्य ही है, इसलिये वह अवगमन रूप (व्यंजना) व्यापार ही स्वीकार्य है। निम्नलिखित श्लोक --

> व्रीडायोगान्नतवदनया सन्निधाने गुरूणां
> बद्धोत्कम्पं कुचकलशयोर्मन्युमन्तर्निगृह्य।
> तिष्ठेत्युक्तं किमिव न तया यत् समुत्सृज्य वाष्पं,
> मय्यासक्तश्चकितहरिणीहारिनेत्रत्रिभागः ॥[1]

'गुरुजनों के समीप होने के कारण लज्जा से सिर झुकाये, कुचकलशों को कंपित करने वाले दु:खावेग को हृदय में ही दबा कर भी आंसू टपकाते हुए चकित हरिणी के समान हृदयाकर्षक नेत्रत्रिभाग जो मुझ पर फेंका, उसके द्वारा ठहरो, मत जाओ, 'क्या यह नहीं कहा ?' में कवि ने चेष्टा विशेष से अर्थ का प्रकाशन दिखलाया ही है। परन्तु वाच्य अर्थ के लिये शब्द आवश्यक है। इसलिये शब्द का अभिधा द्वारा स्वार्थ बोधन और अन्य अर्थ का अवगम, भिन्न विषय और भिन्न रूप होने से पृथक ही है, उनका भेद स्पष्ट है। क्योंकि इनमें भेद है, इसलिये अभिधेय के सामर्थ्य से आक्षिप्त व्यंग्य (अवगमनस्य) को वाच्य नहीं कहा जा सकता।[2] आनन्दवर्धन उस व्यंग्य अर्थ को शब्द व्यापार का विषय (शब्दव्यापारगोचरत्व) तो स्वीकार करते हैं। परन्तु वह (व्यंग्य अर्थ) वाचकत्व रूप में शब्द के व्यापार का विषय नहीं है, वरन यह व्यापार व्यंग्य रूप से ही है।

---

१. ध्वन्यालोक, आ. वि. पृ. १६६

२. विशेषश्चेत्, न तर्हीदानीमवगमनस्य अभिधेयसामर्थ्याक्षिप्तस्यार्थान्तरस्य वाच्यत्वव्यपदेशता।

प्रसिद्ध अभिधा के पश्चात्, संबन्ध की योग्यता से (प्रसिद्धाभिधाना-न्तरसम्बन्ध योग्यत्वेन) उस अर्थान्तर की प्रतीति होने के कारण (च अर्थान्तरस्य प्रतीते:) और स्वार्थ का बोध कराने वाले (स्वार्थाभिधायिना) शब्द से भिन्न शब्द से (शब्दान्तरेण) जिस अर्थ की प्रतीति होती है, उसके विषय में 'प्रकाशन' कहना ही युक्तियुक्त है।[१]

तात्पर्यवादियों ने व्यंजना का निषेध करते हुए कहा है कि अन्य अर्थ की प्रतीति के बीच जो अर्थ प्रतीत होता है वह तो उपाय मात्र है और तात्पर्य रूप अन्य अर्थ की प्रतीति में उसका वही स्थान है जो वाक्यार्थबोध का है। वाक्यार्थबोध में पदार्थबोध उपाय मात्र ही है। वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में पदार्थ और वाक्यार्थ न्याय को आचार्य आनन्दवर्धन असंगत मानते हैं। इनके अनुसार भट्टमत, न्याय आदि में भी इस स्थिति का निषेध है। आनन्दवर्धन के अनुसार -

'वाच्य और व्यंग्य में पदार्थ--वाक्यार्थन्याय नहीं बनता।'[२]

वैयाकरण, पद पदार्थ भेद को स्वीकार नहीं करते। पद-प्रत्यय कल्पना बालबुद्धि वालों के लिये है। यह मार्ग ही वैयाकरणों के मतानुसार असत्य है। सत्य तक पहुंचने का मार्ग मात्र माना जा सकता है--इसीलिये वैयाकरण मत में--

पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा न च ।
वाक्यात् पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन ।।[३]

अत: वैयाकरणों को अखंडार्थतावादी भी कहा जाता है। यहां इस प्रकरण का प्रसंग यही है कि तात्पर्यवादी जिस वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में पदार्थ-वाक्यार्थ न्याय घटित करते हैं, वैयाकरणों के मतानुसार वह न्याय

---

१. प्रसिद्धाभिधानान्तरसम्बन्धयोग्यत्वेन च तस्यार्थान्तरस्य प्रतीते: शब्दान्तरेण स्वार्थाभिधायिना यद्विषयीकरणं तत्र प्रकाशनोक्तिरेव। पृ.२५६

२. न च पदार्थवाक्यार्थन्यायो वाच्यव्यंग्ययो:। यत: पदार्थप्रतीतिरसत्यैवेति कैश्चिद् विद्वद्भिरास्थितम्।

३. ध्वन्यालोक आ.वि. तृ.उ. पृ. २५६

बनता ही नहीं है। जो इस पद-पदार्थ प्रतीति को असत्य नहीं मानते, उन नैयायिक आदि को पदपदार्थ और पदार्थ-वाक्यार्थ में वही न्याय मानना होगा जो घट और उसके उपादान कारण में है। घट और उसके उपादान में नैयायिक समवाय सम्बन्ध मानते हैं। समवाय सम्बन्ध वह है जिसमें कारण के विनष्ट होने पर कार्य भी विनष्ट हो जाता है।

घट के बन जाने पर उसके उपादान कारण की पृथक उपलब्धि नहीं होती वैसे ही वाक्यार्थ की प्रतीति के बाद पदार्थ प्रतीति अथवा पदार्थ प्रतीति के बाद पद-प्रतीति नहीं होती।[1] यदि इनकी पृथक रूप से प्रतीति मानी जाय तो वाक्यार्थ बुद्धि नहीं रहेगी। अत: वाच्य और व्यंग्य में यह पद-पदार्थ न्याय संगत नहीं है।[2] वाक्यार्थ की प्रतीति के समय पृथक-पृथक पद-पदार्थादि की प्रतीति नहीं रहती, परन्तु वाच्य और व्यंग्य के प्रसंग में, व्यंग्यार्थ की प्रतीति के समय वाच्य बुद्धि दूर नहीं होती। वाच्य की छाया से अविनाभाव से संबंधित व्यंग्यार्थ प्रकाशित होता है।[3] वाच्य के बिना व्यंग्यार्थ की प्रतीति ही नहीं होगी, अत: वाच्यबुद्धि का रहना आवश्यक है, पर वाक्यार्थ ज्ञान के समय पद-पदार्थ प्रतीति नहीं रह सकती।

अत: निष्कर्ष यह हुआ कि तात्पर्यवादियों ने जो 'या त्वन्तरा तथाविधे विषये वाच्यान्तरप्रतीति: सा तत्प्रतीतेरुपायमात्रं, पदार्थप्रतीतिरिव वाक्यार्थप्रतीते:।[4] कहा था, संगत नहीं है। इस लिये शब्द की स्वार्था-भिव्यक्ति और अर्थान्तराभिव्यक्ति ये दोनों भिन्न-भिन्न हैं। तब प्रतीयमान अर्थ को तात्पर्यविषयीभूत अर्थ मानकर, वाच्यार्थ नहीं कहा जा सकता।

---

१. तथैव वाक्ये तदर्थे वा प्रतीते पदतदर्थानाम् पृ.२५७

२. न त्वेष वाच्यव्यंग्ययोर्न्यायः पृ.२५७।

३. न हि व्यंग्ये प्रतीयमाने वाच्यबुद्धिर्दूरी भवति। वाच्याविनाभावेन तस्य प्रकाशनात्।

४. 'ध्व' : पृ. २५४

१. १६ वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में घट-प्रदीप न्याय--यदि वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में कोई न्याय घटित होता है तो वह प्रदीप न्याय ही है। जैसे प्रदीप के द्वारा घट की प्रतीति उत्पन्न होने पर भी प्रदीप का प्रकाश निवर्तित नहीं होता, उसी प्रकार व्यंग्य की प्रतीति में भी वाच्यावभास रहता है।[१] प्रथम उद्योत में वाच्य और व्यंग्य का संबंध निरूपित करते हुए कहा गया था- -

आलोकार्थी यथा दीपशिखायां यत्नवान् जनः।
तदुपायतया तद्वदर्थे वाच्ये तदादृतः ॥१॥
यथा पदार्थद्वारेण वाक्यार्थः सम्प्रतीयते।
वाच्यार्थपूर्विका तद्वत् प्रतिपत्तस्य वस्तुनः ॥२॥
स्वसामर्थ्यवशेनैव वाक्यार्थं प्रथयन्नपि।
यथा व्यापारनिष्पत्तौ पदार्थो न विभाव्यते ॥३॥

जैसे आलोक चाहने वाला मनुष्य, दीपशिखा में (आलोक का उपाय होने के कारण) यत्नवान् होता है, वैसे ही व्यंग्यार्थ में आदर वाला उसके उपायस्वरूप वाच्यार्थ में यत्नवान् होता है ॥१॥

जैसे पदार्थ के द्वारा वाक्यार्थ का बोध होता है, वैसे प्रतीयमान वस्तु (अर्थ) की प्रतीति वाच्यार्थ पूर्वक होती है ॥२॥

पदार्थ अपने सामर्थ्य से वाक्यार्थ का प्रतिपादन करते हुए भी वाक्यार्थ की निष्पत्ति हो जाने पर पृथक भासित नहीं होता ॥३॥

उपर्युक्त कारिका संख्या २ में पदार्थ और वाक्यार्थ की बात कही गई है, तब ध्वनिवादियों के अनुसार भी वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में पदार्थ-वाक्यार्थ न्याय घटित हो रहा है फिर तात्पर्यवादी और आनन्दवर्धन की मान्यता में भेद कहाँ हुआ? इस प्रश्न का समाधान करते हुए आचार्य आनन्दवर्धन ने कहा है कि प्रथम उद्योत की इन कारिकाओं का लक्ष्य, उपाय का सादृश्यत्व मात्र बतलाना है,[२] वस्तुतः पदार्थ-वाक्यार्थ न्याय घटित करना नहीं। जैसे पदार्थ,

---

१. तस्माद् घटप्रदीपन्यायस्तयोः। यथैव हि प्रदीपद्वारेण घटप्रतीतावुत्पन्नायां न प्रदीपप्रकाशो निवर्तते तद्वद् व्यंग्यप्रतीतौ वाच्यावभासः। पृ. २५७

२. 'तदुपायत्वमात्रात् साम्यविवक्षया' .... पृ. २५७

वाक्यार्थ का उपाय है, वैसे वाक्यार्थ व्यंग्यार्थ का उपाय है, इतना ही उस कारिका `यथा पदार्थद्वारेण...` आदि का आशय है। उससे पदार्थ वाक्यार्थ न्याय नहीं समझना चाहिये।

वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में आचार्य आनंदवर्धन ने घट-प्रदीप न्याय स्वीकार किया है। इससे पुन: एक शंका उठती है कि घटप्रदीप-न्याय में दीप और घट इन दो का एक साथ प्रकाशन होता है, इस न्याय को वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में घटित करने पर, वाक्य के दो अर्थ होने लगेंगे, और इस प्रकार वाक्य की परिभाषा ही व्यर्थ हो जायगी क्योंकि वाक्य एकार्थत्व की प्रतीति कराने वाला ही होता है[1] (ऐकार्थ्यलक्षणत्वात्)

आनंदवर्धन के मतानुसार वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ के प्रसंग में यह दोष नहीं आता। क्योंकि वाच्य और व्यंग्य की स्थिति गौण और प्रधान आदि होती है। कहीं व्यंग्य अर्थ प्रधान और वाच्य उपसर्जनीभाव से स्थित होता है और कहीं वाच्य प्रधान होता है, व्यंग्यार्थ गौणरूप से रहता है।[2] जहां व्यंग्यार्थ की प्रधानता होती है, वही ध्वनि कही गयी है। अत: यह सिद्ध होता है कि वाक्य के व्यंग्यनिष्ट होने पर भी, व्यंग्यार्थ, अभिधेय नहीं वरन् व्यंग्य ही होता है।[3] आशय यह हुआ कि व्यंग्यार्थ की प्रतीति में भी वाच्यार्थ की स्थिति तो रहेगी ही, यही वाच्यार्थ अभिधेय है, वाच्यार्थ रूप उपाय से व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है, अत: व्यंग्यार्थ अभिधेय नहीं है। उसे व्यंग्य ही मानना होगा।

---

१. नन्वेवं युगपदर्थद्वययोगित्वं वाक्यस्य प्राप्तं, तद्भावे च तस्य वाक्यतैव विघटते। तस्या ऐकार्थ्यलक्षणत्वात्। ... . पृ.२५८

२. नैष दोष: गुणप्रधानभावेन तयोर्व्यवस्थानात्। व्यंग्यस्य हि क्वचित् प्राधान्यं वाच्यस्योपसर्जनीभाव:। क्वचिद्वाच्यस्य प्राधान्यमपरस्य गुणभाव:, तत्र व्यंग्यप्राधान्ये ध्वनिरित्युक्तमेव। ... पृ. २५८

३. व्यंग्यपरत्वेऽपि काव्यस्य न व्यंग्यस्याभिधेयत्वमपितु व्यंग्यत्वमेव। पृ.२५८

१.१७ व्यंग्यार्थ के वाच्यत्व के निषेध का एक और तर्क-- जहां शब्द व्यंग्यार्थनिष्ठ नहीं होता, व्यंग्यार्थ गुणीभूत होता है, वहां व्यंजना विरोधी भी उस गुणीभूत व्यंग्य को वाच्यार्थ तो नहीं मानेंगे। परन्तु इस गुणीभूत व्यंग्य की स्थिति यह सिद्ध करती है कि शब्द का कोई व्यंग्य अर्थ भी होता है।[१] और जब व्यंग्यार्थ के गुणीभूतत्व को स्वीकार करते हैं, तो जहां उसका प्राधान्य होता है, वहां उसे अस्वीकार कैसे किया जा सकता है। इस लिए व्यंजकत्व को वाचकत्व से पृथक् ही मानना होगा।

१.१८ आश्रयभेद से व्यंजकत्व की प्रामाणिकता-- वाचकत्व का आश्रय शब्द ही होता है, शब्द से भिन्न अभिधेयार्थ का प्रतिपादन संभव नहीं है। परन्तु व्यंग्यार्थ का आश्रय शब्द भी है और अर्थ भी। अत: व्यंजकत्व केवल शब्द का ही नहीं होता अर्थ का भी होता है। जहां एक अर्थ अन्य अर्थ की व्यंजना करे वहां अर्थ में व्यंजकत्व है। इसलिये आश्रय के भेद से भी व्यंजकत्व का भेद प्रमाणित होता है -

'इतश्च वाचकत्वाद् व्यंजकत्वस्यान्यत्वं, यद्वाचकत्वं शब्दैकाश्रय-मितरत्तु शब्दाश्रयमर्थाश्रयं च शब्दार्थयोर्द्वयोरपि व्यंजकत्वस्य प्रतिपादितत्वात्।

अत: अभिधाशक्ति और तात्पर्य शक्ति से भिन्न व्यंजकत्व व्यापार रूप व्यंजना शक्ति है।

१.१९ लक्षकत्व और व्यंजकत्व भेद प्रकरण--मुख्यार्थ बाधित होने पर सादृश्येतर संबंध से (लक्षणा) अथवा सादृश्य संबंध से शब्द अन्य अर्थ की प्रतीति कराता है। सादृश्य संबंध पर आधारित को गुण वृत्ति कहते हैं और सादृश्येतर पर आधारित को लक्षणा कहते हैं। पूर्व प्रकरण में वाचकत्व और व्यंजकत्व में भेद बतलाते हुए वाच्यत्व की शब्दाश्रयता और व्यंजकत्व के

---

१. तदस्ति तावद् व्यंग्य: शब्दानां कश्चिद् विषय इति।

शब्दार्थाश्रयत्व का प्रतिपादन किया था । जैसे व्यंजकत्व शब्द और अर्थ दोनों के आश्रित है, वैसे ही लक्षणा अथवा गुणवृत्ति भी शब्द और अर्थ दोनों के आश्रित है । तब लक्षकत्व में ही व्यंजकत्व को भी क्यों न मान लिया जाय, उसके पृथक प्रतिपादन की क्या आवश्यकता है ? इस प्रश्न का समाधान करने के लिये ही आचार्य आनंदवर्धन ने इस प्रसंग को प्रारंभ किया है । गुणवृत्ति में व्यंजकत्व का अंतर्भाव करने वालों का मत है कि वह (गुणवृत्ति) भी उपचार और लक्षणा से दोनों (शब्द और अर्थ) में आश्रित होती है ;इसे स्वीकार करते हुए भी आचार्य आनंदवर्धन गुणवृत्ति और व्यंजकत्व में स्वरूपगत और विषयगत भेद मानते हैं ।

(१) स्वरूप भेद -- गुणवृत्ति को सभी अमुख्य शब्द व्यापार मानते हैं , इसीलिये उसे गुणवृत्ति कहा भी जाता है, परन्तु व्यंजकत्व, शब्द का मुख्यतया अर्थव्यापार है । तीन प्रकार का व्यंग्यार्थ कहा गया है -- रस, अलंकार और वस्तुरूप । इन तीनों अर्थों की प्रतीति, किसी भी प्रकार वाच्यार्थ (अर्थात्) से अमुख्य रूप में नहीं दिखाई पड़ती ।[१]

द्वितीय बात यह भी है कि अमुख्यरूप में स्थिति वाचकत्व ही गुणवृत्ति है और व्यंजकत्व तो वाचकत्व से अत्यंत ही भिन्न है ।

तृतीय भेद यह है कि गुणवृत्ति में जब अर्थ अन्य अर्थ को लक्षित करता है तब लक्षणीय अर्थ के रूप में स्वयं को परिणत करके ही ऐसा करता है --यथा `गंगायां घोष:` में गंगा पद स्वयं के अर्थ को छोड़कर लक्षणीय `तट` रूप अर्थ में परिणत होकर `तट` का ही बोधन करता है, इस स्थिति में इसको अपने अभिधेयार्थ का त्याग करना होता है । परन्तु व्यंजकत्व में इस प्रकार वाच्यार्थ को त्यागने की आवश्यकता नहीं होती । इस व्यंजकत्व रूप व्यापार में वाच्यार्थ स्वयं को प्रकाशित करता हुआ ही अन्य अर्थ का प्रकाशन करता है । जैसे दीपक स्वयं को प्रकाशित करता हुआ ही `घट`

---

१. गुणवृत्तिस्तूपचारेण लक्षणया चोभयाश्रयापि भवति, किन्तु ततोऽपि व्यंजकत्वं स्वरूपतो विषयतश्च भिद्यते । स्वरूपभेदस्तावदयम्, यदमुख्यतया व्यापारो गुणवृत्ति: प्रसिद्धा । व्यंजकत्वं तु मुख्यतयैव शब्दस्य व्यापार: । न ह्यर्थाद् व्यंग्यत्रयप्रतीतिर्या तस्या अमुख्यत्वं मनागपि लक्ष्यते ।

तृ. उ. पृ. २५६

को भी प्रकाशित करता है। उदाहरणार्थ यह श्लोक लें[1] --

एवं वादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी ।
लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती ।।

(देवर्षि के ऐसा कहने पर (एवं वादिनि) पिता के पास बैठी (पार्श्वे पितुः) पार्वती नीचा मुख कर कमल के पत्ते गिनने लगी (पार्वती अधोमुखी लीलाकमलपत्राणि गणयामास ।)

इस श्लोक में पहले वाच्यार्थ का बोध होता है--`कमलपत्र गिनना` आदि, तब इससे लज्जादि व्यंग्य की प्रतीति होती है।

परन्तु उपादान लक्षणा (अजहत्स्वार्था) अथवा अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य ध्वनि में जहां शब्द अपने अर्थ को ग्रहण करता हुआ ही अन्य अर्थ की प्रतीति कराता है वहां `लक्षणा` का ही व्यवहार कहें, तो ऐसा करने पर लक्षणा ही मुख्य व्यापार होने लगेगा, क्योंकि प्राय: वाक्य, वाच्य से व्यतिरिक्त तात्पर्यरूप अर्थ के प्रकाशक होते ही हैं।[2]

अभी `लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती` श्लोक का उदाहरण देकर यह कहा गया था कि वाच्यार्थ स्वयं को प्रकाशित करता हुआ अन्यार्थ (व्यंग्यार्थ) का प्रकाशक होता है। इस पर यह प्रश्न उठता है कि--यह तो अर्थ का व्यंजकत्व हुआ, क्योंकि अर्थ ही प्रकाशक कहा जा रहा है, इस स्थिति में शब्द का व्यापार क्या होगा ?[3]

इसका समाधान यह है--कि प्रकरण आदि की सहायता से युक्त शब्द के सामर्थ्य से एक अर्थ अन्य अर्थ की प्रतीति कराता है-- अर्थ की यह व्यंजकत्व शक्ति शब्द के सामर्थ्य से ही है। इसलिये शब्द का व्यंजकत्व कहा जाता है। पुन: व्यंजकत्व में--अस्खलद्गतित्व, समयानुपयोगित्व, और पृथगवभासित्व का निषेध कैसे हो सकता है।[4] ये तीनों ही विशेषताएं व्यंजकत्व

---

१. व्यंजकत्वमार्गे तु यदार्थोऽर्थान्तरं द्योतयति तदा स्वरूपं प्रकाशयन्नेवासावन्यस्य प्रकाशक: प्रतीयते प्रदीपवत्। यथा `लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती` इत्यादौ पृ.२६०

२. यस्मात् प्रायेण वाक्यानां वाच्यव्यतिरिक्ततात्पर्यविषयार्थावभासित्वम्. पृ २६१

३. ननु त्वत्पक्षेऽपि यदार्थो व्यंग्यत्रयं प्रकाशयति तदा शब्दस्य कीदृशो व्यापार:?

४. अस्खलद्गतित्वं, समयानुपयोगित्वं पृथगवभासित्वमिति त्रयं कथमपह्नुयते पृ.२६१

को गुणवृत्ति से भिन्न सिद्ध करती है।

(क) अस्खलद्गतित्व--लक्षणा में शब्द स्वार्थ में स्खलद्गति होकर ही अन्य अर्थ लक्षित करता है। परन्तु, व्यंजकत्व में, शब्द स्खलद्गति नहीं होता।

(ख) समयानुपयोगित्व--लक्षणा में शब्द जिस अर्थ को लक्षित करता है वह किसी न किसी रूप में अभिधेयार्थ से सम्बद्ध ही होता है। इसलिये किसी न किसी अंश में संकेतग्रह भी होता ही है। परन्तु शब्द जिस अर्थ की व्यंजना करता है, उसमें किसी भी प्रकार संकेतग्रह नहीं होता, इसलिये शब्द के व्यंजकत्व में 'समयानुपयोगित्व' कहा गया है। अर्थात् उसमें समय (संकेतग्रह) का अनुपयोगित्व होता है।

(ग) पृथगवभासित्व--गुणवृत्ति में मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ का अभेद अवभासित होता है। जैसे 'गंगायां घोषः' के मुख्यार्थ 'गंगा' और लक्ष्यार्थ 'तट' में होता है। परन्तु व्यंजना में वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में भेद होता है। वे दोनों पृथक अवभासित होते हैं।

अतः गुणवृत्ति और व्यंजकत्व में स्वरूप भेद है।

(२) विषयभेद ---गुणवृत्ति और व्यंजकत्व में विषय भेद भी है।[१] रसादि, अलंकार और वस्तु, इस प्रकार से तीन प्रकार का व्यंजकत्व कहा गया है। इन तीनों में से रसादि को न तो कोई गुणवृत्ति कहता ही है, न कह ही सकता है। व्यंग्य अलंकार की प्रतीति की भी यही स्थिति है। वह भी गुणवृत्ति नहीं कही जा सकती। चारुत्व की प्रतीति के लिये वाच्यभिन्न रूप में जिसका प्रतिपादन इष्ट हो वह वस्तु व्यंग्य कहलाती है।[२] ये सब गुणवृत्ति के विषय नहीं है। रूढ़ि अथवा व्यवहार के अनुरोध से भी गौण

---

१. विषयभेदोऽपि गुणवृत्तिव्यंजकत्वयोः स्पष्ट एव। .. . . .. पृ. २६२

२. यतो व्यंजकत्वस्य रसादयः, अलंकारविशेषा, व्यंग्यरूपावच्छिन्नं वस्तु चेति त्रयं विषयः। तत्र रसादिप्रतीतिर्गुणवृत्तिरिति न केनचिदुच्यते न च शक्यते वक्तुम्। व्यंग्यालंकारप्रतीतिरपि तथैव। वस्तुचारुत्वप्रतीतये स्वशब्दानभिधेयत्वेन यत् प्रतिपादयितुमिष्यते तद् व्यंग्यम् तच्चन सर्वं गुणवृत्तेर्विषयः। पृ. २६२

अर्थ में शब्द का प्रयोग होता है। जहां गुणवृत्ति का विषय होता है, वहां भी प्रयोजन रूप व्यंग्य के कारण ही। प्रयोजनवती लक्षणा में-- व्यंग्य प्रयोजन के कारण ही लक्षणा की प्रवृत्ति होती है।[1] इसलिये गुणवृत्ति से व्यंजकत्व अत्यन्त विलक्षण है। परन्तु वाचकत्व और गुणवृत्ति दोनों से भिन्न व्यंजकत्व इन दोनों पर आश्रित भी है।[2] विवक्षितान्य-परवाच्य ध्वनि में व्यंजकत्व अभिधा के आश्रित होता है और कहीं अविवक्षितवाच्यध्वनि में वह गुणवृत्ति के आश्रय से स्थित होता है।

वाच्यत्व और गुणवृत्ति इन दोनों पर आश्रित होने के कारण ही ध्वनि के सर्वप्रथम दो भेद किये गये हैं --

(१) विवक्षितान्यपरवाच्य, (२) अविवक्षितान्यपरवाच्य

यही कारण है कि ध्वनि और गुणवृत्ति को एकरूप नहीं कहा जा सकता।[3] कहीं व्यंजकत्व, वाचकत्व के आश्रित होता है, इसलिये उसे गुणवृत्ति नहीं कहा जा सकता और कहीं वह गुण वृत्ति के आश्रित होता है, इसलिये वह वाचकत्व से भिन्न है। वाचकत्व और लक्षणा आदि से रहित शब्दों में भी व्यंजकत्व होता है, इसलिये भी वाचकत्व और गुणवृत्ति से पृथक ही व्यंजकत्व है।[4] उदाहरणके लिये गीतादि ले सकते हैं -- इनसे रसप्रतीति व्यंजकत्व के आधार पर ही होती है। गीतादि में `रस` न तो वाचकत्व से प्रतीत होते हैं, न लक्षणा से ही। शब्द से अन्यत्र भी (कटाक्षादि) व्यंजकत्व का दर्शन होने से उसे शब्द के वाचकत्व, गुणवृत्ति आदि धर्मों में से एक कहना अनुपयुक्त है। यदि वाचकत्व, गुणवृत्ति आदि से इस प्रकार विलक्षण

---

१. यद्यपि च गुणवृत्तेर्विषयस्तदापि च व्यंजकत्वानुप्रवेशेन। पृ.२६२

२. वाचकत्वगुणवृत्तिविलक्षणस्यापि च तस्य तदुभयाश्रितत्वेन व्यवस्थानम् पृ.२६२

३. [illegible] एकरूपत्वं तस्य न शक्यते वक्तुम् पृ.२६४

४. यावद्वाचकत्वलक्षणादिरूपरहितशब्दधर्मत्वेनापि। पृ.२६४

होने पर भी, व्यंजकत्व को गुणवृत्ति के प्रकार (भेद) रूप से ही स्वीकार करना है तो उसे शब्द का ही विशेष प्रकार मान लेने में क्या हानि है ।[१]

इसीलिये शब्द व्यवहार के तीन प्रकार कहे गये हैं--(१) वाचकत्व (२) गुणवृत्ति तथा (३) व्यंजकत्व । और व्यंजकत्व भेद में व्यंग्य का प्राधान्य होने पर ध्वनि व्यवहार किया जाता है । इस प्रकार गुणवृत्ति से व्यंजकत्व का पार्थक्य सिद्ध हुआ । पुन: एक शंका और होती है । अभिधामूलक अथवा विवक्षितान्यपरवाच्य में गुणवृत्ति का व्यवहार नहीं होता, यह तो सिद्ध हुआ, क्योंकि जहां वाच्यवाचक की प्रतीतिपूर्वक अर्थान्तर की प्रतीति होती है , वहां गुणवृत्ति नहीं होती । ऐसी स्थिति में व्यंजकत्व व्यवहार युक्तिसंगत भी है । व्यंजक की परिभाषा है --

'स्वरूपं प्रकाशयन्नेव परावभासको व्यंजक इत्युच्यते ।[२]

और वाच्यार्थ स्वयं को प्रकाशित करता हुआ ही अर्थान्तर का प्रकाश करता है । इसलिये ऐसे विषय में गुणवृत्ति का व्यवहार नहीं किया जा सकता--

'तथाविधे विषये वाचकत्वस्यैव व्यंजकत्वमिति गुणवृत्तिव्यवहारो नियमेनैव न शक्यते कर्तुम् ।'[३]

परन्तु अविवक्षितवाच्य ध्वनि के अत्यंततिरस्कृत और अर्थान्तरसंक्रमित भेदों में गुणवृत्ति के दोनों भेद, उपचार और लक्षणा की प्रवृत्ति स्पष्ट है अत: उन्हें तो गुणवृत्ति कहा जा सकता है । अर्थान्तरसंक्रमित में उपादान लक्षणा और अत्यंततिरस्कृतवाच्य में लक्षणलक्षणा का स्वरूप है ।

इस शंका को आचार्य आनंदवर्धन उपयुक्त नहीं मानते , क्योंकि अविवक्षितवाच्य ध्वनि, गुणवृत्ति पर आश्रित होते हुए भी, गुणवृत्ति स्वरूप नहीं है (न तु गुणवृत्ति रूप एव) । जहां व्यंजकत्व नहीं होता वहां

---

१. यदि च वाचकत्वलक्षणादीनां शब्दप्रकाराणां प्रसिद्धप्रकारविलक्षणत्वेऽपि व्यंजकत्वप्रकारत्वेन परिकल्प्यते शब्दस्यैव प्रकारत्वेन कस्मान्न परिकल्प्यते । पृ. २६४

२. ध्व. आ. वि. पृ.२६६

३. वही

भी गुणवृत्ति होती है। जहां जहां गुणवृत्ति हो वहां-वहां ध्वनि भी हो ऐसा नहीं है। परन्तु चारुत्व के हेतुभूत व्यंग्य के अभाव में व्यंजकत्व नहीं होता। इसलिये अविवक्षितवाच्य से भी गुणवृत्ति का एकत्व प्रतिपादित नहीं होता। गुणवृत्ति और व्यंजकत्व में एक और भी भेद है। अभेदोपचाररूप गुणवृत्ति वाच्यधर्म के आश्रय से और व्यंग्य के आश्रय से, इस प्रकार दो प्रकार की हो सकती है। प्रथम प्रकार को रूढि और द्वितीय को प्रयोजनवती कहते हैं। इस प्रकार की गुणवृत्ति का उदाहरण है `अग्निर्माणवक:` यह बालक की तीक्ष्णता, तेजस्वितादि धर्मयुक्त होने से कहा जाता है। आल्हादकत्वाच्चन्द्र एवास्या मुखम् तथा `प्रिये जने नास्ति पुनरुक्तम्` आदि गौणी लक्षणा के उदाहरण हैं। क्योंकि इनमें सादृश्य-सम्बन्ध आधारभूत है। ये जो `तीक्ष्णत्वादग्निर्माणवक:`, उदाहरण हैं--यह वाच्याश्रित अभेदोपचाररूप गौणी लक्षणा का ही मानना चाहिये।

लक्षणारूपा गुणवृत्ति भी लक्षणीय अर्थ के संबंध मात्र के आश्रय से चारुत्वरूप व्यंग्य प्रतीति के बिना भी हो सकती है। जैसे `मंचा: क्रोशन्ति` लक्षणारूप गुणवृत्ति का उदाहरण है, क्योंकि मंच अचेतन है अत: वह चिल्ला नहीं सकते, इसलिये `मंचा:` से मंचस्थित पुरुष` यह लक्ष्यार्थ गृहीत होता है। इस उदाहरण में कोई व्यंग्य प्रयोजन नहीं है। अत: लक्षणारूपा गुणवृत्ति व्यंग्य के बिना भी संभव है।

प्रयोजनवती लक्षणा में तो व्यंग्य के कारण ही लक्षणा की प्रवृत्ति होती है। परन्तु कुछ उदाहरणों में असंभव अर्थ से व्यवहार होता है, जैसे --

> सुवर्णपुष्पां पृथिवीं चिन्वन्ति पुरुषास्त्रय:।
> शूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम् ॥

यहां असंभव अर्थ है, क्योंकि `पृथिवी` सुवर्णपुष्पा नहीं होती। चारुत्वरूप व्यंग्य की प्रतीति के लिये ही यह गुणवृत्ति का व्यवहार किया गया है।

इसलिये अविवक्षित वाच्य ध्वनि में व्यंजकत्वविशेष सहित गुणवृत्ति सहृदयों के हृदयों को आह्लादित करने वाली होती है। गुणवृत्ति और व्यंजकत्व एक नहीं है। क्योंकि प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति का हेतु गुणवृत्ति नहीं है। अन्य स्थलों पर गुणवृत्ति व्यंजकत्व से रहित होती है।[१]

यह निर्विवाद है कि शब्द का व्यंजकत्व रूप धर्म प्रसिद्ध सम्बन्ध अर्थात् वाचकत्व के अनुरोध से स्थित रहता है। वाच्य-वाचक भाव का आश्रय लेता हुआ व्यंजकत्व व्यापार अन्य सामग्री के सम्बन्ध से प्रवृत्त होता है। शब्द का यह व्यंजकत्व व्यापार औपाधिक है।[२]

वाचकत्व से इसका एक और भी भेद है। वाचकत्व, शब्द विशेष का निश्चित धर्म है। व्युत्पत्तिकाल से प्रारम्भ होकर --यह वाचकत्व, शब्द के साथ अविनाभाव से स्थित रहता है। व्यंजकत्व, औपाधिक होने से अनियत है, प्रकरणादि के विवेचन से उसकी प्रतीति होती है, अन्यथा नहीं होती।[३] परन्तु व्यंजकत्व को शब्द का अनियत धर्म मानने से उसका स्वरूप क्या होगा? और इसकी परीक्षा से भी क्या लाभ है? वह मात्र औपाधिक अर्थात् आरोपित काल्पनिक व्यापार ही है। इसका समाधान यह है कि--व्यंजकत्व स्वयं में औपाधिक व्यापार नहीं है, उसका स्वरूप भी निश्चित है, प्रतीति भी प्रमाणसिद्ध है, परन्तु जहां तक व्यंजकत्व का शब्द से सम्बन्ध है, वह, वैसा नियत नहीं है, जैसा वाचकत्व है। वाचकत्व बिना किसी अन्य सहायता के स्वतः प्रवृत्त होता है, परन्तु व्यंजकत्व की प्रवृत्ति हेतु प्रकरणादि का विमर्श आवश्यक है। इस दृष्टि से ही, शब्द के व्यापार रूप में ही व्यंजकत्व को औपाधिक कहा है, उसका स्वयं का स्वरूप औपाधिक नहीं है।[४] इस समस्या को लिंगत्व न्याय से भी समझा जा

---

१. तस्मादविवक्षितवाच्ये ध्वनि, द्वयोरपि प्रभेदयोर्व्यंजकत्वविशेषा-विशिष्टा गुणवृत्तिर्न तु तदेकरूपा सहृदयहृदयाह्लादिनी। प्रतीयमाना-प्रतीतिहेतुत्वात्। विषयान्तरे तद्रूपशून्याया दर्शनात्।... ध्व. आ. वि. पृ. २६९

२. शब्दार्थयोर्हि प्रसिद्धो यः सम्बन्धो वाच्यवाचकभावाख्यस्तमनुसन्धान एव व्यंजकत्वलक्षणो व्यापारः सामग्र्यन्तर सम्बन्धादौपाधिकः प्रवर्तते।

३. वाचकत्वं हि शब्दविशेषस्य नियत आत्मा, व्युत्पत्तिकालादारभ्य तदविनाभावेन तस्य प्रसिद्धत्वात्। स त्वनियतः, औपाधिकत्वात् प्रकरणाद्यवच्छेदेन तस्य प्रतीतेरितरथा त्वप्रतीतेः। ध्व० आ० वि० पृ. २७०

४. ननु यद्यनियतस्तत्किं तस्य स्वरूपपरीक्षया। नैष दोषः यतः शब्दात्मनि तस्यानियतत्वम्, न तु स्वे विषये व्यंग्यलक्षणे।... ध्व०आ०वि०पृ. २७१

सकता है । अनुमान प्रक्रिया में `लिंग` के द्वारा साध्य का अनुमान किया जाता है । जैसे `पर्वतो वह्निमान्` उदाहरण वाक्य में पर्वत पक्ष कहलाता है, `अग्नि` साध्य है, और धूम लिंग है । `धूम` रूप लिंग को देखकर पक्ष (पर्वत) में निहित साध्य (अग्नि) का ज्ञान होता है । परन्तु `धूम`, `पर्वत` और अग्नि में क्रमश: `लिंग`, `पक्ष` और `साध्य` का व्यवहार तभी किया जाता है जब अनुमित्सा अर्थात् अनुमान करने की इच्छा हो । रसोई में प्रत्यक्ष दिखाई पड़ती अग्नि में अनुमान की इच्छा ही नहीं होती। इसलिये, जैसे `धूम` का लिंगत्व अनुमान करने वाले की इच्छा पर निर्भर है। यह व्यंजकत्व और लिंगत्व का साम्य है । जिस प्रकार `धूम` रूप लिंग से साध्य का अनुमान करने में व्याप्ति आदि की अपेक्षा होती है और उसके अभाव में अनुमान ही नहीं हो सकता है, वैसे ही व्यंजकत्व में प्रकरणादि अन्य सामग्री की आवश्यकता होती है । इसके अभाव में व्यंजकत्व प्रवृत्त ही नहीं हो सकता । यह भी व्यंजकत्व और लिंगत्व का साम्य है । परन्तु यहां यह स्मरण रखना चाहिए कि नैयायिकों का लिंगत्व औपाधिक नहीं है, वरन्--`स्वाभाविक साहचर्य का नियम है` और व्यंजकत्व शब्द का औपाधिक धर्म, इसलिये व्यंजकत्व में लिंगत्व न्याय की आंशिक व्याप्ति ही है, पूर्ण नहीं । साम्य इतना ही है कि जैसे आश्रय में लिंगत्व, अनुमान की इच्छा के अधीन है-- और इसीलिये अनियतरूप है, वैसे ही, व्यंजकत्व शब्द में अनियत रूप है और प्रयोक्ता की इच्छा के अधीन है । जैसे लिंगत्व अपने स्वरूप में नियत है, वैसे ही व्यंजकत्व भी अपने रूप में नियत ही है ।[१] अत: व्यंजकत्व, वाचकत्व का प्रकार नहीं है, यदि वैसा होता तो शब्द में नियत भी होता [२]मीमांसक, शब्द और अर्थ में नित्य संबंध मानते हैं । आचार्य आनंदवर्धन ने मीमांसकों के मत में भी व्यंजकत्वरूप औपाधिक शब्द धर्म का प्रतिपादन आवश्यक सिद्ध किया है । मीमांसादर्शन में कहा गया

---

१. लिंगत्वान्यायश्चास्य व्यंजकभावस्य लक्ष्यते । यथा लिंगत्वमाश्रये-ष्वनियतावभासम्, इच्छाधीनत्वात् स्वविषयाव्यभिचारि च तथैवेदं यथा दर्शितं व्यंजकत्वम् ... पृ २७२

२. यदि हि वाचकत्वप्रकारता तस्य भवेच्छब्दात्मनि नियततापि स्याद् वाचकत्ववत्....... पृ.२७२

है--`औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्ध:` , इस सूत्र की व्याख्या में शबर स्वामी ने लिखा है--`औत्पत्तिक इति नित्यं ब्रूम:` अर्थात् `औत्पत्तिक` का आशय `नित्य` है। मीमांसकों के इस मत के अनुसार शब्द का कोई औपाधिक धर्म हो ही नहीं सकता। अत: इस दृष्टिकोण से व्यंजकत्व भी संभव नहीं है। मीमांसकों के अनुसार वाक्य दो प्रकार के हैं एक अपौरुषेय, यथा वेद, इनके प्रामाण्य की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि अपौरुषेय होने से इनका प्रामाण्य स्वत: सिद्ध है। इसके लिये मीमांसक `स्वत: प्रामाण्य` शब्द का प्रयोग करते हैं। जहां ज्ञान का जिससे ग्रहण होता हो, उसीसे ज्ञान के प्रामाण्य भी ग्रहण हों, वह स्वत: प्रामाण्य कहलाता है। `वेद` स्वयं अपना प्रमाण है। द्वितीय प्रकार के वाक्य हैं, लौकिक इन्हें पौरुषेय कहते हैं--इनके प्रामाण्य की अपेक्षा होती है। वक्ता के प्रामाण्य से इन वाक्यों का प्रामाण्य ग्रहण होता है--इसलिये ज्ञान ग्राहक सामग्री (वाक्य) और ज्ञान की प्रामाण्य ग्राहक सामग्री (वक्ता का प्रामाण्य) पृथक्-पृथक् होने से यह परत: प्रामाण्य कहलाते हैं। पुरुष द्वारा निर्मित वाक्य में, पुरुष के भ्रम, प्रमादादि दोषों के कारण अप्रामाण्य आ जाता है। इसलिये उनके प्रामाण्य की अपेक्षा है।

मीमांसक शब्द को नित्य मानते हैं--परन्तु इन शब्दों का समूहरूप वाक्य, जो कि पौरुषेय है--पुरुषनिर्मित है, को अनित्य कहते हैं। शब्द तो नित्य हैं परन्तु लौकिक पुरुष द्वारा निर्मित वाक्य अनित्य है। जब शब्द और अर्थ का नित्य संबंध है तो वाक्य को कभी व्यर्थ नहीं होना चाहिये। और इस स्थिति में लौकिक वाक्य भी अपौरुषेय वाक्य के समान स्वत:प्रामाण्य होने चाहिये। परन्तु मीमांसक ऐसा नहीं मानते। यदि मीमांसकों के अनुसार लौकिक वाक्यों का अप्रामाण्य माना जाय तो, इसका प्रतिपादन वाच्यार्थ के आधार पर नहीं हो सकता। क्योंकि वाच्यार्थबोध की दृष्टि से अपौरुषेय और पौरुषेय दोनों ही प्रकार

---

१. ध्व. आ. वि. पृ. २७२

के वाक्य समान होंगे। इनका भेद तात्पर्य के आधार पर संभव है। तात्पर्य का अर्थ है, वाक्यनिर्माता पुरुष की इच्छा। पुरुष क्योंकि सर्वज्ञ नहीं है, इसलिये उसकी इच्छा में भी मिथ्यात्व आ जाता है। इस तात्पर्यार्थ की दृष्टि से ही पौरुषेय और अपौरुषेय वाक्यों के प्रामाण्य में भेद है। परन्तु, तात्पर्यार्थ की प्रतीति अभिधा से नहीं होती क्योंकि तात्पर्यार्थ में शब्दों का संकेतग्रह नहीं होता। तात्पर्यार्थ की प्रतीति लक्षणा से भी नहीं हो सकती क्योंकि मुख्यार्थबाधादि का अभाव है। इसलिये इस तात्पर्यार्थ की प्रतीति के लिये पृथक वृत्ति व्यंजना स्वीकार करनी होगी। अत: मीमांसकों के मत में भी शब्द का औपाधिकधर्म 'व्यंजकत्व' मानना होगा। आचार्य आनन्दवर्धन के शब्दों में --'शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध मानने वाले, वाच्य के तत्वज्ञाता पौरुषेय और अपौरुषेय वाक्यों में भेद का प्रतिपादन करने वाले, मीमांसकों को भी शब्द का यह व्यंजकत्व रूप औपाधिक धर्म मानना होगा। अन्यथा शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध मानने से, पौरुषेय और अपौरुषेय वाक्यों में समानता होगी। व्यंजकत्व को स्वीकार कर लेने पर पौरुषेय वाक्यों में, वाच्यवाचक भाव को बिना छोड़े हुए भी, पुरुष की इच्छा के अनुसरण करनेवाले व्यंजकत्व व्यापार युक्त वाक्यों की मिथ्यार्थता भी प्रतिपादित की जा सकती है।'[१]

संसार में ऐसे पदार्थ देखे जाते हैं, जो अपने स्वभाव का परित्याग किये बिना ही अन्य सामग्री के सहयोग से औपाधिक व्यापार के द्वारा विपरीत प्रवृत्ति दिखलाते हैं। जैसे चन्द्रमा का स्वभाव शीतल है, परन्तु प्रियाविरह से युक्त व्यक्ति के लिये वह संतापकारी हो जाता है। 'संतापकारित्व' चन्द्रमा का औपाधिक धर्म है जो 'प्रियाविरह' आदि सामग्री

---

१. स च तथाविध औपाधिको धर्म: शब्दानामौत्पत्तिकशब्दार्थसम्बन्धवादिना वाच्यतत्वविदा पौरुषेयापौरुषेययोर्वाक्ययोर्विशेषमभिदधता नियमेनाभ्युपगन्तव्य: । तदनभ्युपगमे हि तस्य शब्दार्थसम्बन्धनित्यत्वे सत्यप्यपौरुषेयपौरुषेययोर्वाक्ययोरर्थप्रतिपादने निर्विशेषत्वं स्यात् । तदभ्युपगमे तु पौरुषेयाणां वाक्यानां पुरुषेच्छानुविधानसमारोपितौपाधिकव्यापारान्तराणां सत्यपि स्वाभिधेयसम्बन्धापरित्यागे मिथ्यार्थतापि भवेत् । ध्व० वृ० उ० आ० वि० पृ.२७४

के कारण है। इसी प्रकार शब्द और अर्थ का स्वाभाविक संबंध मानने पर प्रकरणादि के कारण शब्द का औपाधिक धर्म व्यंजकत्व, मीमांसकों को भी मानना होगा, तभी लौकिक वाक्यों का मिथ्यात्व प्रतिपादित हो सकेगा। पौरुषेय वाक्य पुरुष के अभिप्राय को ही कहते हैं, और यह अभिप्राय व्यंग्य ही हो सकता है। क्योंकि शब्दों का अभिप्राय में संकेतग्रह न होने से इनमें वाचक-वाच्य भाव संबंध नहीं होता।

परन्तु, वक्ता के अभिप्राय को व्यंग्य मानने से तो सभी लौकिक वाक्यों में 'ध्वनि' का व्यवहार होने लगेगा ? इसका समाधान करते हुए आचार्य आनंदवर्धन कहते हैं कि --'यह ठीक है कि अभिप्राय व्यंग्य होता होता है, परन्तु लौकिक वाक्यों में व्यंग्य, वाच्य के अविनाभूत रूप में स्थित होने के कारण वाचकत्व से भिन्न नहीं होता। व्यंग्य विवक्षित रूप में नहीं है, वहां 'ध्वनि' का व्यवहार नहीं हो सकता। जहां व्यंग्य की प्रधानतया विवक्षा है, वहीं व्यंजकत्व ध्वनिव्यवहार का प्रयोजक कहा जाता है--अन्यत्र अथवा सर्वत्र नहीं। इसलिये सभी लौकिक वाक्यों में 'ध्वनि' का व्यवहार नहीं किया जा सकता।

अत एव वाक्यतत्वविदों (मीमांसकों) के मतानुसार की व्यंजकत्व रूप शब्द व्यापार विरोधी नहीं, प्रत्युत अनुकूल ही है।[१]

यह 'व्यंजकत्व' वैयाकरणों के भी प्रतिकूल नहीं है, क्योंकि-- 'अविद्यासंस्काररहित शब्द ब्रह्म को स्वीकार करनेवाले विद्वान् वैयाकरणों के सिद्धान्त का आश्रय लेकर ही ध्वनिसिद्धान्त का प्रवर्तन हुआ है।' इसलिये वैयाकरणों से विरोध अविरोध का प्रश्न ही नहीं उठता।[२]

---

१. तस्माद्वाक्यतत्वविदां मतेन तावद् व्यंजकत्वलक्षणः शाब्दो व्यापारो न विरोधी प्रत्युतानुगुण एव लक्ष्यते... ध्व. पृ. २७६

२. परिनिश्चितनिरपभ्रंशशब्दब्रह्मणां विपश्चितां मतमाश्रित्यैव प्रवृत्तो यं ध्वनिव्यवहार इति तैः सह किं विरोधाविरोधौ चिन्त्येते ध्व. पृ. २७६

शब्द और अर्थ के संबंध को कृत्रिम मानने वाले नैयायिकों के मत में शब्दों का अन्य अर्थों के प्रति व्यंजकत्व, दीपक आदि के प्रकाशकत्व के समान अनुभवसिद्ध ही है। नैयायिकों का शब्दों के वाचकत्व के विषय में मतभेद हो सकता है (वाचकत्व स्वभाविक है अथवा संकेतकृत है, इस प्रकार का मतभेद) परन्तु वाचकत्व के पश्चात् होने वाले व्यंजकत्व के संबंध में मतभेद का अवसर नहीं है। क्योंकि व्यंजकत्व तो लोकप्रसिद्ध तथा अनुभूत है। नैयायिक 'आत्मा' जैसे अगोचर अर्थ में विप्रतिपत्तियां खड़ी कर सकते हैं, परन्तु 'नील' को नील ही कहेंगे, पीत नहीं, अत: प्रत्यक्ष में तर्क का अवसर नहीं आता। इसी प्रकार, वाचक शब्दों का, अवाचकशब्दरूप गीतादि ध्वनियों का व्यंजकत्व तो प्रत्यक्ष सिद्ध है। इस प्रत्यक्षसिद्धि के विषय में तर्क का अवसर नहीं है। विद्वानों की गोष्ठियों में शब्द से अनभिधेय सुन्दर अर्थ को अभिव्यक्त करने वाले अनेक प्रकार के वचन कहे जाते हैं--इस सत्य को कौन अस्वीकार कर सकेगा।

पूर्व प्रकरण में व्यंजकत्व और लिंगत्व में साम्य दिखलाया है, इससे एक और विप्रतिपत्ति उत्पन्न होती है। शब्दों के बोधकत्व का नाम ही व्यंजकत्व है और वह लिंगत्वरूप है। इससे जो व्यंग्य की प्रतीति होती है, वह लिंगी की प्रतीति के समान है--इसलिये व्यंजक और व्यंग्य भाव लिंग-लिंगी भाव ही है। पुन: वक्ता का अभिप्राय व्यंग्य है--यह ध्वनिवादी भी मानते हैं--परन्तु वक्ता का अभिप्राय अनुमेय होता है। अत: व्यंजना, अनुमिति के अन्तर्गत है।

उपर्युक्त तर्क का उत्तर आनन्दवर्धन ने दो प्रकार से दिया है--यह कि अनुमिति रूप ही यदि व्यंजना मानी जाय तो भी वह अभिधा और गुण-वृत्ति से तो पृथक् ही सिद्ध हुई। भले ही व्यंजकत्व, लिंगत्व रूप मानें पर प्रसिद्ध सम्बन्ध और लक्षकत्व से वह भिन्न है। इस उत्तर से यह सिद्ध हुआ कि व्यंजना पृथक है। यह प्रौढिवाद से उत्तर हुआ। अनभिमत बात को कुछ समय के लिये स्वीकार करके उत्तर देना प्रौढ़िवाद कहलाता है। द्वितीय उत्तर यह है कि वास्तव में व्यंजना, अनुमिति के अन्तर्गत नहीं हो सकती,

क्योंकि व्यंजकत्व सर्वत्र लिंगत्वरूप नहीं होता और व्यंग्य की प्रतीति सर्वत्र लिंगी की प्रतीति के समान नहीं होती ।[1] अपने मत को आचार्य आनन्दवर्धन ने इस प्रकार कहा है--

'शब्दों का विषय दो प्रकार का होता है, एक अनुमेय और दूसरा प्रतिपाद्य । वक्ता के कहने की इच्छा अनुमेय है । यह इच्छा भी दो प्रकार की होती है--प्रथम शब्द के स्वरूप के प्रकाशन की इच्छा और

द्वितीय, शब्द से अर्थ प्रकाशन की इच्छा । इनमें प्रथम शब्दव्यवहार का अंग नहीं है । इससे किसी प्रकार के अर्थ का ज्ञान न हो सकने से ही इसे शब्दव्यवहार में अनुपयोगी कहा है । अर्थ प्रकाशनरूप इच्छा, शाब्दबोधव्यवहार का अंग है । ये दोनों शब्दों का अनुमेय विषय हैं । विशेष प्रकार के शब्द को सुनकर शब्दस्वरूपप्रकाशन की इच्छा अथवा शब्द द्वारा अर्थ प्रकाशन की इच्छा का अनुमान होता है ।

शब्द के प्रयोक्ता की अर्थ प्रतिपादन की इच्छा का विषयीभूत अर्थ का स्वरूप अनुमेय नहीं कहा जा सकता ।[2]

वैशेषिक दर्शन में अनुमान में ही शब्द का भी अंतर्भाव कर दिया गया है । जैसे अनुमान प्रक्रिया में--व्याप्तिग्रहण, लिंगदर्शन, व्याप्तिस्मृति, तथा अनुमिति ये चार करण हैं वैसे ही शब्द में--संकेतग्रह, पदज्ञान, पदार्थस्मृति के बाद शब्दबोध होता है । समानविधि होने से अत: शब्द भी अनुमान ही है । आचार्य आनंदवर्धन ने इस मान्यता का खंडन किया है ।

---

१. न पुनरयं परमार्थो यद् व्यंजकत्वं लिंगत्वमेव सर्वत्र, व्यंग्यप्रतीतिश्च लिंगिप्रतीतिरेवेति । पृ. २७९

२. विवक्षा विषयत्वं हि तस्यार्थस्य शब्दैर्लिंगितया प्रतीयते न तु स्वरूपम् पृ. २८०

व्यंजकत्व सदैव लिंगत्व रूप नहीं होता, दीपक आदि के प्रकाश में बिना लिंगत्व के ही व्यंजकत्व दिखलाई पड़ता है [१]। इसी प्रकार प्रतिपाद्य विषय लिंगी की भाँति शब्द से संबन्धित नहीं है। जैसा कि कहा जा चुका है, वक्ता की विवक्षा लिंगी रूप में शब्दों से संबद्ध है। यदि प्रतिपाद्य विषय को लिंगी मानें तो उसमें लौकिक पुरुषों द्वारा की जाने वाली विप्रतिपत्तियों का अभाव होगा, क्योंकि अनुमेयार्थ निश्चित होता है, उसमें विप्रतिपत्तियों के लिये अवसर नहीं होता। [२] परन्तु प्रतिपाद्य विषय में विप्रतिपत्तियों का अवसर होता है अत: वह अनुमेयार्थ नहीं हो सकता। इसलिये व्यंजना--अनुमान नहीं हो सकती।

व्यंजना का अनुमान में अंतर्भाव करने की आकांक्षा वालों का एक और तर्क हो सकता है। प्रामाण्य और अप्रामाण्य, अनुमान साध्य है। व्यंग्य अर्थ के सत्य-असत्य के निर्णय हेतु भी अत: अनुमान अपेक्षित होगा। इस प्रकार व्यंग्यार्थ भी अनुमान का विषय सिद्ध होता है। प्रामाण्य और अप्रामाण्य विषयक दो मत--मीमांसक और नैयायिक-प्रसिद्ध हैं। मीमांसक प्रामाण्य को स्वत: प्रामाण्य मानते हैं और अप्रामाण्य को परत: कहते हैं। नैयायिक प्रामाण्य और अप्रामाण्य, दोनों को ही परत: मानते हैं। परत: प्रामाण्य वह है जिसमें ज्ञान ग्राहक सामग्री और ज्ञान का प्रामाण्य ग्राहक सामग्री पृथक पृथक हो। नैयायिक मत में ज्ञान का ग्रहण अनुव्यवसाय से होता है सर्वप्रथम 'अयं घट:' यह ज्ञान होता है, तदनन्तर 'घट ज्ञानवान् अहम्' यह प्रतीति होती है-- यही 'अनुव्यवसाय' है --व्यवसाय का अर्थ है

---

१. न च व्यंजकत्वं लिंगत्वरूपमेव, आलोकादिष्वन्यथा दृष्टत्वात्... पृ. २८२

२. प्रतिपाद्यस्य च विषयस्य लिंगित्वे तद्विषयाणां विप्रतिपत्तीनां लौकिकैरेव क्रियामाणानामभाव: प्रसज्येतेति।... ... पृ. २८२

`ज्ञान` --`अयं घट:` इस ज्ञान से `घटज्ञानवान् अहम्` यह प्रतीति होती है, ज्ञान के बाद होने के कारण इसे `अनुव्यवसाय` कहा गया। अत: ज्ञान के ग्रहण की सामग्री यह `अनुव्यवसाय` है। `प्रामाण्य` का ग्रहण प्रवृत्तिसाफल्य अनुमान से होता है। ज्ञान के बाद प्रवृत्ति होती है। यदि यह प्रवृत्ति सफल होती है तो ज्ञान का प्रामाण्य ग्रहण होता है, यदि यह प्रवृत्ति विफल होती है तो ज्ञान का अप्रामाण्य होता है। इस प्रकार प्रमाण्य-अप्रामाण्य दोनों ही अनुमान-साध्य हैं। व्यंग्यार्थ के प्रामाण्य अप्रामाण्य भी अनुमान साध्य होने से वह अनुमेयार्थ ही है।

इसका समाधान आनंदवर्धन ने इस प्रकार किया है--प्रामाण्य और अप्रामाण्य के विषय में किसी भी साधन का उपयोग करें, चाहे मीमांसकों के ज्ञातता-सिद्धान्त का अथवा नैयायिकों के `अनुव्यवसाय` सिद्धान्त का परन्तु, शब्द के वाचकत्व रूप व्यापार पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता वैसे ही व्यंग्यार्थ प्रामाण्य-अप्रामाण्य में किसी भी प्रमाण का उपयोग होने से कोई हानि नहीं। इससे व्यंजकत्व व्यापार को पृथक शब्द व्यापार मानने में कोई बाधा नहीं पड़ती।[१]

पुन: लौकिक, तथा वैदिक वाक्यों में तो `प्रामाण्य-अप्रामाण्य का प्रश्न महत्वपूर्ण होता है, वहाँ प्रमाण के उपयोग का भी महत्व हो सकता है। परन्तु काव्य में व्यंग्यार्थ के प्रामाण्य-अप्रामाण्य का प्रयोजन कुछ भी नहीं है, तब प्रमाण प्रयोगों की बात भी उपहासास्पद है। इसलिये सर्वत्र लिंगी प्रतीति ही व्यंग्यप्रतीति नहीं है।[२]

अत: निष्कर्ष रूप में गुणवृत्ति और वाचकत्व आदि से व्यंजकत्व भिन्न ही है।

इस प्रकार आचार्य आनंदवर्धन ने व्यंजकत्व व्यापार, पूर्वकथित सभी व्यापारों से पृथक सिद्ध किया। व्यंग्यार्थ के अस्तित्व का निर्विवाद प्रतिपादन प्रथम उद्योत में किया जा चुका है। व्यंग्य-व्यंजक की सिद्धि हो

---

१. यथा च वाच्यविषये प्रमाणान्तरानुगमेन सम्यक्त्वप्रतीतौ क्वचित् क्रियमाणायां तस्य प्रमाणान्तरविषयत्वे सत्यपि न शब्दव्यापार-विषयताहानिस्तद्वद् व्यंग्यस्यापि। ... पृ. २८५

२. काव्यविषये च व्यंग्यप्रतीतीनां सत्यासत्यनिरूपणस्याप्रयोजकत्व-मेवेति तत्र प्रमाणान्तर व्यापारपरीक्षोपहासायैव सम्पद्यते। तस्माल्लिं-गिप्रतीतिरेव सर्वत्र व्यंग्यप्रतीतिरिति न शक्यते वक्तुम्
ध्व.सी.वि. पृ(२८५

जाने पर इनका परस्पर संबंध स्थापित करने वाला व्यंजना व्यापार भी सिद्ध हो जाता है, क्योंकि यह प्रश्न उठता है कि व्यंग्य भी प्रमाणित हुआ और व्यंजक भी, तब ये किस संबंध द्वारा ? अथवा कहें कि--व्यंजक किस शक्ति द्वारा व्यंग्यार्थ की प्रतीतिं कराता है ? व्यंग्य और व्यंजक में व्यंजना शक्ति ही इस प्रतीति को अपना विषय बनाती है । अत: अब तक कही गई अभिधा , लक्षणा और तात्पर्यवृत्ति से भिन्न व्यंजनावृत्ति स्वीकार करनी होगी । इस रूप में व्यंजना प्रतिपादन का श्रेय आचार्य आनंदवर्धन को ही है इसका आधारभूत स्रोत वैयाकरणों का नाद और स्फोट का व्यंग्य-व्यंजक भाव है, तथापि व्यंग्य-व्यंजक भाव का पूर्ण पल्लवन ध्वन्यालोक में ही है ।

परन्तु , काव्यशास्त्र की इस `अभूतपूर्व उपलब्धि` का विरोध भी हुआ । विद्वानों ने एक सिरे से व्यंग्यार्थ और व्यंजना को अस्वीकृति दी, धनंजय धनिक ने तात्पर्य का अतिविस्तार कर उसी में व्यंजना का पर्यवसान कर उसे भिन्न वृत्ति मानने से इनकार किया । मीमांसक तो इसके सर्वाधिक विरोधी रहे । उन्होंने अभिधा और लक्षणा के अतिरिक्त व्यंजना नाम की कोई वृत्ति हो सकती है, इस पर विश्वास ही नहीं किया। नैयायिक महिम भट्ट ने अलंकारिकों के व्यंग्यार्थ को `अनुमान` के अन्तर्गत कर दिया । `अखंडार्थवादी` वेदांती और वैयाकरणों से भी `व्यंजना` को विरोध ही मिला ।

१.२० आचार्य मम्मट ने `काव्य प्रकाश` के पंचम उल्लास में उपरिकथित सभी व्यंजनाविरोधियों के पूर्वपक्षों को उद्धृत करते हुए सभी मतों में व्यंजना का निर्विवाद अवसर सिद्ध किया है । यह काव्यप्रकाश की अन्यतम उपलब्धि है । सर्वप्रथम आचार्य मम्मट ने व्यंग्यार्थ और वाच्यार्थ का भेद स्पष्ट कर व्यंजना का वाच्यार्थभिन्न अस्तित्व प्रतिपादित किया

---

१. ध्वनिविरोधी आचार्यों के मतों के लिए देखिए लेखक की `व्यंजनावृत्ति : सिद्धि और परंपरा का द्वितीय अध्याय

है--

(१) वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ भेद प्रकरण

वाच्यार्थ, तात्पयार्थ आदि से व्यंग्यार्थ सर्वथा भिन्न है, इस तथ्य को आचार्य मम्मट ने अनेक युक्तियों से सिद्ध किया है। रस की व्यंग्यता से यह प्रसंग प्रारंभ किया गया है ।

रस की प्रतीति व्यंजना द्वारा ही संभव है , रस रूप अर्थ स्वप्न में भी वाच्य नहीं हो सकता' ।[१] यदि रस को वाच्य मानें तो 'रसादि' शब्द द्वारा अथवा रस विशेष के बोधक 'शृंगारादि' शब्दों के प्रयोग से उसकी प्रतीति होनी चाहिए, परन्तु व्यवहार में यह प्रमाणित नहीं होता । रस प्रतीति तो विभावादि के प्रयोग से ही होती है, यह तथ्य अन्वय व्यतिरेक से सिद्ध है।[२] यदि 'विभावादि' का प्रयोग है तो रस प्रतीति भी होगी, यदि प्रयोग नहीं है तो प्रतीति भी नहीं होगी । अतः विभावानुभावसंचारिमुखेन ही रस प्रतीति संभव है । इसलिये रस व्यंग्य ही है।[३] रस की वाच्यता का निषेध तो हुआ पर रस लक्ष्यार्थ भी तो हो सकता है, व्यंग्य ही क्यों ? इस शंका का समाधान करते हुए मम्मटाचार्य कहते हैं कि रस लक्षणीय भी नहीं है, क्योंकि लक्ष्यार्थ की प्रतीति में मुख्यार्थबाधादि तीन बीज अनिवार्य है। रस प्रतीति में , इन तीन अनिवार्य 'बीजों' में से एक भी नहीं है, अतः मुख्यार्थबाधादि के अभाव के कारण रस लक्षणीय नहीं है।[४]

(२) लक्षणामूलक ध्वनि में व्यंजना की अनिवार्यता

आचार्य आनंदवर्धन ने लक्षणामूलक ध्वनि के दो भेद किए हैं। प्रथम अर्थान्तरसंक्रमित और द्वितीय अत्यंततिरस्कृत वाच्य ।[५] इनमें से प्रथम में वाच्यार्थ

---

१. रसादिलक्षणस्त्वर्थः स्वप्नेऽपि न वाच्यः' ।-- काव्य प्रकाश, ५ म उ०,पृ.२११
२. तस्य प्रतिपत्तेश्चैत्यन्वयतिरेकाभ्यां विभावाद्यभिधानद्वारेणैव प्रतीयते ।
वही, पृ. २१७
३. तेनाऽसौ व्यङ्ग्य एव... वही, पृ० २१७
४. मुख्यार्थबाधाद्यभावान्न पुनर्लक्षणीयः । वही, पृ. २१७
५. अविवक्षित वाच्यो यस्तत्र वाच्य भवेद ध्वनौ ।
अर्थान्तरे संक्रमितमत्यंतं वा तिरस्कृतम् ।। वही, च०,उ०, पृ० ३१

प्रकरण के विमर्श से अनुपयुक्त प्रतीत होता है, इसलिये वह अर्थान्तर में संक्रमित हो जाता है। द्वितीय में वाच्यार्थ अनुपपद्यमान होता है और अन्य ही अर्थ की प्रतीति कराता है, इसीलिये इसे अत्यंत तिरस्कृत वाच्य ध्वनि कहा गया है। इन दोनों ही ध्वनि रूपों में प्रयोजन विशेष व्यंग्य होता है, प्रयोजन अभिधा अथवा लक्षणा द्वारा द्योत्य नहीं है। काव्य प्रकाश के द्वितीय उल्लास में इस प्रसंग की विस्तृत व्याख्या है। प्रयोजन विशिष्ट के व्यंग्य होने के कारण ही लक्षणा का अवसर उपस्थित होता है। प्रयोजन के अभाव में लक्षणा प्रवृत्ति ही न हो सकेगी, अत: वस्तुरूप अर्थ की प्रतीति भी व्यंजना द्वारा ही संभव है।[१]

(३) अभिधामूला संलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि और व्यंजना

अभिधामूलक संलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि के तीन भेद हैं--शब्दशक्त्युत्थ, अर्थशक्त्युत्थ और उभयशक्त्युत्थ।

इनमें शब्दशक्त्युत्थ ध्वनि वहां होती है, जहां प्रकरणादि अभिधानियामकों द्वारा शब्द एकार्थ में नियंत्रित हो जाता है और उसके पश्चात् भी अन्य अर्थ की प्रतीति कराता है। यह स्पष्ट है कि अभिधा के नियंत्रित होने पर भी जिस अन्यार्थ की प्रतीति हो रही है, वह अभिधार्थ नहीं है। वह लक्ष्यार्थ भी नहीं है। तब उसे व्यंग्यार्थ ही कहा जाना चाहिए और वह व्यंजना द्वारा ही प्रतीत्य है।[२] अर्थ ही नहीं बरन् वाच्यार्थ और प्राकरणिक अर्थ की उपमानोपमेय भाव प्रतीति भी निर्विवाद रूप से व्यंग्य ही है।

(४) अर्थशक्त्युत्थ ध्वनि में व्यंजना की अनिवार्यता

संलक्ष्यक्रम अर्थशक्त्युत्थ ध्वनि में वाच्यार्थ प्रथमत: उपस्थित होता है, तदनंतर व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है। वाच्यार्थ, वाक्यार्थ ही है। वाक्य

---

१. अर्थान्तरसंक्रमितात्यंततिरस्कृतावाच्ययोर्वस्तुमात्ररूपं व्यंग्य बिना लक्षणैव न भवतीति प्राक् प्रतिपादितम्। वही, पं० उ० पृ.२१७

२. शब्दशक्तिमूले तु अभिधाया नियंत्रणेनानभिधेयस्यार्थान्तरस्य तेन सहोपमादेरलंकारस्य च निर्विवादम् व्यंग्यत्वम्। वही

से अर्थ की निष्पत्ति-विवेचन में मीमांसक अधिकारी माने जाते हैं अत: इस संदर्भ में आचार्य मम्मट ने मीमांसकों के अभिहितान्वयवाद, अन्विताभिधानवाद तथा भट्ट लोल्लटादि के मतों में व्यंजना का अनिवार्य अवसर सिद्ध किया है। मीमांसकों के मत को भली भाँति स्पष्ट करने के लिये संकेतग्रह का विवेचन अनिवार्य है।

संकेतग्रह किसमें हो ? इस प्रश्न के समाधान में मतवैभिन्न्य है। मीमांसक जाति में ही संकेतग्रह मानते हैं। व्यक्ति में संकेतग्रह मानने से `आनंत्य` और `व्यभिचार` दोष उत्पन्न होते हैं। जिस व्यक्तिरूप अर्थ में शब्द का संकेतग्रह हुआ है, उसमें उसी व्यक्ति विशेष अर्थ की प्रतीति होगी। अत: भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की प्रतीति के लिये सबमें पृथक-पृथक संकेतग्रह मानना होगा। इस प्रकार अनन्त संकेतग्रह मानने में अनन्त शक्तियों की कल्पना करनी होगी। इस दोष को `आनन्त्य दोष` कहते हैं। यह भी ध्यान देने की बात है कि व्यक्ति में संकेतग्रह मानने से वर्तमान में स्थिति व्यक्तियों में तो भले ही निर्वाह हो जाय पर भूत तथा भविष्य के व्यक्तियों का क्या होगा, जो वर्तमान में स्थित नहीं है, उनमें संकेतग्रह कैसे होगा ? यदि इस आनन्त्य दोष के परिहार हेतु यह मानलें कि २-४ व्यक्तियों में संकेतग्रह मान लिया जाय और शेष की प्रतीति बिना संकेतग्रह के होती रहेगी, तो `शब्द` संकेतग्रह से ही अर्थ की प्रतीति कराता है --इस नियम का उल्लंघन होने से `व्यभिचार` दोष होगा। इसलिये इन दो, `आनंत्य` और `व्यभिचार` दोषों के कारण व्यक्ति में संकेतग्रह मानना अनुपयुक्त है। व्यक्ति में संकेतग्रह मानने से महाभाष्यकारकृत चतुर्धा शब्द विभाग, १-जाति, २-गुण, ३-क्रिया और ४-यदृच्छा भी संभव न होगा।

मीमांसक गुण, क्रिया और यदृच्छा शब्दों में भी जाति का अनुसंधान कर केवल जाति में ही संकेतग्रह मानते हैं। `अनुगतप्रतीति` के कारण को `सामान्य` अथवा `जाति` कहते हैं।[1] यह अनुगत प्रतीति गुण, क्रिया और यदृच्छा शब्दों में भी होती है। गुण में अनुगतप्रतीति का उदाहरण दूध बरफ, शंख आदि में शुक्लत्व सामान्य की प्रतीति है। ओदन, गुड़ आदि

---

१. `अनुवृत्तिप्रत्यय हेतु: सामान्यम्।`

में पाकत्व सामान्य है, यह किया में जाति का अनुसंधान हुआ । भिन्न-भिन्न व्यक्ति यदृच्छा शब्दों का उच्चारण करते हैं, परंतु परिणाम की प्रक्रिया निरंतर होने के कारण न तो वह वस्तु ही वह रहती है जिसका मान उस यदृच्छा शब्द से होता है और न बोलने वाला ही वह व्यक्ति रहता है जो दा०ा भर पूर्व बोल रहा था, लेकिन फिर भी उस यदृच्छा शब्द से वस्तु का मान होता है अत: उसमें भी सामान्यत्व है। यदृच्छा शब्दों में भी जाति का आधान किया जा सकता है। अत: जाति में ही संकेतग्रह मानना उचित है।

(५) अभिहितान्वयवाद में, अभिधा के द्वारा, पदार्थ सामान्य की ही प्रतीति होती है, तदनंतर आकांक्षा (वक्ता की), सन्निधि और योग्यता के कारण वाक्यार्थ बनता है। अत: अभिहितान्वय में तो अभिधा द्वारा वाक्यार्थ की भी प्रतीति नहीं होती। जब वाक्यार्थ ही वाच्य (अभिधेय) नहीं है तो इसके भी पश्चात् प्रतीत होने वाला व्यंग्यार्थ वाच्य कैसे हो सकता है। आचार्य मम्मट कहते हैं --

'विशेष में संकेतग्रह करना जहां संभव नहीं है, और जातिरूप (सामान्यरूपाणाम्) पदार्थों का परस्पर संसर्ग रूप विशेष अर्थ स्वयं पदों से उपस्थित न होकर (अपदार्थोऽपि) आकांक्षा, सन्निधि और योग्यता के कारण उपस्थित होता है, उस अभिहितान्वयवाद में व्यंग्यार्थ की अभिधेयता की बात ही क्या है'।[१]

अत: अभिहितान्वयवादी मीमांसकों के मत में भी व्यंग्यार्थ अभिधेय नहीं है और वाच्यार्थ से भिन्न है, अत: उसकी प्रतीति के लिये भिन्न शक्ति, व्यंजना माननी होगी।

(६) अन्विताभिधानवाद में भी व्यंग्यार्थ अभिधेय नहीं है। परन्तु इस प्रसंग को आचार्य मम्मट ने, अन्विताभिधानवाद के अनुसार संकेतग्रह आधार से

---

१. अर्थशक्तिमूलेऽपि विशेषे संकेत: कर्तुं न युज्यत इति सामान्यरूपाणां पदार्थानामाकांक्षासन्निधियोग्यतावशात्परस्परसंसर्गो यत्रापदार्थोऽपि विशेषरूपो वाक्यार्थस्तत्राभिहितान्वयवादे का वार्ता व्यंग्यस्याभिधेयताम्। वही पं० उ०, पृ. २१६

प्रारंभ किया है। अन्विताभिधानवाद के स्वरूप को भलीभांति प्रस्तुत करने के लिये यह आवश्यक भी था। संकेतग्रह के आठ आधार--(१) व्याकरण, (२) उपमान, (३) कोश, (४) आप्तवाक्य, (५) व्यवहार (६) वाक्यशेष (७) विवृति और (८) सिद्ध पद का सान्निध्य[1] कहे गए हैं। इनमें व्यवहार प्रमुख है। विशेषत: बालक के लिये 'व्यवहार' की प्रक्रिया इस प्रकार स्पष्ट की है।--

यैऽप्याहु :--

शब्दवृद्धाभिधेयांश्च प्रत्यक्षेणात्र पश्यति।
श्रोतुश्च प्रतिपन्नत्वमनुमानेन चेष्टया ।।१।।

(बालक) वृद्ध तथा अभिधेय (क्रिया) आदि शब्दों को प्रत्यक्ष से देखता है, (सुनाता है, 'पश्यति' में 'शृणोति' का अध्याहार करना होगा, क्योंकि क्रिया तो देखी जा सकती है, शब्द नहीं, अत: प्रत्यक्ष में देखना और सुनना, दोनों मानने होंगे।) श्रोता (मध्यम वृद्ध अथवा सेवक आदि) की चेष्टा से उसके (श्रोता के) ज्ञान का अनुमान करता है।

अन्यथाऽनुपपत्त्या तु बोधेच्छक्तिं द्वयात्मिकाम्।
अर्थापत्त्याऽवबोधेत संबंधं त्रिप्रमाणकम् ।।२।।[2]

(तब वह बालक) अन्यथा अनुपपत्ति (उत्तम वृद्ध द्वारा कहे गए वाक्य और उसके अर्थ में वाचक-वाच्य संबंध है, यदि ऐसा न होता तो मध्यवृद्ध उसके अनुरूप क्रिया कैसे करता? इस अन्यथा अनुपपत्ति) रूप अर्थापत्ति से (वह वाचक-वाच्य रूप) द्वयात्मिका शक्ति को जानता है। इस प्रकार (प्रत्यक्ष, अनुमान और अर्थापत्ति रूप) तीन प्रमाणों से संबंध का अवधारण करता है।

क्योंकि 'व्यवहार' बालक के लिये होता है, अत: उपर्युक्त दोनों श्लोकों के कर्ता 'बालक' ही है। इस प्रक्रिया का अधिक विवृत रूप इस प्रकार है--'उत्तम वृद्ध, पिता आदि, देवदत्त से कहता है--'देवदत्त गाय लाओ' तब

---

१. शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च।
वाक्यस्यशेषाद् विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यत: सिद्धपदस्य वृद्धा: ।।

२. काव्य प्रकाश, पं० उ०, पृ.२२२

देवदत्त (मध्यम वृद्ध) सास्नादिमान अर्थ (गाय) को एक स्थान से दूसरे स्थान पर लाता है। इस प्रकार उत्तम वृद्ध के कहे जाने पर और उस कथन के फलस्वरूप देवदत्त द्वारा गाय के लाए जाने को देखकर बालक यह समझ लेता है कि `इस देवदत्त ने उत्तमवृद्ध के वाक्य का यह अर्थ समझा।` ऐसा वह बालक देवदत्त की चेष्टा से अनुमान कर लेता है और उत्तमवृद्ध के वाक्य और उसके अर्थ के वाचक वाच्य भाव संबंध को अर्थापत्ति प्रमाण से समझ लेता है।` परन्तु यह समझना अखंड वाक्य के अखंड अर्थ के रूप में ही है। पुन: चैत्र (किसी भी व्यक्ति का नाम) `गाय ले जाओ`, अश्व लाओ` आदि इस प्रकार के वाक्य प्रयोगों में `उस-उस` शब्द का `वह-वह` अर्थ है, ऐसी अवधारणा करता है। इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेक से प्रवृत्ति और निवृत्ति करने वाला वाक्य ही प्रयोग के उपयुक्त है। वाक्य में स्थित अन्वित पदों का ही अन्वित पदार्थों के साथ संकेत ग्रह होता है।[१] अर्थात् `गामानय` वाक्य में `आनय` `गाम्`, के साथ अन्वित है और दोनों का संकेतग्रह अन्वित पदार्थों के साथ है। `गामानय` वाक्य के `आनय` का अन्वय `अश्व` के साथ नहीं हो सकता। `अश्वमानय` में `आनय` का अन्वय `अश्व` के साथ होगा।

अतएव परस्पर अन्वित पदार्थ ही वाक्यार्थ है[२]। पहले से अनन्वित पदार्थों का बाद में होने वाला अन्वय वाक्यार्थ नहीं हो सकता। अन्विताभिधानवादियों के अनुसार परस्पर अन्वित पदार्थ ही वाक्यार्थ के रूप में उपस्थित होता है। परंतु, एक शब्द अनेक वाक्यों में प्रयुक्त होता है। यदि एक शब्द का अन्वय व्यक्ति विशेष से स्वीकार कर, एक अर्थ के साथ अन्वित में शक्तिग्रह मानें, तो अन्य वाक्यों में प्रयुक्त होने पर इस शब्द से अर्थ की प्रतीति नहीं हो सकेगी। अत: विशेष अर्थ के साथ अन्वित में संकेतग्रह नहीं

---

१. वाक्यस्थितानामेव पदानामन्वितै: पदार्थैरन्वितानामेव संकेतो गृह्यते। का० प्र०, पं० उ०, पृ० २२४

२. विशिष्ठा एव पदार्था वाक्यार्थों न तु पदार्थानां वैशिष्ट्यम्।

माना जा सकता , सामान्य के साथ अन्विति अर्थ में ही संकेतग्रह मानना होगा । परंतु, अन्विताभिधानवाद में तो परस्पर अन्वित पदार्थों से ही वाक्यार्थ उपस्थित होता है और वाक्यार्थ विशेष अर्थों का परस्पर संबंध रूप होता है । तब विशेष अर्थों का परस्पर संबंध रूप वाक्यार्थ तो अन्विताभिधानवाद के अनुसार प्रतीत नहीं हो सकता, क्योंकि वहां सामान्य के साथ अन्वित में शक्तिग्रह माना गया है । इसका समाधान निम्नलिखित विधि से किया गया है ।

(७) निर्विशेषं न सामान्यम्

इस कथन के अनुसार, बिना विशेष के कोई सामान्य रह ही नहीं सकता । आचार्य विश्वेश्वर के शब्दों में , प्रत्येक सामान्य का पर्यवसान विशेष में होता है । इसलिये सामान्यरूप से अन्वित अर्थ का पर्यवसान भी विशेष में होता है । वाक्य में अन्वित पदार्थ सामान्य नहीं विशेष होते हैं, अत: विशेष के साथ अन्वित अर्थ में संकेतग्रह मानने में कोई हानि नहीं है ।[१] अन्विताभिधानवादियों के मत को आचार्य मम्मट ने इस प्रकार कहा है--

`वाक्यांतर में प्रयुक्त होने पर, प्रत्यभिज्ञा ज्ञान से यह निश्चित हो जाता है कि `वही ` `वही` पद है । अत:, यद्यपि पदार्थ सामान्य के साथ अन्वय होता है, तब भी परस्पर संबद्ध पदार्थों के (व्यतिषिक्तानां पदार्थानाम्) के विशेष रूप ही होने से (तथा भूतत्वाद्), सामान्य से अवच्छादित होने पर भी वह (संकेतग्रह) विशेषरूप (में) ही हो जाता है , यह अन्विताभिधानवादियों का मत है ।`[२]

अत: अन्विताभिधानवाद में सामान्य से अवच्छादित विशेष संकेग्रह का विषय होता है । तब भी वाक्यार्थ के अंतर्गत जो `अतिविशेष` अर्थ है, वह तो असंकेतित होने से अवाच्य ही है । और अवाच्य होने पर भी पदार्थ के रूप में

------ --

१. काव्यप्रकाश, आचार्य विश्वेश्वर की टीका, पृ.२२५

२. यद्यपि वाक्यांतरप्रयुज्यमानान्यपि प्रत्यभिज्ञाप्रत्ययेन तान्येवैतानि पदानि निश्चीयंते इति पदार्थान्तरमात्रेणान्वित: संकेतगोचर: तथापि सामान्यावच्छादितो विशेषरूप एवासौ प्रतिपद्यते, व्यतिषिक्तानां पदार्थानां तथाभूतत्वादित्यन्विताभिधानवादिन: । का०प्र०, पं०उ० पृ० २२५

प्रतीत होता है । ऐसी स्थिति में वाक्यार्थ बोध के भी बाद प्रतीत होने वाले `नि:शेषच्युत... आदि उदाहरणों में निषेध से विधिपरक अर्थ की प्रतीति के वाच्यार्थ होने की चर्चा असंभव ही है ।

अत: अभिहितान्वयवाद में अनन्वित अर्थ अभिधा द्वारा प्रतीत होता है और वही अभिधेय या वाच्य है । अन्विताभिधानवाद में पदार्थ सामान्यसे अन्वित अर्थ वाच्यार्थ होता है । तब अन्वित विशेष अर्थ तो दोनों ही मतों में अवाच्य रहा। वाक्यार्थ तो विशेष अर्थों का ही परस्पर संबंध रूप है और वह दोनों मतों में अभिधा द्वारा उपस्थित नहीं होता, तब वाक्यार्थ के भी अनंतर प्रतीत होने वाला व्यंग्यार्थ अभिधेय कैसे हो सकता है ?

हम पहले कह आए हैं कि अर्थशक्त्युत्थ ध्वनि में पहले वाक्यार्थ ज्ञात होता है तब व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है । अत: आचार्यमम्मट ने यह सिद्ध किया कि मीमांसकों की विचार प्रणाली में वाक्यार्थ ही वाच्य नहीं है, तब `व्यंग्यार्थ अभिधा से ज्ञेय होगा` यह कथन प्रलाप मात्र है । अत: व्यंग्यार्थ की प्रतीति के लिये अभिधा से अतिरिक्त शक्ति माननी होगी और वह शक्ति व्यंजना ही है ।

(८) नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानि कल्प्यन्ते

मीमांसकों की यह भी धारणा है कि व्यंजनावादी जिसे व्यंग्यार्थ कहते हैं उसका आधार भी शब्द ही होता है, अत: शब्द उस अर्थ का निमित्त है । शब्द का उस अर्थ के प्रति यह निमित्त्व ज्ञापक रूप है । अत: अलंकारिकों के व्यंग्यार्थ और शब्द में नैमित्तिकनिमित्त भाव अथवा बोध्य-बोधक भाव संबंध है । नैमित्तिक और निमित्त का यह संबंध बिना किसी शक्ति के नहीं हो सकता और वह शक्ति अभिधा ही है, क्योंकि शब्द में अर्थ की प्रतीति भी अभिधा से हो जाती है, इस लिये व्यंजना नामक किसी शक्ति की कल्पना व्यर्थ है ।

उपर्युक्त धारणा का खंडन करते हुए मम्मट ने कहा है कि उपर्युक्त मत

में शब्द को निमित्त माना है, निमित्त दो ही प्रकार के होते हैं[1]-- १.कारक निमित्त, २. ज्ञापक निमित्त ।

शब्द के प्रकाशक होने के कारण ज्ञापक निमित्तत्व ही बन सकता है, कारक निमित्तत्व नहीं । लेकिन अज्ञात अर्थ में शब्द का ज्ञापकत्व भी कैसे होगा ?[2] क्योंकि ज्ञातत्व संकेतग्रह होने पर ही होता है ।[3] और मीमांसकों के अनुसार, संकेतग्रह सामान्य से अन्वित में होता है । तब `अज्ञात' और संकेतग्रह जिसमें नहीं है, ऐसे व्यंग्यार्थ के प्रति शब्द का ज्ञापकत्व नहीं बन सकता, अत: शब्द उसका निमित्त भी नहीं होगा ।

यदि शब्द का व्यंग्यार्थ के प्रति निमित्तत्व मानना ही है तो शब्द का उस विशेष नैमित्तिक में संकेतग्रह मानना होगा । जब तक यह संभव नहीं है तब तक शब्द से उसकी प्रतीति कैसे मानी जा सकती है ? अत: नैमित्तिक (व्यंग्यार्थ) के अनुरूप निमित्त (शब्द) की कल्पना की जाती है, यह कथन व्यंग्यार्थ के संदर्भ में अविचार मात्र है । मम्टाचार्य की इस तर्क प्रक्रिया का संदोपण इस प्रकार किया जा सकता है--

१. मीमांसक सामान्य से अन्वित से संकेतग्रह मानते हैं ।
२. जब तक शब्द का व्यंग्यार्थ में संकेतग्रह न हो तब तक शब्द उसका निमित्त नहीं बन सकता ।
३. मीमांसक मत में विशेष में संकेतग्रह न होने से, शब्द उस व्यंग्यार्थ का ज्ञापक निमित्त नहीं कहा जा सकता ।

(६) भट्ट लौल्लट का व्यंजना विरोधी पक्ष

(सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरो व्यापार)

भट्ट लौल्लट के अनुसार अभिधा व्यापार ही इषु (बाण) के सदृश `दीर्घदीर्घतर' है । जैसे एक ही बाण क्रमश: कवचछेदन, मर्मभेदन और

---

१. तत्र निमित्तत्वं कारकं ज्ञापकत्वं वा ? का० प्र०,पं० उ० , पृ.२२६
२. अज्ञातस्य ज्ञापकत्वन्तु कथं ? वही, पृ.२२६
३. ज्ञातत्वं च संकेतनैव ? वही, पृ. २२६

प्राणहरण का कार्य करता है, वैसे ही वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य कहे जाने वाले सभी अर्थों की प्रतीति एक ही शक्ति अभिधा हो जाती है। इसलिये अभिधातिरिक्त अन्य किसी शक्ति की कल्पना व्यर्थ है। अपनी मान्यता की प्रामाणिकता स्वरूप भट्ट लोल्लट ने शास्त्रवाक्य `यत्पर: शब्द: स शब्दार्थ:` भी उद्धृत किया है। भट्ट लोल्लट के अनुसार इस शास्त्र वाक्य का अर्थ है कि जिस अर्थ के प्रति शब्द का प्रयोग किया गया है, वही उसका अर्थ है। आलंकारिक जिस अर्थ को व्यंग्यार्थ कहते हैं, यदि उस अर्थ की प्रतीति के लिये शब्द का प्रयोग किया गया है तो वही उस शब्द का अर्थ है। यही अर्थ वहां वाच्यार्थ माना जायगा। इसी प्रकार जहां लक्ष्य कहे जाने वाले अर्थ की कामना से शब्द का प्रयोग किया गया है, वहां वही अर्थ शब्द का वाच्यार्थ होगा। इन अर्थों को लक्ष्यार्थ, व्यंग्यार्थ कहने की आवश्यकता नहीं है, सभी अर्थ वाच्यार्थ ही हैं। शब्द अर्थनिष्ठ होता है और जिस अर्थ के प्रति उसकी `परता` -- `निष्ठा` है, वही अर्थ उस शब्द का वाच्यार्थ है। `नि:शेषच्युत...` आदि श्लोक में विधिरूप अर्थ ही वक्ता की इच्छा है, अत: यह विधिपरक अर्थ ही वाच्यार्थ है। इस तर्क प्रणाली से भट्ट लोल्लट ने अभिधा द्वारा सभी अर्थों की प्रतीति मानकर, लक्षणा और व्यंजना, दोनों ही शक्तियों को अस्वीकार कर दिया है।

आचार्य मम्मट ने इस तर्क प्रणाली को और `यत्पर: शब्द: स शब्दार्थ:` शास्त्र वाक्य के भट्ट लोल्लटकृत अर्थ को असंगत कहा है। भट्ट लोल्लटादि जो इस `तात्पर्यवाचोयुक्ति` का ऐसा अर्थ करते हैं -- मूर्ख हैं, क्योंकि वे अपने ही शास्त्र वचन का सही अर्थ नहीं जानते। इसलिये मम्मट ने इन व्यक्तियों को `देवानांप्रिय` कहा है। आचार्य मम्मट ने स्वयं `यत्पर ...` आदि तात्पर्यवाची युक्ति का वास्तविक अर्थ स्पष्ट किया है। उनके अनुसार इस तात्पर्यवाचोयुक्ति का अर्थ है, `जिस अप्राप्त अंश के बोधन में विधि वाक्य का तात्पर्य होता है, वही उस विधिवाक्य का प्रतिपाद्य अर्थ है।` आचार्य मम्मट ने अपनी विशिष्ट शैली में लिखा है --

'सिद्ध (भूत) और साध्य (भव्य) के साथ साथ उच्चारण किए जाने पर (भूतभव्यसमुच्चारणे) सिद्ध पदार्थ, साध्य अर्थात् क्रिया के लिये उपदिष्ट होता है। (भूतं भव्यायोपदिश्यते इति)। क्रिया पदों से अन्वित (क्रियापदार्थैनान्वीयमाना:) कारक पदार्थ (कारकपदार्था:) प्रधान क्रिया की संपादक (प्रधानक्रिया निवर्तकं) अपनी क्रिया के संबंध से (स्वक्रियासंबधात्) साध्यता को (साध्यमानतां) प्राप्त कर लेते हैं।'[१]

'तदुपरांत, 'अदग्ध दहन न्याय' से जो अप्राप्त होता है उसी का विधान करते हैं।' इसका तात्पर्य यह हुआ कि अग्नि जैसे अदग्ध का ही दहन करती है, उसी प्रकार विधिवाक्य अप्राप्त अर्थ का ही बोध कराते हैं। जैसे दग्ध का दहन नहीं हो सकता, वैसे ही प्राप्त का पुन: प्रापण या बोध क्या होगा ? इसी तथ्य को और भी स्पष्ट करने के लिये आचार्य ने दो उदाहरण दिये हैं --

१-लोहितोष्णीषा: ऋत्विज: प्रचरन्ति

यह विधिवाक्य श्येनयाग के प्रकरण में प्रयुक्त हुआ है। कुछ याग प्रधान होते हैं। प्रधानयागों के साथ कतिपय गौण यागों का भी विधान होता है। प्रधानयाग को 'प्रकृतियाग' और गौण याग को 'विकृतियाग' कहते हैं। प्रकृतियाग में याग के संपूर्ण विधि-विधानों का वर्णन होता है।[२] विकृति याग में संपूर्ण विधानों का वर्णन नहीं होता, प्रकृतियाग की अपेक्षा जो नवीन विधान होते हैं, वही वर्णित होते हैं, शेष सब प्रकृतियाग के विधानवत् ही होता है।[३]

---

१. काव्यप्रकाश, सं० आचार्य विश्वेश्वर, पृ० २३२।

२. यत्र समग्रांगोपदेश: सा प्रकृति:।

३. प्रकृतिवद् विकृति: कर्तव्या:।

`श्येनयाग` का प्रकृतियाग है `ज्योतिष्टोमयाग` । ज्योतिष्टोमयाग में ऋत्विक प्रचरण के संबंध में कहा है--`सोष्णीषा विनीतवसना ऋत्विज: प्रचरन्ति ।` पुन: `श्येनयाग` के संदर्भ में कहा है, `लोहितोष्णीषा ऋत्विज: प्रचरन्ति` । इसमें `सोष्णीषा` ऋत्विक प्रचरण करते हैं, यह तो प्रकृतियाग के विधान से ही प्राप्त है । अप्राप्त अर्थ यहां `लोहितोष्णीषा:` है । इसलिये समस्त वाक्य का विधेय यह `लोहित उष्णीष` ही है । ज्योतिष्टोम याग की अपेक्षा श्येनयाग में ऋत्विकों के उष्णीष लाल रंग के होंगे । अत: `लोहितोष्णीषा:` ऋत्विज: प्रचरंति, यह वाक्य ऋत्विक प्रचरण का बोध कराने के लिये नहीं कहा गया, वरन् `लाल उष्णीष` का बोध कराने के लिये कहा गया है, यही प्रमाणांतर से अप्राप्त था । इसलिए इस अप्राप्त अंश के बोधन में ही उस विधिवाक्य का तात्पर्य है, और यही इसका विधेयांश है ।[1] `यत्पर: शब्द: स शब्दार्थ:, इस तात्पर्यवाचोयुक्ति का यही अर्थ है ।

२- दध्नाजुहोति

यह वाक्य अग्निहोत्र प्रकरण में प्रयुक्त हुआ है । इसके पूर्व `अग्निहोत्रं जुहोति` कहा जा चुका है । अत: हवन का विधान तो पहले से ही प्राप्त है, केवल करण कारक में दही का विधान नवीन है, यह पूर्व से प्राप्त नहीं है, अत: `दध्ना जुहोति` का विधेयांश यही है ।[2] इसलिये जो विधेय है, उसी में तात्पर्य होता है ।[3]

(१०) उपात्तस्यैव शब्दस्यार्थे तात्पर्यं न तु प्रतीतमात्रे

अभी यह कहा गया है कि जो विधेय है, उसी में तात्पर्य होता है । परन्तु तात्पर्य भी वाक्य में प्रयुक्त शब्द के अर्थ में होगा । इसका आशय यह है कि तात्पर्य का वाची शब्द वाक्य में साक्षात् प्रयुक्त होना चाहिए । प्रतीत

---

१. इत्यत्र लोहितोष्णीषत्वमात्रं विधेयं ।

२. दध्ना जुहोति इत्यादौ दध्यादे: करणत्वमात्रं विधेयम् हवनस्यान्यत: सिद्धे: ।

३. ततश्च यदेव विधेयं तत्रैव तात्पर्यम् ।

मात्र होने वाले अर्थ में तात्पर्य नहीं हो सकता । उदाहरण के लिये `पूर्वो धावति` वाक्य लिया जा सकता है, इसमें तात्पर्य `पहले के दौड़ने` में ही है और इस तात्पर्य को प्रकट करने वाले दोनों शब्द वाक्य में उपात्त हैं अत: यह स्पष्ट हुआ कि वाच्य में उपात्त शब्द के अर्थ में ही तात्पर्य होता है, यथाकथंचित् प्रतीत होने वाले अर्थ में नहीं ।

यदि, वाक्य में अनुपात्त शब्द के अर्थ में तात्पर्य माना जाय तो महद् भ्रांति होने लगेगी । `पूर्वो धावति` में `पूर्व:` शब्द सापेक्ष है, `पूर्व:` के साथ ही `अपर:` की प्रतीति भी होती है । क्योंकि, `अपर:` है तभी तो `पूर्व:` कहा जायगा । अत: `अपर:` की प्रतीति होती है । यदि प्रतीत मात्र होने वाले अर्थ में तात्पर्य होने लगा तो `पूर्वो धावति` का तात्पर्य `अपरो धावति` भी हो सकेगा ।[१] जो अनुपयुक्त होगा । अत: वाक्य में उपात्त शब्द के अर्थ में ही तात्पर्य मानना संगत है ।

परंतु, व्यंग्यार्थ को प्रकट करने वाला शब्द वाक्य में उपात्त नहीं होता, इसलिये व्यंग्यार्थ में तात्पर्य नहीं हो सकता । अत: `यत्पर:..` आदि शास्त्रवाक्य व्यंग्यार्थ के लिये उचित तर्क उपस्थित नहीं करते ।

व्यंजनाविरोधी `विषं भक्षय मा चास्य गृहे भुङ्क्था` यह उदाहरण देकर, वाक्य में अनुपात्त शब्द के अर्थ में भी तात्पर्य मानते हैं । इस वाक्य का अर्थ है, 'विष खालो पर इसके घर भोजन मत करो' और इसका तात्पर्य है `इसके घर भोजन नहीं करना चाहिए ।` पर इस अर्थ का वाचक शब्द इस `विषं भक्षय...` आदि वाक्य में उपात्त नहीं है, अत: अनुपात्त शब्द के अर्थ में भी तात्पर्य हो सकता है ।

आचार्य मम्मट `विषं भक्षय..` आदि वाक्य में भी उपात्त शब्द के अर्थ में ही तात्पर्य सिद्ध करते हैं । `विषं भक्षय मा चास्य गृहे भुङ्क्था` एक वाक्य है, इसमें जो `च`-कार है, वह एकवाक्यता सूचक है । इस वाक्य का

---

१. एवं हि `पूर्वो धावति` इत्यादावापरार्थेऽपि क्वचित्तात्पर्यं स्यात् ।

का० प्र० पृ० २३४ ।

तात्पर्य कि 'इसके घर भोजन नहीं करना चाहिए, यह 'मा चास्य गृहे भुड्क्था', इस उपात्त शब्द के अर्थ में ही है। इस प्रकार 'विषं भक्षय..' आदि वाक्य में भी तात्पर्य उपात्त शब्द के अर्थ में ही, अनुपात्त शब्द के अर्थ में नहीं। व्यंजनाविरोधी, 'विषं भक्षय..' आदि को एक वाक्य नहीं मानते। उनके अनुसार दो क्रियापदों से युक्त वाक्यों में अंगांगिभाव नहीं हो सकता।[1] मम्मट 'विषं भक्षय...' आदि वाक्य को सुहृद वाक्य मानते हैं। 'विषं भक्षय' को स्वतंत्र वाक्य मानने से इसका अर्थ अनुपपन्न होगा, क्योंकि कोई भी मित्र, 'विष खालो' यह कैसे कहेगा ? अतः 'विषं भक्षय' और 'मा चास्य गृहे भुड्क्था' में अंगांगि भाव होने से, इन दोनों वाक्यों की एकवाक्यता सिद्ध हो जाती है। इसलिये तात्पर्य भी 'माचास्य गृहे भुड्क्था', इस उपात्त शब्द में ही कहा जायगा।[2]

भट्ट लोल्लट ने कहा था, जितने भी अर्थ है, सभी अभिधा से बोध्य हैं। इसका अंतिम और आद्य उत्तर देते हुए मम्मटाचार्य कहते हैं-- यदि सभी अर्थ अभिधागम्य है, तो मीमांसक लक्षणा भी क्यों मानते हैं, लक्ष्यार्थ[3] की प्रतीति भी दीर्घ-दीर्घतर अभिधा व्यापार से ही हो जायगी तथा 'ब्राम्हण पुत्रस्तेजात:' वाक्य सुनने से उत्पन्न हर्ष और 'ब्राह्मण कन्या ते गर्भिणी' वाक्य जनित 'शोक' भी वाच्य ही क्यों न मान लिए जाय ? क्योंकि सभी अर्थ अभिधाजन्य होते हैं। परंतु, यह उपयुक्त नहीं है। मीमांसा शास्त्र से ही प्रमाण उद्धृत करते हुए आचार्य कहते हैं कि शब्द के अर्थ की प्रतीति में पौर्वापर्य तो मीमांसा में भी माना गया है। यदि सभी प्रतीत्य अर्थ अभिधा बोध्य माने जायं तो यह पौर्वापर्य संभव

---

१. न चाख्यातवाक्ययोर्द्वयोरंगांगिभाव:। पृ. १३६

२. विषभक्षणवाक्यस्य सुहृद्वाक्यत्वेनांगता कल्पनीयेति, 'विषभक्षणादपि दुष्टमेतद्गृहे भोजनमिति सर्वथा मास्य गृहे भुंक्था' इत्युपात्तशब्दार्थे एव तात्पर्यम्। पृ. २३६

३. लक्षणीये प्यर्थे दीर्घदीर्घतराभिधाव्यापारेणैव प्रतीति सिद्धे:, क्वस्मात्क्व लक्षणा ? वही।

नहीं होगा । तथा श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण, स्थान, और समाख्या आदि प्रमाणों में जो बलाबल का निर्णय है, वह भी संभव नहीं होगा । एक ही वाक्य में यदि एकाधिक प्रमाण प्रयोग की अपेक्षा हो तो पूर्व-पूर्व प्रमाण द्वारा कहे गए अर्थ को सबल और उत्तर उत्तर प्रमाण को दुर्बल समझना चाहिए । अर्थात् एक ही वाक्य में 'श्रुति' प्रमाण एक अर्थ कहता हो और लिंगादि अन्य प्रमाण अन्य अर्थ को, तो श्रुति प्रमाण ही प्रामाणिक माना जायगा । सभी अर्थ अभिधाजन्य मान लेने से, मीमांसा शास्त्र का यह निर्णय ही अप्रामाणिक होगा । इसलिये मीमांसकों के मत में भी 'निषेधपरक' वाच्यार्थ से विधिपरक अर्थ की प्रतीति तो व्यंग्य ही माननी होगी । इसप्रकार आचार्य मम्मट ने मीमांसकों के व्यंजनाविरोधी तर्कों का खंडन कर व्यंजना की अनिवार्यता सिद्ध की ।

(११) कतिपय अन्य दृष्टियों से भी व्यंग्यार्थ की वाच्यता का निराकरण

१. 'कुरु रुचिम्'--इन दो पदों का क्रम उलट कर यदि 'रुचिं कुरु' इस प्रकार लिखा जाय तो इसमें अश्लीलता दोष आ जाता है, क्योंकि तब 'चिंकु' सुनाई पड़ता है, जो अश्लीलार्थ का वाचक है । पर यह अश्लील अर्थ न तो 'रुचि' का वाच्यार्थ है और न 'कुरु' का । तब इस अश्लील अर्थ की प्रतीति में किस वृत्ति को माना जाय ? यह अभिधाजन्य तो कहा नहीं जा सकता । इसका होना व्यवहार से सिद्ध है ही , इस प्रकार के प्रयोग काव्य में वर्जनीय भी माने गए हैं । ये अर्थ अत: व्यंग्य ही है और इसकी प्रतीति व्यंजना से ही मानी जायगी ।

२. नित्यानित्य दोष व्यवस्था-- काव्यशास्त्र में दो प्रकार के दोष माने गए हैं, नित्य और अनित्य । व्यंग्य-व्यंजक भाव स्वीकार करने पर ही यह दोष व्यवस्था संभव है । आचार्य विश्वेश्वर के अनुसार 'व्यंग्य-व्यंजक भाव को अलग मानने पर व्यंजनावृत्ति से घोत्य भिन्न-भिन्न रसों के अनुकूल अथवा प्रतिकूल होने के आधार पर नित्य-अनित्य दोषों

की व्यवस्था बन सकती है [1] , दोषव्यवस्था के प्रसंग को आचार्य मम्मट ने निम्नलिखित शब्दों में कहा है--

'यदि वाच्यवाचक भाव से व्यतिरिक्त, व्यंग्य-व्यंजक भाव स्वीकार नहीं किया जाता तो' असाधुत्व' आदि नित्य दोष और श्रुतिकटुत्वादि अनित्य दोष, यह नित्यानित्य दोष विभाजन अनुपपन्न हो जायगा । परंतु यह विभाजन दिखलाई पड़ता है । वाच्य-वाचक भाव से भिन्न व्यंग्य-व्यंजक भाव का आश्रय ग्रहण करने से, व्यंग्य के बहुविध होने से कहीं किसी के औचित्य और कहीं अनौचित्य के कारण यह नित्यानित्य दोष विभाग व्यवस्था संभवहोती है ।' [2]

३.काव्य गुण की दृष्टि से काव्य में, एक ही अर्थ के अनेक पर्यायवाची शब्द में से किसी विशेष का प्रयोग करने से, विशेष चमत्कार उत्पन्न हो जाता है । इस तथ्य की व्याख्या, व्यंग्य-व्यंजक भाव माने बिना नहीं हो सकती । वाच्यार्थ की दृष्टि से तो सभी पर्यायवाची समान हैं, अत: विशेष पद के प्रयोग से विशेष चमत्कार नहीं होना चाहिए । परंतु , विशेष चमत्कार का होना व्यवहार सिद्ध है, अत: वाच्य-वाचक भाव से व्यतिरिक्त व्यंग्य-व्यंजक भाव संबंध मानना ही होगा । निम्नलिखित उदाहरण--

द्वयं गतं संप्रति शोचनीयतां ।
समागमप्रार्थनया कपालिन: ।।

'कपाली (महादेवजी) से समागमेच्छा के कारण अब दोनों (चन्द्रकला और पार्वती) शोचनीय हो गई ।'

यहाँ'कपालिन:' प्रयोग से भगवान शिव की दरिद्रता और बीभत्सता की अभिव्यक्ति होती है, इसीलिये, ऐसे शिव से समागमेच्छा के

---

१. काव्यप्रकाश, सं० आचार्य विश्वेश्वर, पृ. २४०

२. वाच्यवाचकभाव व्यतिरेकेण व्यंग्यव्यंजकताश्रयणे तु व्यंग्यस्य बहुविधत्वात्, क्वाचिदेव कस्यचिदेवौचित्येनोपपद्यते एव विभाग व्यवस्था । का०प्र०,पृ.२४१

कारण चंद्रकला और पार्वती शोचनीय है, अत: अर्थ संगत लगता है। यदि 'कपालिन:' के स्थान पर 'पिनाकी' होता तो यह अर्थसंगति ही नहीं होती। वाच्यार्थ की दृष्टिसे, कपाली और पिनाकी समान हैं, तब इनमें से एक के प्रयोग से ही विशेष चमत्कार सृष्टि, व्यंग्य-व्यंजक भाव की प्रामाणिकता सिद्ध करती है। यहां 'पिनाकी' की अपेक्षा 'कपाली' में काव्यानुगुणत्व अधिक है।

१.२१ वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ की भिन्नता के अन्य प्रमाण

(१) वाच्यार्थ सभी श्रोताओं (प्रतिपत्तृन्) के लिये एक रूप होता है, अत: उसका स्वरूप भी निश्चित होता है। उदाहरणार्थ। 'गतोऽस्तमर्क:' (सूर्य अस्त हो गया) वाक्य का वाच्यार्थ निश्चित है। पर इसी वाक्य का व्यंग्यार्थ प्रकरण विशेष के[1] वक्ता, श्रोता आदि की भिन्नता के कारण अनेक रूप हो जाता है।

(२) स्वरूपगत भेद--वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में स्वरूपगत भेद भी है। कहीं वाच्यार्थ विधिपरक होता है और व्यंग्यार्थ निषेधपरक,[2] कहीं इसके विपरीत स्थिति होती है। 'नि:शेषच्युत...' आदि श्लोकों में वाच्यार्थ निषेधपरक है कि 'दूती नायक के पास नहीं गई' परन्तु व्यंग्यार्थ विध्यर्थक है कि 'दूती उस अधम नायक के पास अवश्य गई है।'

(३) कालगत भेद--वाच्यार्थ की प्रतीति के[3] पश्चात् व्यंग्यार्थ की प्रतीति होने से इनमें कालगत भेद भी है।

---

१. प्रतीयमानस्तु तत्तत्प्रकरणवक्तृप्रतिपत्त्रादिविशेषसहायतया नानात्वं भजते
 का० प्र०, पृ० २४२।

२. नि:शेषच्युतचंदनस्तनतटं निर्मृष्टरागोधरो--
 नेत्रे दूरमनंजने पुलकिता तन्वी तवेयं तनु:।
 मिथ्यावादिनि दूति बांधवजनस्याज्ञातपीडागमे
 वापीं स्नातुमितो गतासि न पुनस्तस्याधमस्यांतिकम्।।

३. पूर्वपश्चाद् प्रतीते: कालस्य।

(४) आश्रय भेद--वाच्यार्थ मात्र शब्दाश्रित है, परंतु व्यंग्यार्थ, शब्द, उसके अंश, अर्थ, वर्ण, वर्ण-संघटना आदि पर भी आश्रित रह सकता है।

(५) निमित्त भेद--वाच्यार्थज्ञान का निमित्त शब्दानुशासन ज्ञान है, व्यंग्यार्थ प्रतीति में प्रकरणादि की सहायता, प्रतिभा का नैर्मल्य (सहृदयत्व) आदि अनेक निमित्त हैं।

(६) वाच्यार्थ का ज्ञाता मात्र बोद्धा कहा जाता है, व्यंग्यार्थ का ज्ञाता 'विदग्ध' है।

(७) कार्य भेद--वाच्यार्थ केवल प्रतीति कराता है, व्यंग्यार्थ चमत्कृति का जनक है (प्रतीतिमात्रचमत्कृत्योश्च)·

(८) संख्या भेद--वाच्यार्थ एकरूप होता है, व्यंग्यार्थ अनेक रूप।

(९) विषयगत भेद--कभी कभी, कथन के वाच्यार्थ का विषय कोई होता है और व्यंग्यार्थ का विषय कोई अन्य ही, जैसे इस श्लोक में--

कस्य वा न भवति रोषो दृष्ट्वा प्रियायाः सव्रणमधरम्,
सभ्रमर पद्माघ्रायिणि वारितवामे सहस्वेदानीम्।।

एक सखी अपनी दुष्टा सखी से कह रही है--

'किसे (अपनी) प्रिया के सव्रण अधर देख कर रोष नहीं होगा, मना करने पर भी भ्रमर सहित पद्म सूंघने वाली, अब सहो।'

वस्तुतः दुष्टा स्त्री के अधर पर परपुरुषोपभोग जनित दंतक्षत है, इसे देखकर पति रुष्ट होगा, अतः पति के रोष से बचाने के लिये सखी यह श्लोक कह रही है। पति कहीं पास ही है, पर सखी ऐसा बहाना कर रही है मानो उसे पति की उपस्थिति ज्ञात नहीं है। वास्तव में वह पति को ही सुना रही है कि तुम्हारी स्त्री के अधर पर भ्रमर दंश जन्य क्षत है, परपुरुष जन्य नहीं।

यहां, वाच्यार्थ का विषय दुष्टा स्त्री है और व्यंग्यार्थ का विषय पति। वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में इतने भेद हैं, फिर भी कोई इन्हें

एक ही कहे तो वह नीले और पीले रंग को एक मानने के समान होगा ।[१]

अत: व्यंग्यार्थ, वाच्य से सर्वथा भिन्न है और उसकी प्रतीति के लिये व्यंजना माननी होगी ।

व्यंग्यार्थ, तात्पर्यार्थ से भी भिन्न है । गुणीभूत व्यंग्य के असुंदर नामक भेद के उदाहरण --

वाणीर कुंजोड्डीन शकुनिकुलकोलाहल शृण्वंत्या: ।
गृहकर्म व्यापृताया वध्वा: सीदन्त्यंगानि ।।

में `संकेत देनेवाला नायक कुंज में प्रविष्ट हो गया ।` यह व्यंग्यार्थ है । परंतु, इसकी प्रतीति कराकर भी वाच्यार्थ अपने ही स्वरूप में विश्रांत होता है । यहां व्यंग्यार्थ अतात्पर्य विषयीभूत अर्थ है । वह किसी शब्द से अभिहित न होकर प्रतीत मात्र हो रहा है, यह प्रतीति भला किस व्यापार का आश्रय लेकर हो रही है ।[२]

अत: व्यंग्यार्थ, वाच्यार्थ, तात्पर्यविषयीभूत अर्थादि से भिन्न ही है और इस व्यंग्यार्थ की प्रतीति व्यंजना नामक व्यापार से ही संभव है । इस प्रकार व्यंग्यार्थ के वाच्यार्थ से भिन्न सिद्ध होने पर व्यंजनाविरोधी उसे लक्ष्यार्थ में अंतर्भावित करना चाहते हैं । इसलिये मम्मटाचार्य ने व्यंग्यार्थ की लक्षणागम्यता का भी निषेध किया है ।

१.३२ व्यंजना की लक्षणागम्यता का निषेध

(१) पूर्वपक्ष--व्यंजनावादियों ने कहा है कि`प्रतीयमानस्तु नानात्वं भजते ।` अर्थात् प्रतीयमान अर्थ अनेकरूप होता है । व्यंजना को , लक्षणा में और व्यंग्यार्थ को लक्ष्यार्थ में अंतर्भावित करने वाले व्यंजनाविरोधी लक्षणीय अर्थ को भी अनेक रूप वाला मानते हैं । अपनी इस मान्यता के प्रमाणस्वरूप

---

१. भेदेऽपि यद्यैकत्वं, तत्कचिदपि नीलपीतादौ भेदो न स्यात् । का० प्र०, पृ. २४४

२. कस्य व्यापारस्य विषयतामवलंबतामिति । वही पृ.२४६

`कामं संतु दृढं कठोरहृदयो रामोस्मि सर्वं सहे` तथा `रामेण प्रियजीवितेन नु कृतं प्रेम्णः प्रिये नोचितम्` आदि उदाहरण प्रस्तुत करते हैं । इन उदाहरणों में `राम` शब्द का वाच्यार्थ दशरथपुत्र राम ही है परंतु लक्ष्यार्थ दोनों उदाहरणों में क्रमशः अतीव दुःख सहिष्णु राम` तथा `निष्करुणराम है । अतः (१) लक्ष्यार्थ भी अनेक रूप वाला होता है (लक्षणीयोऽप्यर्थो नानात्वं भजते) । (२) विशेष व्यपदेश का हेतु है (विशेषव्यपदेश हेतुश्च भवति) । (३) शब्द और अर्थ दोनों से उसका अवगम होता है (तदवगमश्चशब्दार्थायत्तः) । (४) प्रकरणादि विमर्श की भी अपेक्षा होती है (प्रकरणादिसव्यपेक्षाश्चेति) । इस प्रकार व्यंजनावादी ने जो विशेषताएं व्यंग्यार्थ में मानी हैं, वे सभी लक्ष्यार्थ में भी हैं, अतः व्यंग्यार्थ का अंतर्भाव लक्ष्यार्थ में ही हो जाता है, तब यह नूतन प्रतीयमान नाम से कहा जाने वाला क्या है (कोऽयं नूतनः प्रतीयमानो नाम) ।

(२) उत्तरपक्ष--व्यंजनाविरोधियों के उपर्युक्त तर्कों का आचार्य मम्मट ने युक्तिसंगत खण्डन किया है । मम्मटाचार्य की तर्कप्रणाली इस प्रकार है --

१. यह ठीक है कि लक्षणीय नानात्व को धारण करता है, तब भी लक्ष्यार्थ अनेकार्थक शब्द के अभिधेयार्थ के सदृश नियतरूप वाला ही है (अनेकार्थशब्दाभिधेयवन्नियतत्वमेव) । मुख्य अर्थ से असंबंधित अर्थ लक्षणा द्वारा नहीं लक्षित होते (न खलु मुख्येनार्थेना नियतसंबंधी लक्षयितुं शक्यते) । इसलिये लक्ष्यार्थ यद्यपि अनेक रूप होता है, तथापि वे सभी अर्थ निश्चित रूप से मुख्यार्थ से ही संबंधित होंगे । मुख्यार्थ से योग (तद्योगे) की शर्त उसमें अनिवार्य है ।

परंतु, प्रतीयमान अर्थ कहीं प्रकरणादि के कारण, मुख्यार्थ[१] से नियत संबंध स्वरूप वाला होता है । जैसे `श्वश्रुरत्र निमज्जति....

---

१. श्वश्रुरत्र निमज्जति अत्राहं दिवसकं प्रलोकय ।
मा पथिक रात्र्यन्ध शय्यायां मम निमंक्ष्यसि ।।

आदि श्लोक में मुख्यार्थ और व्यंग्यार्थ में नियत संबंध है। क्योंकि, मुख्यार्थ में खाट पर गिरने का निषेध है, व्यंग्यार्थ में आमंत्रण है, अत: मुख्यार्थ और व्यंग्यार्थ में विरोध संबंध है और यह संबंध प्रसिद्ध है। कुछ लोगों के अनुसार मुख्यार्थ और व्यंग्यार्थ का विषय एक होने पर नियत संबंध होता है। इस दृष्टि से भी यह श्लोक नियत संबंध का उदाहरण है, क्योंकि यहाँ मुख्यार्थ और व्यंग्यार्थ दोनों का विषय पथिक ही है।

कहीं प्रतीयमानार्थ अनियत संबंध स्वरूप होता है। जैसे 'कस्य[1] वा न... आदि श्लोक में वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में कोई संबंध नहीं है। इनके विषय भी पृथक पृथक हैं। वाच्यार्थ का विषय सखी है और व्यंग्यार्थ का विषय पति। अत: यहाँ प्रतीयमानार्थ मुख्यार्थ के साथ अनियत संबंध वाला है।

प्रतीयमानार्थ, मुख्यार्थ के साथ परंपरित संबंध वाला भी हो सकता है। जैसे 'विपरीतरते[2]...', आदि श्लोक में। इस श्लोक का अर्थ है -- विपरीत रति के समय, नाभिकमल में स्थित ब्रह्मा को देखकर, रसाकुला लक्ष्मी हरि के दक्षिण नेत्र को ढंक देती है।

परंपरा से यह प्रसिद्ध है कि हरि का दक्षिण नेत्र सूर्य है, अत: लक्ष्मी उसे ढंकती है, सूर्य के ढंकने से नाभि कमल भी संकुचित हो जाएगा और ब्रह्मा उसमें बंद होने से लक्ष्मीजी की रतिक्रीड़ा न देख पाएंगे। मुख्यार्थ के साथ यह व्यंग्यार्थ परंपरा से प्राप्त रूढ़ि के कारण है। आचार्य मम्मट की शैली में इसे देखें --

---

१. कस्य वा न भवति रोषो दृष्ट्वा प्रियाया: सव्रणमधरम्
सभ्रमरपद्माघ्रायिणि वारितवामे सहस्वेदानीम् ।।

२. (स्मरसिक्त) विपरीतरते लक्ष्मी ब्रह्माणं दृष्ट्वा नाभिकमलस्थम् ।
हरिर्दक्षिणनयनं रसाकुला झटिति स्थगयति ।।

इत्यादौ सम्बद्धसम्बन्ध: । अत्र हि हरिपदेन दक्षिण-
नयनस्य सूर्यात्मकता व्यंज्यते । तन्निमीलनेन, सूर्यास्तमय:
तेन पद्मस्य संकोच: ततो ब्रम्हण: स्थगनं, तत्र सति गोप्या-
द्गस्यादर्शनेन अनिर्यन्त्रणं निधुवनविलसितमिति ।[1]

अत: लक्ष्यार्थ की अनेकविधता मुख्यार्थ से बंधी है, पर व्यंग्यार्थ का नानात्व तो स्वतंत्र है । और भी , लक्ष्यार्थ में मुख्यार्थबाधादि अनिवार्य है, परंतु 'श्वश्रु रत्र.... , आदि श्लोक में मुख्यार्थ बाध हुए बिना ही व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है । जैसे अभिधा संकेतग्रह की अपेक्षा करती है (समयव्यपेक्षा) वैसे ही लक्षणा को मुख्यार्थ बाधादि तीन शर्तों की अपेक्षा है [2]। इसी लिये लक्षणा को अभिधा की पुच्छभूता कहते हैं ।[3] इसके अतिरिक्त भी लक्ष्यार्थ से व्यंग्यार्थ को पृथक सिद्ध करने वाले तथ्य निम्नलिखित हैं --

१-लक्षणा के पश्चात् व्यंग्यार्थ की प्रतीति देखी जाती है (तदनुगमनेन तस्य दर्शनात्) ।

२- लक्षणा के बिना भी केवल अभिधा के आश्रय से भी व्यंजना होती है ।

३-व्यंजना, अभिधा और लक्षणा दोनों की अनुसारिणी नहीं (न चोभयानुसार्येव) ।क्योंकि अवाचक वर्णों के द्वारा भी व्यंजना देखी जाती है ।

४-व्यंजना शब्द पर ही निर्भर नहीं है अशब्दात्मक कटाक्षादि में भी वह प्रसिद्ध है (न च शब्दानुसार्येव अशब्दात्मकनेत्रत्रिभागावलोकनादिगत-त्वेनापि तस्य प्रसिद्धे:) लेकिन अभिधा और लक्षणा तो शब्दानुसारिणी है ।

१.काव्यप्रकाश, पृ० २५२

२.तथा मुख्यार्थबाधादित्रयसमयविशेषव्यपेक्षा लक्षणा ।

३.अतएवाभिधापुच्छभूता सेत्याहु: ।

अत: व्यंग्यार्थ लक्ष्यार्थ से सर्वथा भिन्न है । इसलिये अभिधा, तात्पर्य और लक्षणात्मक व्यापारों के पश्चात् होने वाले, ध्वनन आदि पर्यायों से प्रसिद्ध व्यंजना व्यापार अस्वीकार नहीं किया जा सकता ।

१.२३ वेदांतियों का अखंडार्थतावाद और व्यंजना

वेदांती, पदार्थ-संसर्ग-बोधरूप वाक्यार्थ के अतिरिक्त, ऐसे भी वाक्य मानते हैं, जो पदार्थ संसर्ग बोध उत्पन्न नहीं करते । इस प्रकार के वाक्यों को वे अखंडवाक्य कहते हैं । लक्षणवाक्य, मुख्यत: इस अखंड वाक्य कोटि में आते हैं । ये वाक्य स्वरूप मात्र का बोध कराते हैं । समस्त लक्षणपरक वाक्य 'संसर्गगोचरप्रमिति' के जनक होने से 'अखंडार्थ वाक्य' कहलाते हैं । 'तत्त्वमसि', 'सोऽयं देवदत्त:' आदि वेदांतियों के ऐसे ही अखंडवाक्य हैं । अखंडार्थ वाक्य विषयक एक अन्य धारणा भी है । क्रिया कारक ज्ञान से उत्पन्न होने वाले शब्दबोध को सखंडबोध कहा जाता है, क्योंकि वाक्य को क्रिया कारकादि में विभक्त किया गया है । इसके विपरीत ऐसे वाक्य जिसमें क्रिया कारकादि का विभाजन न हो सके अखंड वाक्य कहलाते हैं ।

वेदांत में ब्रह्म मात्र सत्य है, शेष मिथ्या । अत: वेदांतानुसार धर्म-धार्मि भाव क्रिया-कारक भावादि सब मिथ्या है, यह पारमार्थिक दृष्टि से है । व्यावहारिक दृष्टि से वेदांती संसार को सत्य मानते हैं । व्यावहारिक दृष्टि से ही अभिधा और लक्षणा भी मानते हैं, 'तत्त्वमसि' महावाक्य की अर्थप्रतीति के लिये वेदांती लक्षणा के जहत्स्वार्था और अजहत्स्वार्था, ये दो ही नहीं, एक तृतीय भेद और 'जहदजहल्लक्षणा' भी मानते हैं ।

उपरिकथित अखंडवाक्यों से अखंड बुद्धि ही उत्पन्न होती है, इस अखंड बुद्धि से निग्राह्य ब्रह्म उन अखंड वाक्यों का वाच्यार्थ होता है और वाक्य उसका वाचक, यह वेदांतियों का मत है ।

आचार्य मम्मट कहते हैं कि जहां तक पारमार्थिक दृष्टि का प्रश्न है, ठीक है, परंतु व्यावहारिक दृष्टि से तो वेदांती भी वाक्य में पद-पदार्थ मानेंगे। इस स्थिति में 'नि:शेषच्युत...' आदि श्लोकों में निषेध वाक्य से जो विधिपरक अर्थ की प्रतीति होती है, उसे व्यंजना का ही विषय मानना होगा। जब, वेदांती व्यावहारिक दशा में अभिधा और लक्षणा मानते हैं, तब पद-पदार्थ और अर्थ के विभिन्न रूप भी स्वीकार करने चाहिए। अत: निषेधपरक वाक्यों से विध्यर्थक जो प्रतीति है, उसे भी मानना होगा। इसकी प्रतीति अभिधा, लक्षणा से हो नहीं सकती, अत: इनकी प्रतीति के लिये व्यंजना माननी ही होगी। वेदांतियों की व्यावहारिक दशा में ऐसे अर्थ भी सत्य हैं, तब इनकी प्रतीति कराने वाली व्यंजना भी सत्य है।

'अखंडबुद्धि से गृहीत (अखंडबुद्धिनिर्ग्राह्य:) वाक्यार्थ ही वाच्य है (वाक्यार्थ एव वाच्य:) अखंड वाक्य (वाक्यम्) ही उसका वाचक (वाचकम्) है।' जो वेदांती उपर्युक्त मान्यता रखते हैं, ऐसा कहते हैं (येऽप्याहु:) वे भी अभिधा की स्थिति में (तैरप्यविद्यापदपतितै:), पद-पदार्थ कल्पना करते ही हैं। अत: उनके पक्ष में भी (तत्पक्षेऽपि) उक्त उदाहरण में विधिपरक अर्थ (विध्यादि:) अवश्य ही (अवश्यमेव) व्यंग्य है।'[1]

वेदांतियों के इस मत के साथ आचार्य मम्मट ने वैयाकरणों के अखंडवाक्यार्थतावाद में भी व्यंजना का अवसर प्रतिपादित कर दिया है। वैयाकरण, पदार्थों का समष्टिरूप वाक्यार्थ मानते हैं पृथक-पृथक पदों का कोई

---

१. अखंडबुद्धिनिर्ग्राह्यो वाक्यार्थ एव वाच्य:, वाक्यमेव च वाचकम्, इति येऽप्याहु: तैरप्यविद्यापदपतितै: पदपदार्थकल्पना कर्तव्यैवेति तत्पक्षेऽपि अवश्यमुक्तोदाहरणादौ विध्यादिर्व्यंग्य एव।

-- काव्यप्रकाश, पृ. २५७

मानते हैं। व्यावहारिक दृष्टि से ही अभिधा और लक्षणा भी मानते हैं, 'तत्वमसि' महावाक्य की अर्थप्रतीति के लिये वेदांती लक्षणा के जहत्स्वार्था और अजहत्स्वार्था, ये दो ही नहीं, एक तृतीय भेद और 'जहदजहल्लक्षणा' भी मानते हैं।

उपरिकथित अखंडवाक्यों से अखंड बुद्धि ही उत्पन्न होती है, इस अखंड बुद्धि से निग्राह्य ब्रह्म उन अखंड वाक्यों का वाच्यार्थ होता है और वाक्य उसका वाचक, यह वेदांतियों का मत है।

आचार्य मम्मट कहते हैं कि जहां तक पारमार्थिक दृष्टि का प्रश्न है, ठीक है, परंतु व्यावहारिक दृष्टि से तो वेदांती भी वाक्य में पद-पदार्थ मानेंगे। इस स्थिति में 'नि:शेषच्युत....' आदि श्लोकों में निषेध वाक्य से जो विधिपरक अर्थ की प्रतीति होती है, उसे व्यंजना का ही विषय मानना होगा। जब, वेदांती व्यावहारिक दशा में अभिधा और लक्षणा मानते हैं, तब पद-पदार्थ और अर्थ के विभिन्न रूप भी स्वीकार करने चाहिए। अत: निषेधपरक वाक्यों से विध्यर्थक जो प्रतीति है, उसे भी मानना होगा। इसकी प्रतीति अभिधा, लक्षणा से हो नहीं सकती। अत: इनकी प्रतीति के लिये व्यंजना माननी ही होगी। वेदांतियों की व्यावहारिक दशा में ऐसे अर्थ भी सत्य हैं, तब इनकी प्रतीति कराने वाली व्यंजना भी सत्य है--

'अखंडबुद्धि से गृहीत (अखंडबुद्धिनिग्राह्य:) वाक्यार्थ ही वाच्य है (वाक्यार्थ एव वाच्य:) अखंड वाक्य (वाक्यम्) ही उसका वाचक (वाचकम्) है।' जो वेदांती उपर्युक्त मान्यता रखते हैं, ऐसा कहते हैं (येऽप्याहु:) वे भी अविद्या की स्थिति में (तैरप्यविद्यापदपतितै:), पद पदार्थ कल्पना करते ही है। अत: उनके पक्ष में भी (तत्पक्षे पि) उक्त उदाहरणादि में

अर्थ नहीं होता । व्याकरण में जो पद-प्रकृति-प्रत्यय भेद हैं, वह बाल बुद्धिवालों के लिये है । पद-प्रकृति भेद मार्ग असत्य है, पर यह सत्य तक पहुंचने के लिये आवश्यक है । जैसे वेदांती व्यावहारिक दृष्टि से संसार को सत्य मानते हैं वैसे ही व्यावहारिक दृष्टि से वैयाकरणों का पद-प्रकृति-विभाजन भी सत्य है, वस्तुत: वेदांती और वैयाकरण दोनों ही अखंडार्थवादी हैं ।

१.२४ नैयायिक महिमभट्ट और व्यंजना

महिम भट्ट आलंकारिकों के 'व्यंग्यार्थ' को अनुमान प्रक्रियालभ्य अर्थ मानते हैं । शब्द और अर्थ में संबंध है , इसीलिये यह भी स्वीकार करना होगा कि शब्द से असंबद्ध अर्थ की प्रतीति नहीं होती । यदि शब्द से असंबद्ध अर्थ की प्रतीति मानी जाने लगी तो जिस किसी शब्द से जिस किसी भी अर्थ की प्रतीति का अवसर उत्पन्न होने लगेगा । अत: शब्द और अर्थ में एक निश्चित भाव संबंध माना होगा । यह संबंध-व्याप्ति होने के कारण और अर्थ के शब्द रूप पक्ष में रहने से, पक्ष में रहने की शर्त पूर्ण होने के कारण, व्यंजना का अंतर्भाव अनुमान प्रक्रिया में हो जाता है । महिमभट्ट के इस पक्ष को काव्यप्रकाशकार ने इस प्रकार उद्धृत किया है --

'व्याप्तियुक्त (व्याप्तित्वेन) और नियतधर्मी अर्थात् पक्ष में रहने के कारण (नियतधर्मिनिष्ठत्वेन) तीन रूपों वाले लिंग से लिंगी का जो अनुमान है, उसी में व्यंजना का भी पर्यवसान हो जाता है ।'[१]

---

१. काव्यप्रकाश, पृ.२५८

न्याय प्रक्रिया के हेतु (लिंग) में `पक्षसत्वत्व,` ,`सपक्षसत्वत्व` और `विपक्षव्यावृतत्व` ये तीन विशेषताएं अपरिहार्य हैं। `पक्ष` वह है जिसमें साध्य संदिग्ध होता है,[१] जैसे `पर्वतो वह्निमान्` उदाहरण में पर्वत पक्ष है क्योंकि इसी में `साध्य अग्नि` की स्थिति सिद्ध करनी है। अतः हेतु को पक्ष में रहना चाहिए। सपक्ष वह है जिसमें `साध्य` की स्थिति निश्चित हो।[२] `पर्वतो वह्निमान्` उदाहरण में जैसे महानस, जिसमें अग्नि की उपस्थिति निश्चित है। जिसमें साध्य का अभाव निश्चित हो वह `विपक्ष`[३] कहलाता है। इसी उद्धरण वाक्य के प्रसंग में `सरोवर` विपक्ष है, क्योंकि उसमें साध्य `अग्नि` का असंदिग्ध अभाव है। ये तीन--`पक्षसत्व, `सपक्षसत्व` और `विपक्षव्यावृत्ति` अर्थात् पक्ष में स्थिति और विपक्ष में स्थिति का अभाव, हेतु के गुण हैं। इसी लिये महिमभट्ट ने त्रिरूप वाले लिंग से होने वाला `अनुमान`, ऐसा कहा है। अनुमान प्रक्रिया की दो और अपेक्षाएं हैं, व्याप्ति और पक्षधर्मता।[४] स्वाभाविक संबंध को व्याप्ति[५] कहते हैं, और पक्षधर्मता का अर्थ है हेतु का पक्ष में रहना। इस प्रकार की अनुमान प्रक्रिया में महिमभट्ट ने व्यंजना का पर्यवसान माना है। महिमभट्ट के अनुसार भ्रम धार्मिक[६] ... ` आदि श्लोक में अनुमान प्रक्रिया इस प्रकार होगी -

---

१. संदिग्धसाध्यवान् पक्षः। तर्कभाषा, पृ. ८६

२. निश्चितसाध्यवान् सपक्षः। वही, पृ. ८६

३. निश्चितसाध्याभाववान् विपक्षः। वही, पृ.८६

४. वही, पृ.८८

५. वही, पृ.७२

६. भ्रम धार्मिक विश्रब्धः स श्वाऽद्य मारितस्तेन।
गोदावरीकच्छकुंजवासिना दृप्तसिंहेन।

'इस गृह में श्वान के न रहने से विहित भ्रमण[1] (अत्र गृहे श्वनिवृत्या भ्रमणं विहितं) गोदावरी तीर पर उपलब्ध सिंह के कारण अभ्रमण का अनुमान कराता है (गोदावरी तीरे सिंहोपलब्धेरभ्रमणमनुमापयति) । क्योंकि जो जो स्थान भीरु भ्रमण के योग्य हैं वे भय-कारण निवृत्ति की उपलब्धि-पूर्वक हैं (यद् यद् भीरु भ्रमणं तत्तद्भयकारणनिवृत्युपलब्धिपूर्वकम्) । गोदावरी तीर पर सिंहोपलब्धि है (गोदावरी तीरे च सिंहोपलब्धिरिति) । यह विरुद्ध प्रतीत कराती है (व्यापक विरुद्धोपलब्धि) इसका आशय यह है कि भयकारण के अभाव की उपलब्धि भ्रमण को विहित करती है, पर यहीं सिंह रूप की उपलब्धि है यह भयकारण के अभाव के विरुद्ध है, अत: अभ्रमण का अनुमान होता है । अनुमान की पंचावयव प्रक्रिया में इसे इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है --

१. प्रतिज्ञा--गोदावरी तीरं भीरुभ्रमणायोग्यं

२. हेतु--भयकारणसिंहोपलब्धे: ।

३. व्यतिरेक व्याप्ति और उदाहरण-यत्त् भीरुभ्रमणयोग्यं तत्तद्भयकारणाभाववत् यथा गृहम् ।

४. उपनय--न चेदं तीरं यथा भयकारणाभाववत् भयकारण सिंहोपलब्धे: ।

५. निगमन--तस्मात् भीरुभ्रमणायोग्यम् ।

इस प्रकार अन्य उदाहरणों में भी महिमभट्ट ने व्यंग्यार्थ को अनुमान प्रक्रिया से निष्पन्न सिद्ध किया है ।

उपर्युक्त अनुमान प्रक्रिया में हेतु 'भयकारणसिंहोपलब्धि' है । इसे आचार्य मम्मट ने हेत्वाभास सिद्ध किया है । जो हेतु अपने आश्रय में ही न पाया जाय उसे स्वरूपासिद्ध[2] हेत्वाभास कहते हैं इस उदाहरण में सिंह

---

१. काव्यप्रकाश, पृ.२६०

२. यो हेतुराश्रये नावगम्यते स स्वरूपासिद्ध: वही, पृ.६१

की उपस्थिति किसने देखी है, स्वयं पंडित ने तो सिंह देखा नहीं। अत: प्रत्यक्ष से अथवा अनुमान से सिंह का सद्भाव निश्चित नहीं होता, केवल उस दृष्टा के वचनों से ज्ञात होता है। परंतु वचन से जिस अर्थ की प्रतीति हो, वह अर्थ अवश्य होना चाहिए इसका कोई प्रामाण्य नहीं है। मम्मटाचार्य के शब्दों में, 'अर्थ के साथ वचन का प्रतिबंध न होने से, वचन का प्रामाण्य नहीं है। (अर्थेनाप्रतिबन्धादित्यासिद्धश्च न च वचनस्य प्रामाण्यमस्ति)। अत: सिंह (हेतु) की उपस्थिति, वन (आश्रय) में सिद्ध न होने से यह 'हेतु' नहीं स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास है।

और यह हेतु अनैकांतिक भी है। जो हेतु विपक्ष में भी पाया जाय वह अनैकांतिक है। गुरु की आज्ञा, प्रभु की आज्ञा अथवा प्रिया के कारण भीरु व्यक्ति भी ऐसे स्थानों पर गमन करता देखा जाता है, जहां भय का कारण हो--जैसे युद्ध क्षेत्र में भीरु भी जाते ही हैं। इसलिये जहां-जहां भय का कारण हो वहां-वहां भीरु नहीं जाता यह व्याप्ति नहीं बनती। इसलिये यह अनैकांतिक हेत्वाभास है।

यह हेतु विरुद्ध भी है, क्योंकि कोई व्यक्ति कुत्ते से डरने पर सिंह से भी डरे यह आवश्यक नहीं है। तब इस प्रकार के हेतु से साध्यसिद्धि कैसे संभव है। [१]

इसी प्रकार 'नि:शेषच्युत....' उदाहरण में 'चंदन न छूटने' को अनुमापक अथवा हेतु कहा है। पर चंदन छूटने का कारण तो संभोग से भिन्न भी हो सकता है, श्लोक में ही, इसका कारण 'स्नान' कहा है, 'स्तनों का चंदन छूटने' की प्रतिबद्धता संभोग से ही नहीं है अत: वहां भी हेतु अनैकांतिक है।

---

१. तत्कथमेवं-विधाद्धेतो: साध्यसिद्धि:। काव्यप्रकाश, पृ.२६१।

व्यंजनावादी श्लोक में प्रयुक्त (न पुन: तस्याधमस्यांतिकम्) `अधम` पद की सहायता से `नि:शेषच्युत चंदनस्तनतट` आदि की व्यंजकता प्रतिपादित करते हैं। और अनुमानवादी यदि यह कहें कि `अधम` पद से ही अनुमान भी होता है तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि `अधमत्व` का क्या प्रमाण है, वह न तो प्रत्यक्ष से सिद्ध है न अनुमान से, केवल वचन से उसकी प्रतीति होती है और वचन का कोई प्रामाण्य नहीं यह पहले ही कहा जा चुका है। इसलिये `अधम` पद की सहायता से अनुमान नहीं हो सकता।

पर, व्यंजनावादी की व्यंजना में व्याप्ति की अपेक्षा नहीं है अत: `अधम` पद व्यंजना में सहायक हो सकता है -- है भी। व्यंजना के द्वारा इस प्रकार के अर्थ से व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है--और इस प्रक्रिया में कोई दोष नहीं है--वरन् व्यंजना और तज्जन्य व्यंग्यार्थ की विशेषता ही है।

इस प्रकार आचार्य मम्मट ने, मीमांसक, वेदांती, नैयायिक मतों का खंडन कर, व्यंजना की सिद्धि की, हमारी दृष्टि से काव्यप्रकाश की यह महत्वपूर्ण उपलब्धि है।

कविराज विश्वनाथ ने भी रस भावादि की प्रतीति हेतु अनुमान से भिन्न और अभिधा, लक्षणा तथा तात्पर्यवृत्ति से व्यतिरिक्त चतुर्थवृत्ति व्यंजना को स्वीकार किया है-`सा चेयं व्यंजना नाम वृत्तिरित्युच्यते बुधै:` पंडितराज जगन्नाथ भी न केवल व्यंजना और ध्वनि से सहमत हैं, वरन् उसके पक्षधर हैं। जहां उनका प्राचीन आचार्यों की मान्यता से मतभेद है, वहां भी उन्होंने शालीनतापूर्वक पूर्वमतों को उद्धृत कर स्वमत की स्थापना की है। जैसे --शाब्दी व्यंजना के अभिधामूलक रूप के विषय में पंडितराज व्यंजना को स्वीकार करते हैं इसलिये उन्होंने पिष्ट-पेषण नहीं किया है।[१]

---

१. विश्वनाथ और पंडितराज के व्यंजना विवेचन के लिए द्रष्टव्य है -- `व्यंजनावृत्ति : सिद्धि और परंपरा` ले० डा० कृष्णकुमार शर्मा

अ ध्या य - २

रस ध्वनि का स्वरूप

२.१ नई कविता के रचयिता और आलोचकों ने कहा है--
`नई कविता में रस का सिद्धान्त मान्य नहीं है`, `नई कविता का लक्ष्य रसानुभूति कराना नहीं है`। इन और इन जैसे अनेक कथनों द्वारा `रससिद्धान्त` और रसानुभूति का निषेध किया गया तथा एक सिरे से भारत के परंपरागत काव्यशास्त्र को ही अनुपयोगी ठहराने का प्रयत्न सामने आया। एक और यह स्थिति है, दूसरी ओर `रससिद्धान्त` और `रससिद्धान्त : स्वरूप और विश्लेषण` जैसे ग्रन्थों में निष्कर्षतः कहा जा रहा है--`रस सिद्धान्त काव्य का सार्वभौम सिद्धान्त है.... यह मानव को उसकी देह और आत्मा, शक्ति और सीमा तथा समस्त राग-द्वेष के साथ स्वीकार करता है, रससिद्धान्त से अधिक प्रामाणिक सिद्धान्त की प्रकल्पना भी नहीं की जा सकती।`[१] इतना ही नहीं `रससिद्धान्त` को `मानवतावादी सिद्धान्त` भी कहा गया।[२] परन्तु यह ध्यातव्य है कि जिस रससिद्धान्त का प्रशंसन उपर्युक्त पंक्तियों में सुधी विद्वानों द्वारा किया गया है, वह भरत के परंपरागत रससूत्र-प्रतिपादित रससिद्धान्त से व्यापक है। तब नई कविता के रचयिताओं

---

१. रस-सिद्धान्त, डा० नगेन्द्र, पृ.२६३

२. रस-सिद्धान्त : स्वरूप और विश्लेषण, डा० आ.प्र.दीक्षित, पृ.४२६

और आलोचकों--जो यह दावा भी करते हैं कि नई कविता त्रस्त मानवता की कविता है--के कथनों में 'मानवतावादी रससिद्धान्त' का विरोध क्यों है ? परीक्षणीय यह है कि परंपरागत रस-सिद्धान्त काव्य के संदर्भ में कितना उपयोगी है तथा आधुनिक रससिद्धान्त विषयक ग्रन्थों में प्रतिपादित उसका रूप कितना मौलिक ? अब यह विवादास्पद नहीं है कि भरत का मूल रससूत्र एकांतत: नाटक के लिए ही था । 'तत्र विभावानुभावसंचारिसंयोगाद्रसनिष्पति:' सूत्र का अर्थ है -- वहां (रंगमंच पर) विभाव, अनुभाव और संचारी के संयोग से रस-निष्पति होती है । इस अर्थ में कोई विप्रतिपत्ति नहीं है । कालान्तर में भट्ट लोल्लट, शंकुक, आनन्दवर्धन, भट्टनायक और अभिनवगुप्त ने इस सूत्र की व्याख्या की । इनमें से प्रथम दो आचार्यों -- भट्ट लोल्लट और शंकुक - ने इस सूत्र को नाट्य संदर्भ में ही देखा । ध्वन्यालोक ग्रन्थ की लोचन टीका में अभिनव ने शंकुक [1] के मत को उद्धृत किया है, उससे स्पष्ट होता है कि शंकुक के अनुसार नाट्य से आस्वादन होने के कारण वे इसे नाट्य-रस कहने के पक्षधर थे । अभिनवभारती में भी शंकुक का मत दिया गया है । लोल्लट और शंकुक दोनों की व्याख्या में रस व्यवहार्य ही रहा, अभी उसे 'अलौकिक चमत्कार प्राण' आदि विशेषण नहीं मिले थे 'लोकातीत' केवल इसलिए कहा गया कि सम्यक्, मिथ्या, संशय और सादृश्य प्रतीतियों से इसका पार्थक्य प्रतिपादित किया जा सके ।

यद्यपि शंकुक के पश्चात आनंदवर्धन ने सर्वप्रथम रस की काव्य के संदर्भ व्याख्या की है, - वही इस ग्रंथ का प्रतिपाद्य भी है - तथापि

---

१. 'स एव लोकातीततयास्वादापरसंज्ञया प्रतीत्या रस्यमानो रस इति नाट्याद् - रसा नाट्यरसा:'

रस-सूत्र के व्याख्याता के रूप में भट्ट नायक का ही नाम लिया जाता है। काल-क्रम से भट्ट नायक आनंदवर्धन के बाद में हुए हैं। भट्टनायक ही वे प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने काव्यानंद की तुलना परब्रह्म के आस्वाद[1] से की है। मम्मट ने भट्टनायक के मत को तथावत् ही उद्धृत किया है। इस प्रकार भट्ट नायक के द्वारा काव्य-रस के स्वरूप में अलौकिकत्व का प्रवेश हुआ। अभिनव ने रस-निष्पत्ति के विषय में भट्टनायक के मत का खंडन करते हुए भी, रस-स्वरूप के संदर्भ में उनकी शब्दावली को ग्रहण किया, रसास्वाद को परब्रह्मास्वाद के सदृश कहा।

२.२ अभिनवगुप्त शैव थे, उन्होंने शैवाद्वैत में प्रतिपादित आनंद के आधार पर रसास्वाद की व्याख्या की और आस्वाद की स्थिति में आस्वादेतर की कल्पना को अग्राह्य मानते हुए रस को आस्वाद से अभिन्न कहा। क्योंकि रस की प्रतीति उसके आस्वादन में है, आस्वाद के समय रस का यदि कोई स्वरूप हो सकता है तो आस्वादमूलक ही, उससे भिन्न नहीं। इस प्रकार 'रस', जो मूलत: पदार्थ[2] रूप था - आस्वाद रूप, आत्मास्वाद रूप हो गया। अभिनव की व्याख्या में मुझे दो स्तर दिखलाईपड़ते हैं। प्रथम स्तर वह है जहाँ आनंदवर्धन के मत को पुष्ट करते हुए वे, 'तत्काव्यार्थोरस:' कहते हैं तथा इसी प्रकार का व्यवहार्य विवेचन प्रस्तुत करते हैं।द्वितीय स्तर वह है जहाँ वे काव्यास्वाद के आनंद को शैवाद्वैत में प्रतिपादित आनंद के आधार पर स्पष्ट करते हुए रस को आस्वादरूप कहते हैं। अभिनव के पश्चात् अधिकांश आचार्यों ने रसास्वाद को इसी रूप में प्रस्तुत किया। कविराज विश्वनाथ ने रसास्वाद का जो स्वरूप कहा है - उसमें 'ब्रह्मास्वादसहोदर:' 'लोकोत्तरचमत्कारप्राण:' 'स्वप्रकाशानन्दचिन्मय:' आदि विशेषण अभिनव के प्रभाव को स्पष्ट

---

१. 'सत्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयनिजसंविद्‌विश्रान्ति लक्षणेन परब्रह्मास्वाद-सविधेन भोगेन परं भुज्यत इति'

२. 'रस इति क: पदार्थ:' नाट्यशास्त्र, अध्याय ६

करते हैं।[१] इसमें संदेह नहीं कि अभिनव ने नाट्यशास्त्र और ध्वन्यालोक की टीका रचकर, इन ग्रंथों की अनेक गूढ़ताओं को स्पष्ट किया। 'रस' के आस्वादन को दृढ़ दार्शनिक भूमि प्रदान की। परन्तु यह कहने में कोई संकोच नहीं है कि भारतीय काव्यशास्त्र की शब्द और अर्थ जैसी मूलभूत इकाइयों पर आधृत चिन्तन परंपरा को अभिनव ने दार्शनिक रंग में रंग कर, काव्यास्वाद को आत्मास्वाद कह कर उसे व्यवहार्य न रहने दिया। पंडितराज जगन्नाथ ने पुन: काव्य-परिभाषा को यथार्थ से जोड़ा। उन्होंने रमणीय अर्थ के प्रतिपादक शब्द को काव्य कहा। तब भी, संस्कृत काव्यशास्त्र में रस की चर्चा चलती रही। इस महत् चर्चा का परिणाम यह हुआ कि काव्य का व्यावहारिक चिन्तन प्रस्तुत करने वाले अन्य सिद्धान्त परब्रह्म स्वरूप रस-चिन्तन में निमग्न हो गए। संस्कृत काव्यशास्त्र में 'रससिद्धान्त' की स्थिति यही रही।

२.३ हिन्दी का रीतिकाल काव्यशास्त्रीय चिन्तन की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण नहीं है। इस काल में रस विषयक ग्रन्थ ही अधिक रचे गए हैं। रसों का शास्त्रीय चिन्तन इसमें नहीं है। 'विभावानुभावसंचारि.' सूत्र को प्रमाणित करने वाले उदाहरण ही प्रचुर मात्रा में हैं। शास्त्रीय पक्ष जो कुछ भी है, संस्कृत ग्रन्थों के अनुकरण पर लिखा गया है, परिणामत: इसमें रस-चिन्तन की मौलिकता का सर्वथा अभाव है। अन्य काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों पर भी कुछ ग्रन्थ उपलब्ध हैं, पर वे गिनती के ही हैं। हिन्दी में श्री पोद्दार कृत काव्यकल्पद्रुम, जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' रचित काव्य प्रभाकर आदि ग्रंथ 'ध्वनि परंपरा' के हैं। हरिऔध रचित 'रसकलश' रस से संबद्ध सुलझा हुआ ग्रंथ है। यही काव्यशास्त्रीय परंपरा हिन्दी को प्राप्त हुई। आचार्य श्यामसुंदरदास के साहित्यालोचन में और

---

१. सत्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मय:। वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वाद सहोदर: ।।
लोकोत्तरचमत्कारप्राण: कैश्चित्प्रमातृभि:। स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रस: ।।
साहित्य दर्पण ३.२.३

शुक्ल जी की 'रस मीमांसा' में रस विवेचन के प्रति अति आग्रह स्पष्ट है। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी भी रसवादी ही हैं -- 'फिर भी इतना कहा जा सकता है कि रसात्मक वाक्य को श्रेष्ठ काव्य मानने वाले सहृदय मात्र ध्वनि के इस अनाकांक्षित विस्तार को उचित नहीं समझते। वे रस को ही काव्य की आत्मा मानते हैं। उनकी दृष्टि में ध्वनि रस के स्वरूप और उसके आस्वादन की प्रक्रिया को स्पष्ट करने का साधन मात्र है।'[1] बाबू गुलाबराय जी के 'सिद्धान्त और अध्ययन' में काव्य और रस से संबद्ध सामग्री ही अधिक है, ध्वनि आदि सिद्धान्तों पर ८-१० पृष्ठ ही हैं। इस प्रकार रस का जो विवेचन हिन्दी पाठकों को मिला वह रस को 'अलौकिक चमत्कार प्राण' कहने वाला था। रसानुभूति को 'मधुमती भूमिका' के समकक्ष कहा गया। अन्य विद्वान इस समकक्षता को स्वीकार न कर अन्य समकक्षता ढूंढते रहे। हिन्दी पाठक, कवि और आलोचक के लिए रस-सिद्धान्त और भारतीय काव्यशास्त्र पर्यायवाची बन गए। सन् १९६० के पश्चात् रससिद्धान्त से संबद्ध दो ग्रन्थ और प्रकाशित हुए। प्रथम ग्रंथ 'रससिद्धान्त : स्वरूप और विश्लेषण' डा० आनंदप्रकाश दीक्षित का शोध-प्रबंध है। द्वितीय, 'रस-सिद्धान्त' ग्रन्थ के रचयिता डा० नगेन्द्र हैं। जहां तक रस-सिद्धान्त के प्रामाणिक शास्त्रीय पक्ष का प्रसंग है, वह इस ग्रंथ में यथातथ्यपरक है - ग्रंथ की शक्ति का परिचायक है। परन्तु जब डा० नगेन्द्र रस-सिद्धान्त को काव्य का 'सार्वभौम सिद्धान्त' कहते हैं तो इस ग्रन्थ की 'सीमा' स्पष्ट हो जाती है। यद्यपि संस्कृत में और अंग्रेजी भाषा में भारतीय विद्वानों द्वारा काव्यशास्त्र के अन्य सिद्धान्तों पर भी महत्वपूर्ण कार्य हुआ है, पर वह हिन्दी के सामान्य पाठकों के लिए अज्ञेय ही रहा है। रससिद्धान्त काव्य के लिये कितना उपयुक्त है?

---

१. नया साहित्य : नये प्रश्न, नंददुलारे वाजपेयी, पृ. ११६

यह विचारणीय प्रश्न है । डा० नगेन्द्र हिन्दी के सुधी आलोचक हैं । `रससिद्धान्त` ग्रंथ में `शक्ति और सीमा` के अंतर्गत उन्होंने कतिपय महत्वपूर्ण संकेत दिए हैं । इन्हें इस प्रकार[1] सूत्रबद्ध किया जा सकता है --

१. रससिद्धान्त भारतीय काव्यशास्त्र का सबसे प्राचीन, व्यापक एवं बहुमान्य सिद्धान्त है ।

२. आरंभ में कुछ ऐसी भ्रांति हो गई थी कि रस के विभाव अनुभाव आदि का उपस्थापन नाट्य में ही हो सकता है... किन्तु यह भ्रांति जल्दी ही दूर हो गई और शब्दार्थ के क्षेत्र में ही विभावादि की प्रस्तुति की संभावना व्यक्त हो गई ।

३. आनंदवर्धन ने ध्वनि की उद्भावना द्वारा शब्दार्थ की निहित शक्तियों का उद्घाटन किया और व्यंजना के द्वारा विभावादि को उपस्थित करने वाली नाट्य सामग्री की पूर्ति की ।

४. अभिनव ने इस तथ्य को और भी स्पष्ट किया ; काव्य के साथ रस का उचित सम्बन्ध स्थापित हुआ और शब्दार्थ के संदर्भ में ही रस-सिद्धान्त की पूर्ण प्रतिष्ठा हो गई ।

उपर्युक्त बिन्दुओं में से प्रथम के संबंध में कोई आपत्ति नहीं है क्योंकि रस-सिद्धान्त सबसे प्राचीन ही है । भरत के पूर्व काव्यशास्त्र की परंपरा के होने में संदेह का अवसर नहीं है, पर प्रमाणाभाव की स्थिति में भरत ही प्रथम ज्ञात आचार्य हैं और रस-सिद्धान्त प्राचीनतम सिद्धान्त ।

परन्तु द्वितीय बिन्दु में जिस विभाव-अनुभाव के काव्यगतस्थापन के विषय को भ्रांति कहा गया है, वह भ्रांति नहीं है, सत्य है । काव्य में नाटक के सदृश विभावानुभाव का स्थापन वस्तुत: संभव ही नहीं है ।

---

१. रस-सिद्धान्त, डा० नगेन्द्र, पृ.३२६

और तृतीय बिन्दु में डा० नगेन्द्र ने [१] आनंदवर्धन द्वारा व्यंजना-उद्घाटन और शब्दार्थ के क्षेत्र में नाट्य सामग्री की पूर्ति स्वीकार की है। चतुर्थ में वे यह स्वीकार करते हैं कि अभिनव द्वारा आनंदवर्धन प्रतिपादित तथ्य और भी स्पष्ट किया गया। काव्य के साथ रस का उचित संबंध स्थापित हुआ। इसका निष्कर्ष यह निकला कि काव्य में जिस रससिद्धान्त की चर्चा की जाती है वह मूल रससूत्र-नियंत्रित नहीं है। वह आनंदवर्धन द्वारा प्रतिपादित है, अभिनव ने उसे केवल 'और भी स्पष्ट' किया है। अत: उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध होता है कि काव्य-विषयक रससिद्धान्त आनंदवर्धन का है। यह वस्तुत: सत्य है। डा० कृष्णमूर्ती का यह कथन कि 'भरत का रससिद्धान्त तो नाट्य तक ही सीमित था। उसका कविता के क्षेत्र में प्रथम बार पूर्ण और वैज्ञानिक विवेचन आनंदवर्धन द्वारा हुआ,[२] इस सत्य का ही ज्ञापन करता है। परन्तु ध्वन्यालोक की भूमिका में डा० नगेन्द्र 'ध्वनि' और 'रस' की तुलना करते हुए लिखते हैं--'ध्वनि और रस दोनों में रस ही अधिक महत्वपूर्ण है उसी के कारण ध्वनि में रमणीयता आती है। पर रस को व्यापक अर्थ में ग्रहण करना चाहिए। रस को मूलत: परंपरागत संकीर्ण विभावानुभावसंचारी के संयोग से निष्पन्न रस के अर्थ में ग्रहण करना संगत नहीं। रस के अंतर्गत समस्त भावविभूति अथवा अनुभूति वैभव आ जाता है।'[३]

उपर्युक्त उद्धरण में (१) रस को व्यापक अर्थ में ग्रहण करना चाहिए। (२) संकीर्ण विभावानुभावादि... के संयोग से निष्पन्न रस नहीं समझना चाहिए और (३) रस के अंतर्गत समस्त भाव विभूति है आदि

---

१. डा० नगेन्द्र को लिखे गए पत्र के उत्तर में उन्होंने 'रस को रस ध्वनि से अभिन्न स्वीकार किया है, यह पत्र परिशिष्ट में दिया गया है।

२. एसेज़ इन संस्कृत लिटेरेरी क्रीटीसिज़्म, के.कृष्णमूर्ति, पृ.६८

३. ध्वन्यालोक, भूमिका, सं० आ० विश्वेश्वर, पृ.३२

कहा गया है। यह तो ठीक है, पर 'ध्वनि' और 'रस' में से रस को महत्वपूर्ण कहने का तात्पर्य क्या है? क्या ध्वनि और रस तुलनीय है? विशेषत: उस स्थिति में जब कि काव्य में रस की वही धारणा स्वीकार की जा रही हो जो आनंदवर्धन ने दी है। 'ध्वनि' पद के तीन[1] अर्थ किए जाते हैं। प्रथम जिससे ध्वनित हो वह शब्द (व्यंजक) 'ध्वनि' है, स्पष्टत: यह ध्वनि रस से तुलनीय नहीं है। ध्वनि पद की द्वितीय व्युत्पत्ति है -- जो ध्वनित किया जाय वह 'रस', अलंकार अथवा वस्तु ध्वनि है। संभवत: इसी ध्वनि से डा० नगेन्द्र इसकी तुलना करते हैं। परन्तु यह ध्वनि तो रस अलंकार अथवा वस्तु के व्यंग्य होने का प्रतिपादन है। 'ध्वनि' सिद्धान्त कवि की अनुभूति के व्यंग्य होने का विवेचन करता है। वह रस के व्यंग्य होने का ही नहीं, वस्तु और अलंकार रूप अर्थ के व्यंग्यत्व का प्रमाण भी प्रस्तुत करता है। पुन: जब डा० नगेन्द्र आनंदवर्धन के व्यंजना प्रतिपादन द्वारा विभावादि को उपस्थित मानते हैं अन्य शब्दों में रस को व्यंग्य स्वीकारते हैं तब रस की कल्पना वही हो सकती है जो आनंदवर्धन के असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य में है। फिर डा० नगेन्द्र रस को संकीर्ण, परंपरागत सूत्र से निष्पन्न न मानकर व्यापक देखना चाहते हैं, उसमें संपूर्ण भाव-विभूति का समाहार चाहते हैं। तब, यह आनंदवर्धन की ध्वनि (रसध्वनि) से भिन्न कौन सा रस है? आनंदवर्धन ने परंपरागत सूत्र के बंधन शिथिल कर उसे कविता के लिए प्रयोगार्ह बनाया। भाव, भावाभासादि का रस के समकक्ष परिगणन कर, उनकी व्यंग्यता प्रतिपादित की। क्या इस प्रक्रिया में मानव कीसंपूर्ण भाव-विभूति नहीं आ जाती। यही नहीं, भाव संस्पृष्ट वस्तु और अलंकार का विधान भी

---

१. व्यंजना : सिद्धि और परंपरा, डा० कृष्णकुमार शर्मा

उसमें है। तब कौनसा अनुभूति-वैभव शेष रह गया ? ध्वनि व्यंग्यत्व का नाम है। काव्य में अनुभूति व्यंग्यत्व ही काव्य को काव्य का पद का अधिकारी बनाता है। यह व्यंग्यत्व, यह ध्वनि इसी अर्थ में उसकी आत्मा है। अत: `ध्वनि` और रस की तुलना का प्रश्न ही नहीं उठता। ध्वनि को काव्य की आत्मा सृजनप्रक्रिया के संदर्भ में कहा गया है। इस में रस, वस्तु, अलंकार और मानवमात्र की सभी अनुभूति-संपदा का समावेश है। अनुभव बतलाता है कि सभी कविता रसयुक्त नहीं होती। कोई कविता सहृदय में विचार कंकृत करती है, कोई भाव संपृक्त वस्तु को प्रस्तुत करती है, किसी में भाव की उष्मा से संवलित अलंकार होता है, तब केवल `रस` का प्रश्न कहाँ उठता है ? और `रस` `वस्तु` और अलंकार तीनों को पृथक-पृथक आत्मा कहना भी तर्कसंगत नहीं है। इसलिए आनंदवर्धन ने ऐसा प्रयोग किया है, जिसमें तीनों का समावेश हो सके -- यह प्रयोग सृजन-प्रक्रिया की दृष्टि से ही संभव है। चाहे रस हो, वस्तु हो या अलंकार व्यंग्यत्व की प्रक्रिया सब में समान है-वही प्राण है, व्यंग्य की प्रतिशयता होता आत्मा है, काव्य उसी से जीवंत बनता है। इसी अर्थ में ध्वनि आत्मा है। इसीलिए रस, वस्तु और अलंकार के साथ ध्वनि पद का प्रयोग किया गया है जो तीनों के व्यंग्य होने के समान धर्म का प्रत्यायक है। कविराज विश्वनाथ ने ध्वनि को तीन प्रकार का मानकर यह शंका की है--`क्या त्रिविध ध्वनि को काव्य का आत्मा माना जाय ?`[१] परन्तु कविराज ने इस तथ्य को विस्मृत कर दिया है कि आत्मा विविध कार्यकलापों में व्यक्त होता है। ध्वनि अर्थात् व्यंग्यत्व भी अनेक रूपाकारों में व्यक्त होता है-इसका प्रमाण प्रभूत कविता साहित्य है। इसीलिए असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य के प्रसंग में आनंदवर्धन ने उसके अनेक प्रकारों का इंगित किया है। घनानंद के `तुम कौन सी पाटी

---

१. यत्तु ध्वनिकारेणोक्तम् -`काव्यस्यात्मा ध्वनि`- इति तत्किं वस्त्वलंकाररसादिलक्षणास्त्रिरूपो ध्वनि: काव्यस्यात्मा` ....
सा. द. १. पृ १७ चौ. प्र.

पढ़े हो लला मन लेहु पे देहू छटांक नहीं` कवित्त में वस्तु से भाव की अभिव्यक्ति है। कामायनी के `नील परिधान बीच सुकुमार` पद में अलंकार के द्वारा भाव संवलित वस्तु प्रतीयमान है। तब केवल रस को ही मानकर संपूर्ण कविता का कैसे मूल्यांकन किया जा सकेगा ? ऐसी स्थिति में रस सिद्धान्त को सार्वभौम सिद्धान्त भी कैसे कहा जा सकता है। अत: ऐसा निकष तो ध्वनिसिद्धान्त ही है जो काव्य में अनुभूति के केवल रस रूप अर्थ में ही परिणत होने को नहीं , संपूर्ण भाव सम्पदा, विचार सम्पदा के व्यंग्य होने का विवेचन करता है। डा० नगेन्द्र और डा० दीक्षित ने जिस व्यापक रससिद्धान्त की चर्चा की है, उसकी परिणति ध्वनि में ही है। जब हमारे काव्यशास्त्र की परंपरा में ध्वनिसिद्धान्त जैसा पूर्ण और वैज्ञानिक सिद्धान्त है,तब रस-सिद्धान्त को व्यापक करने का आग्रह क्यों ? आत्मा, परमात्मा, धर्म-दर्शन आदि से मुक्त ध्वनिसिद्धान्त काव्य रचना की मूलभूत इकाइयों - आवेग, शब्द और अर्थ पर आधृत है। आज पाश्चात्य आलोचक एक स्वर से कविता में सजेस्टेड अर्थ के महत्व को स्वीकार करते हैं। आनंदवर्धन ने यही स्थापना नवम शताब्दी में की थी।

२.४ ध्वनिसिद्धान्त के अंतर्गत ध्वनि के दो रूप अविवक्षितवाच्य और विवक्षितवाच्य कहे गए हैं। विवक्षितवाच्य के पुन: दो स्वरूप हैं- असंलक्ष्यक्रम और संलक्ष्यक्रम[१]। असंलक्ष्यक्रम में रस, भाव, भावाभास, भावशान्ति आदि का विधान है[२]। असंलक्ष्यक्रम वहां होता है जहां रसादिरूप अर्थ वाच्य के साथ ही सा प्रतीत होता है, वह प्रधानरूप से प्रतीत होने पर

---

१. असंलक्ष्यक्रमोद्योत: क्रमेण द्योतित: पर: ।
विवक्षिताभिधेयस्य ध्वनेरात्मा द्विधामत: ।।२।। ध्व० २.२

२. रसभावतदाभासतत्प्रशान्त्यादिरक्रम: ।
ध्वनेरात्माऽङ्गि भावेन भासमानो व्यवस्थित: ।। ध्व० २.३

काव्य का आत्मा (स्वरूप) होता है।`[१] अभिनव ने `आत्मा` का अर्थ `आत्मशब्द: स्वभाववचन: प्रकारमाह` किया है। अत: जब आनंदवर्धन `ध्वनि` को काव्य का आत्मा कहते हैं तब भी काव्य का स्वभाव ही प्रतिपादित करते हैं। आनंदवर्धन ने वृत्ति में रस को अर्थ रूप (रसादिरर्थो) कहा है। जब वाच्यार्थ के मानों साथ ही प्रतीयमान अर्थ की भी प्रतीति हो तो वह असंलक्ष्यक्रम रस-ध्वनि का स्थल होता है। रस, भाव रूप आदि अर्थ जहां वाक्यार्थीभूत होते हैं वे सब ध्वनि के स्वभाव वाले हैं। इस प्रकार आनंदवर्धन के असंलक्ष्यक्रम में रस-भाव आदि सबका समावेश है।

डा० नगेन्द्र ने लिखा है --`रसशास्त्र के अनुसार रागतत्व की सीमा के भीतर भी रस का स्वरूप अत्यन्त व्यापक है। शास्त्र में रस की परिधि के अंतर्गत रस, रसाभास, भाव, भावाभास, भावोदय, भावसन्धि, भावशबलता और भावशान्ति का निर्भ्रान्त रूप से समावेश किया गया है।[२] यहां रस से अभिप्राय है विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी द्वारा पुष्ट स्थायी की निर्विघ्न प्रतीति - अर्थात् रस शब्द परिपाक की अवस्था का वाचक है।`[३]

उपर्युक्त कथन में अनेक शंकाएं उत्पन्न होती है --

(१) रसशास्त्र से डा० नगेन्द्र का तात्पर्य क्या है ?

निश्चय ही, जिस रसशास्त्र में `रस की परिधि` में रसाभास आदि का आख्यान है वह भरत का तो हो नहीं सकता, क्योंकि स्वयं डा० नगेन्द्र यह स्वीकार करते हैं। `भरत ने रसाभास का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है।`[४] (एक पत्र के उत्तर में डा० नगेन्द्र ने रसशास्त्र का अर्थ रस सिद्धान्त लिखा है देखिए परिशिष्ट १)।

---

१. रसादिरर्थो हि सहैव वाच्येनावभासते।
   स चांगित्वेनावभासमानो ध्वनेरात्मा ।।
२. रससिद्धान्त, डा० नगेन्द्र, पृ.३१६
३. वही, पृ.३१६
४. वही, पृ.३०६

रसाभास के संबंध में सर्वप्रथम प्रामाणिक विवेचन आनंदवर्धन ने किया है। आनंदवर्धन से लेकर मम्मट तक रसाभास भावाभासादि का विवेचन किसी 'रस-शास्त्र' में नहीं है, वह असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य के प्रकारों में ही वर्णित किया गया है।

अत: रस, भावादि विभिन्न रूपों को सर्वप्रथम एक कोटि में रखकर आनंदवर्धन ने ही काव्य की व्यापक सिद्धान्त व्याख्या प्रस्तुत की है। काव्य में रागतत्व की सीमा के भीतर यही व्यापकता संभव है। यदि डा० नगेन्द्र इसी व्यापक रसशास्त्र[1] का उल्लेख कर रहे है तो वह आनंदवर्धन की रस-परिकल्पना का शास्त्र है, अन्य कुछ भी नहीं।

(२) 'विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी से पुष्ट स्थायी की निर्विघ्न प्रतीति' से क्या डा० नगेन्द्र परंपरागत संकीर्ण 'विभावानुभाव ..' सूत्र के निष्पन्न रस का ही आख्यान नहीं कर रहे हैं? एक ओर रस की व्यापकता का पक्ष प्रतिपादित करना, दूसरी ओर परंपरागत निष्पत्ति को स्वीकार करना? वस्तुत: डा० नगेन्द्र रस-सिद्धान्त के प्रति आग्रहशील होने के कारण ध्वनिसिद्धान्त प्रतिपादित रस-शास्त्र को स्वीकार करते हुए भी 'ध्वनि' की सिद्धि रस में देखना चाहते हैं। इसी व्यापक रस-सिद्धान्त प्रतिपादित 'रस' को डा० नगेन्द्र तत्व पद का अधिकारी मानते हैं। परन्तु उपर्युक्त विवेचन से सिद्ध होता है कि यह 'तत्व पद का अधिकारी रस' वास्तव में रस-ध्वनि ही है।

अब एक प्रश्न यह है कि जिस 'भावविभूति' और 'अनुभूति-वैभव' को डा० नगेन्द्र अपने तथाकथित व्यापक रस के अंतर्गत रखना चाहते हैं और डा० दीक्षित जिस 'भाव की हल्की फुहार' में रस मानना चाहते हैं, वह काव्य में उपस्थित कैसे होंगे? भाव और अनुभूति वाच्य तो हो

---

१. डा० नगेन्द्र ने 'रस शास्त्र' का तात्पर्य 'रस-सिद्धान्त' (अपने पत्र में) लिखा है।

नहीं सकते। इनकी प्रतीयमानता सर्वसम्मत है। साधारणीकरण की प्रक्रिया के प्रसंग में डा० नगेन्द्र ने यही स्वीकार किया है।[1] भाव और अनुभूति, वस्तुत:, सृजन की प्रक्रिया में प्रतीयमान ही हो जाते हैं। तब भाव और अनुभूति की यह प्रतीयमान अभिव्यक्ति असंलक्ष्यक्रम-व्यंग्य से भिन्न कैसे हुई? क्या आनंदवर्धन प्रतिपादित रस, भाव आदि में समस्त 'अनुभूति वैभव' नहीं आता? क्या 'भाव की फुहार' इससे पृथक कुछ है?

२.५ डा० नगेन्द्र ने 'अनुभूति की वाहक बनकर ही ध्वनि में रमणीयता आती है, अन्यथा वह काव्य नहीं बन सकती'[2], लिखा है। परन्तु आनंदवर्धन ने अनुभूति का निषेध कहाँ किया है। वरन् उन्होंने तो अनुभूति के ही रसरूप अर्थ में परिणत होने का आख्यान किया है। वस्तुत: भाव भावशान्ति आदि तथा रसरूप अर्थ की स्थिति अनुभूति के सद्भाव में ही संभव है।

अत: रससिद्धान्त में अनुभूति के सद्भाव और ध्वनि में उसके अभाव का कथन कल्पित ही है। डा० नगेन्द्र कथित रस और ध्वनि के अनुभूति तथा कल्पना विषयक अंतर पर और विचार किया जाय। कवि के संदर्भ में कल्पना काव्यसृजन का महत्वपूर्ण उपादान है। इस कल्पना को सामग्री कहाँ से मिलती है? प्रेस्काट[3] के मतानुसार कल्पना बिम्बों का समेकन (FUSION) करती है, कवि-मानस में पूर्वत: निक्षिप्त

---

१. 'काव्य प्रसंग तो अपने आप में जड़ वस्तु है इसका चैतन्य अंशतो इसका अर्थ है और यह अर्थ क्या है? कवि का संवेद्य-कवि की अनुभूति; सामान्य भावानुभूति नहीं, सर्जनात्मक अनुभूति- भाव की कल्पनात्मक पुन: सर्जना की अनुभूति - भारतीय काव्यशास्त्र की शब्दावली में 'भावना'। इसी का शास्त्रीय नाम ध्वन्यर्थ है।' रससिद्धान्त, पृ.२०६ डा०नगेन्द्र

२. ध्वन्यालोक, सं० आ० विश्वेश्वर, पृ. ३२-३३

३. द पोएटिक माइन्ड, प्रेस्काट, पृ.१६४

अनुभूतियों - भावनाओं से रंजित बिम्बों का समेकन कविता में होता है। अत: कहा जा सकता है कि कोरी कल्पना काव्य सृजन में अक्षम है। डा० नगेन्द्र ने 'भाव की कलात्मक अभिव्यक्ति' को महत्व दिया है। कलात्मकता तो कल्पना की प्रक्रिया है। कलात्मक अभिव्यक्ति के लिए भी भाव और अनुभूति के आधार की आवश्यकता है। इसके अभाव में कलात्मक अभिव्यक्ति ही किस की होगी ? अत: काव्य में कल्पना का प्रयोग स्वीकार करने में भाव की अनिवार्य स्थिति स्वीकार करनी ही होगी। कल्पना भाव को प्रतीयमानरूप में प्रस्तुत करती है, यही भाव का कलात्मक रूप है। आनंदवर्धन 'अनुभूति की इसी कलात्मक अभिव्यक्ति के पक्षधर हैं --'व्यंजकत्व की पद्धति में जब अर्थ दूसरे अर्थ को अभिव्यक्त करता है, तब प्रदीप के समान वह अपने स्वरूप को प्रकाशित करता हुआ ही अन्य अर्थ का प्रकाशक होता है जैसे 'लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती' आदि श्लोक में।'[१] इस श्लोक में भाव की कलात्मक अभिव्यक्ति ही है। 'यहां विभावानुभाव-संचारि.... ' आदि से रस निष्पत्ति का प्रसंग नहीं है। रस-सिद्धान्त का पुन: आख्यान तथा इसके स्वरूप का विश्लेषण करने वाले विद्वान रस के अंतर्गत भावभासादि को रखना चाहते हैं। आनंदवर्धन भाव, भावाभासादि को रस की कोटि में रखते हैं। ध्वनिसिद्धान्त में इनकी रस के समकक्ष ही सत्ता है, यह इस सिद्धान्त की व्यापकता का प्रमाण है। अत: जब डा० नगेन्द्र भावमात्र की और डा० दीक्षित 'भाव फुहार' की बात करते हैं तो वह ध्वनिसिद्धान्त की ही चर्चा है। व्यंग्य भाव, वस्तु अथवा अलंकार (ध्वनि) ही सहृदयसंवेद्य काव्य तत्व है। सहृदयसंवेद्य वही तत्व हो सकता है जिसमें अनुभूति का स्पंदन हो अत: ध्वनि में अनुभूति का प्रतिषेध

---

१. व्यंजकत्वमार्गे तु यदार्थोऽर्थान्तरं द्योतयति तदा स्वरूपं प्रकाशयन्नेवासावन्यस्य प्रकाशक: प्रतीयते प्रदीपवत्। यथा 'लीलाकमल पत्राणि गणयामास पार्वती' इत्यादौ. ध्व० आ० विश्वेश्वर, पृ.२६०

नहीं है। ध्वनि और रस में भी कल्पना और अनुभूति का प्रतिद्वन्द्व नहीं है। काव्य में रस का स्वरूप वही हो सकता है जो आनंदवर्धन ने प्रस्तुत किया है। यह रसअसंलक्ष्यक्रम व्यंग्य रूप अर्थ है। यही चारुत्व है, इसी से सहृदय को चमत्कार की प्रतीति होती है। रसानुभूति के प्रसंग में अभिनवकृत प्रतिपादन उनकी दार्शनिक मेधा का परिचय भले हो व्यावहारिक आलोचना के लिए अनुपयुक्त है। इसीलिए डा० नगेन्द्र को यह लिखना पड़ा है कि 'संकीर्ण परंपरागत अर्थ में रस को ग्रहण करना संगत नहीं है।'[1]

ध्वनिसिद्धान्त काव्य के प्रत्येक तत्व का स्पष्ट आख्यान करता है - अनाख्येयता का स्थान यहाँ नहीं है। रस-सिद्धान्तवादियों ने जिस प्रकार अभिभूत होकर रस-कीर्तन किया है, वह स्थिति आनंदवर्धन को स्वीकार नहीं है। रस है, कवि को उसका प्रयत्नपूर्वक आयोजन करना चाहिए, पर काव्य में उसका स्वरूप वही संभव है जो ध्वन्यालोक में वर्णित है।

उपर्युक्त विवेचन के निष्कर्ष निम्नलिखित हैं --

(१) भरत प्रतिपादित रससिद्धान्त नाट्य संदर्भीय है। भट्ट लोल्लट और शंकुक तक वह नाट्य से जुड़ा रहा। भट्ट नायक की ब्रह्मास्वाद आदि शब्दावली को ग्रहण कर अभिनव ने इसे शैवदर्शन के आनंद से संबद्ध कर आत्मास्वादरूप प्रतिपादित किया। इस प्रकार रस अलौकिक, 'ब्रह्मास्वादसहोदर' आदि हो गया।

(२) दार्शनिक आधार प्राप्त कर रस चिन्तन-मनन और बुद्धिविलास तक ही सीमित रहा। व्यावहारिक आलोचना में इसका उपयोग संभव न रहा।

---

१. ध्व० आ० विश्वेश्वर, पृ.३२

(३) काव्य मूलत: शब्द और अर्थमय इकाई है, अत: रस संबंधी कोई भी मान्यता इन्हीं के माध्यम से काव्य संदर्भ में प्रस्तुत की जा सकती है। भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा में ऐसी धारणा ध्वनि-सिद्धान्त के अंतर्गत असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य में है। यही रस काव्य में संभव है, यह रस अर्थरूप ही है। नए कवि और आलोचक रस के नाम से ही न चौंकें, आनंदवर्धन ने काव्य में रस विषयक धारणा को यथार्थ आधार दिया है, रस आकाशकुसुम नहीं है। भारतीय काव्यशास्त्र का अर्थ केवल रस-सिद्धान्त ही नहीं है। भाषा की व्यंजना, प्रतीक, बिम्ब आदि के महत्व को नए कवियों और आलोचकों ने स्थान स्थान पर स्वीकृति दी है। कविता के वे महत्वपूर्ण शिल्प उपादान अनुभूति के व्यंजक हैं। इनकी व्याख्या प्रतीयमान अर्थ की यथार्थ भूमि पर ही संभव है। आज के पाश्चात्य विचारक प्रतीयमान अर्थ के सर्वातिशायी महत्व को स्वीकार कर रहे हैं। इसी धारणा का पूर्ण विवेचन आनंदवर्धन ने नवम् शताब्दी में किया था। उलझी संवेदना और जटिल अनुभूतियां वाच्यरूप में व्यक्त की भी नहीं जा सकती, वे सजेस्टेड ही हो सकती हैं। आधुनिक युग की अभिव्यक्ति अन्य कलाओं में भी इसी रूप में संभव है।

(४) डा० नगेन्द्र `रस` को जिस व्यापक अर्थ में देखने का आग्रह करते हैं, वह व्यापक स्वरूप आनंदवर्धन के असंलक्ष्यक्रम से भिन्न `अन्यकृत` नहीं है। ध्वनिसिद्धान्त में समस्त भावविभूति` और `अनुभूति वैभव` की व्याख्या की क्षमता है।

(५) मूल रस-सिद्धान्त और ध्वनिसिद्धान्त में अनुभूति और कल्पना का द्वन्द्व नहीं है। काव्य-सृजन की प्रक्रिया में कवि की अनुभूति प्रतीयमान हो जाती है -- सृजनकर्ता से पृथक होकर कवि की अनुभूति शुद्ध भावरूप धारण कर लेती है। व्यक्तित्व से मुक्त यह शुद्ध अनुभूति सहृदय में संवेदना उत्पन्न करती है। कल्पना की प्रक्रिया वैयक्तिक अनुभूति को प्रतीयमान रूप में प्रस्तुत कर उसे सहृदय-संवेद्य बनाती है। अत: ध्वनिसिद्धान्त

में अनुभूति और कल्पना का समयोग है ।

(६) आनंदवर्धन ने रस, भाव, भावाभास आदि को असंलक्ष्यक्रम के भेद प्रतिपादित किए हैं - ये एक नहीं हैं, रस के अंतर्गत नहीं, उसी की कोटि के हैं । संपूर्ण भावजगत इनमें आ जाता है । अत: इस असंलक्ष्यक्रम कोटि के रहते अन्य किसी व्यापक रस-सिद्धान्त की कल्पना का महत्व विवादास्पद है ।

(७) डा० नगेन्द्र ने अनुभूति को ध्वन्यर्थ माना है । डा० दीक्षित अनुभूति की सचाई, अभिव्यक्ति की विशदता, व्यंजना की शक्ति, और प्रतीकों में भाव-विस्तार की सामर्थ्य वाली रचना को कविता कहते हैं । यह सब ध्वनिसिद्धान्त का ही आख्यान है - रससिद्धान्त का नहीं ।

(८) 'नयी कविता बौद्धिकता की छाया में विकस रही है उसमें नए-नए अर्थों को ध्वनित करने वाला प्रतीक-विधान... आदि जिन्हें नयी कविता की प्रमुख विशेषता कहा जा सकता है' आदि कथन भी प्रतीयमान अर्थ की ओर संकेत करता है । ध्वनिसिद्धान्त के संलक्ष्यक्रम विधान में बुद्धि तत्व की अपेक्षा स्पष्टत: स्वीकारी गई है । बौद्धिकता से संवलित कविता की व्याख्या एक मात्र ध्वनि सिद्धान्त में ही संभव है ।

(९) अत: भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा में काव्य की पूर्ण व्याख्या करने वाला सिद्धान्त ध्वनिसिद्धान्त ही है । प्रतीयमान अर्थ को महत्व देकर ध्वनिसिद्धान्त रचना की लघुतम इकाई रूपिम (Morpheme से प्रारंभ कर प्रबंधकाव्य तक की व्यंजकता का विवेचन करता है ।

२.६ काव्य का आत्मा

काव्य की परिभाषा करने का प्रयत्न कदाचित् काव्यशास्त्र जितना प्राचीन है । परन्तु काव्य के आत्मा के विषय में स्पष्ट कथन सर्वप्रथम आचार्य वामन का 'रीतिरात्मा काव्यस्य' ही है । यद्यपि भामह

और दण्डी जैसे अलंकार संप्रदायवादियों ने अलंकारों को काव्य के लिए अपरिहार्य तत्व स्वीकार किया है तथापि आत्मावत् उन्होंने भी नहीं कहा रीति से वामन का तात्पर्य विशिष्ट पदरचना है। और विशिष्ट का अर्थ है गुण युक्त , इस प्रकार गुणयुक्त पदरचना काव्य का आत्मा है। गुण वह धर्म है जो काव्य शोभा को उत्पन्न करता है। अत: गुणों का संबंध कलाकार की चित्तवृत्ति से जोड़ा अवश्य जा सकता है, पर वामन के मत में उसका स्पष्ट उल्लेख नहीं है।

काव्य के आत्मा के विषय में आनंदवर्धन का मत तर्कसंगत है। ध्वन्यालोक की प्रथम कारिका में ही कहा गया है --

`काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैः य: समाम्नातपूर्व:, अर्थात विद्वानों ने यह पूर्णत: भलीभाँति प्रकट कर दिया है कि काव्य का आत्मा ध्वनि है। ध्वनि की परिभाषा की जा चुकी है अत: यहाँ उस पर प्रासंगिकरूप से ही विचार किया जाएगा।

ध्वनि के तीन अर्थों में - व्यंजक शब्द व्यंग्य अर्थ, व्यंजना व्यापार और वह काव्य जिसमें व्यंग्यार्थ की प्रधानता है का समाहार किया गया है। यदि `आत्मा` का अभिनवकृत अर्थ लिया जाय जिसके अनुसार `आत्मा` शब्द `स्वभाव` का वर्धक है --`आत्मा स्वभाववचनं प्रकारं आह` तो `काव्यस्यात्मा ध्वनि:` का -- ध्वनि पद के व्युत्पत्ति-लब्ध अर्थ के प्रकाश में - अर्थ होगा, काव्य व्यंजक शब्द व्यंग्यार्थ और व्यंजना व्यापार इन तीनों के स्वभाव से युक्त है।

आत्मा का द्वितीय अर्थ है - प्राण, काया को जीवंत बनाने वाला तत्व। इस दृष्टि से विचार करने पर `काव्यस्यात्मा ध्वनि:` का अर्थ होगा कि काव्य को जीवंतता प्रदान करने वाला तत्व वाच्यातिशयी प्रतीयमान अर्थ है। आनंदवर्धन ने प्रतीयमान अर्थ को कवि की अनुभूति से जोड़ा है। कवि की अनुभूति ही प्रतीयमान अर्थ रूप में व्यक्त होकर काव्य

के आत्मा रूप में शोभा पाती है। काव्य के शब्द और अर्थ रूप शरीर में यह अनुभूति संवलित प्रतीयमान अर्थ आत्मा स्वरूप है।

कतिपय लोगों ने शब्द और अर्थ के शरीरवत् तथा प्रतीयमान् रसरूप अर्थ के आत्मावत् प्रतिपादन पर आपत्ति करते हुए इनमें गुण-गुणी का व्यवहार उचित माना है। उनका कथन है कि वाच्यार्थ रसादिमय प्रतीत होता है, रसादि से भिन्न नहीं।[१] अतएव कथावस्तु को शरीरभूत और रसादि को आत्मभूत मानने की आवश्यकता नहीं रहती। आनंदवर्धन इस आपत्ति को तर्क सम्मत नहीं मानते क्योंकि कथावस्तु को गुणी और रसादि को गौरत्व आदि के समान गुण मानने पर, जैसे शरीर के साथ गौरत्व गुण की प्रतीति सहृदय व असहृदय सब को होती है, वैसे ही कथावस्तु के साथ रसादि की प्रतीति भी सबको होनी चाहिए। परन्तु ऐसी प्रतीति सबको नहीं होती, केवल काव्यार्थतत्वज्ञों को ही होती है।

रत्नों के प्रसंग में यह देखा जाता है कि उनके उत्कर्ष को मर्मज्ञ जौहरी ही जान पाते हैं, इसी प्रकार वाच्यत्व का रसादिमय गुण भी सहृदयों के द्वारा ही पहचाना जाता है, तब इसे गुण मानकर कथावस्तु और रसादि में गुण-गुणी संबंध मानने में क्या आपत्ति है? आनंदवर्धन इस प्रकार भी गुण-गुणी संबंध अवधारण को उचित नहीं मानते। क्योंकि रत्न का उत्कर्ष रत्नस्वरूप भूत ही प्रतीत होता है। इसी प्रकार रसादि की प्रतीति भी विभावानुभावों से अभिन्न रूप में होनी चाहिए। परन्तु ऐसा नहीं होता, विभावानुभाव ही रसादि हैं ऐसी प्रतीति किसी को भी नहीं होती। यह प्रतीति तो विभावानुभावों से अविनाभाव, परन्तु उनसे पृथक ही होती है।[२] अत: रत्नों के उत्कर्ष के उदाहरण के अनुसार

---

१. रसादिमयं हि वाच्यं प्रतिभासते, न तु रसादिभि: पृथग्भूतय इति
ध्व०, आ० वि०, पृ.२४५

२. 'नहि विभावानुभावव्यभिचारिण एव रसा इति कस्यचिदवगम:।
अतएव च विभावादिप्रतीत्यविनाभाविनी रसादीनां प्रतीतिरिति
तत्प्रतीत्यो: कार्यकारणभावेन व्यवस्थानात् क्रमो अवश्यम्भावी। स तु
लाघवान्न प्रकाश्यते 'इत्यलक्ष्यक्रमा एव सन्तो व्यंग्या रसादय:' इत्युक्तम्
ध्व० तृ० उ० पृ.२४६, आ० वि०

भी कथावस्तु और रसादि में गुण-गुणी भाव संबंध नहीं माना जा सकता । विभावानुभाव और रस प्रतीति में कारण-कार्य भाव अवश्य है, परन्तु शीघ्रता के कारण इस क्रम की प्रतीति नहीं होती । अत: यह प्रतिपादित हुआ कि कथावस्तु रूप शरीर में रसादि रूप प्रतीयमान अर्थ आत्मा के समान है ।

आनन्दवर्धन रस रूप प्रतीयमान अर्थ को अधिक महत्व देते हैं और उसी में अन्य प्रकार के प्रतीयमान अर्थों का पर्यवसान भी मानते हैं । अत: रसरूप प्रतीयमान अर्थ ही काव्य का आत्मा है ।

परन्तु आनंदवर्धन ने 'काव्यस्यात्माध्वनि:' कहा है और वाच्य से प्रतीयमान अर्थ की प्रधानता के स्थल में ध्वनि व्यपदेश किया है । पुन: 'काव्यस्यात्मा स एवार्थ:' कहकर प्रतीयमान रस को ही काव्य का आत्मा मान लिया है । तब सामान्येन 'ध्वनि' में आत्मा पद के व्यवहार और केवल 'रस' में आत्मा पद के व्यवहार में संगति कैसे होगी ।

वस्तुत: सृजन प्रक्रिया की दृष्टि से विचार करने पर यह अवभासित विसंगति स्वयं निरस्त हो जाती है । कवि की अनुभूति सृजन के दौर में प्रतीयमान हो जाती है । जहां वाच्य के साथ ही सा प्रतीयमान अनुभूति रूप अर्थ प्रकाशित होता है, वह रस का स्थल है । कवि को इसी के प्रति अवधानवान होना चाहिए, यही प्रमुख है, । इसी अर्थ में रस को काव्य का जीवित तत्व अर्थात् आत्मा कहा गया है ।

परन्तु कविता के ऐसे प्रभूत उदाहरण हैं जिनमें वाच्य के साथ ही प्रतीयमान भाव रूप अर्थ की प्रतीति नहीं होती । प्रतीयमान अर्थ, इन उदाहरणों में रहता है - प्रधान भी होता है, पर उस अर्थ तक पहुंचने में बुद्धि का व्यापार स्पष्ट परिलक्षित होता है । सहृदय इस अर्थ तक पहुंचकर चमत्कृत होता है । इस कोटि में और रसादि की असंलक्ष्यक्रम कोटि में उभयनिष्ट तत्व प्रतीयमान अर्थ की अतिशयता है । असंलक्ष्यक्रम में अर्थाभि-

व्यक्ति का चमत्कृति रूप प्रकाश तुरंत होता है, द्वितीय में बुद्धि का व्यापार होने से चित्तविस्ताररूपा चमत्कृति विलंबित होती है। परन्तु दोनों कोटियों में फल एक है -- प्रतीयमानार्थ की प्रधानता दोनों में है। अत: दोनों प्रकारों में काव्यशरीर को जीवंतता देने वाला तत्व प्रतीयमान अर्थ की प्रधानता ही है, इसी दृष्टि से सामान्येन `काव्यस्यात्मा ध्वनि:` कहा गया है।

पुन:, आनंदवर्धन ने वस्तु और अलंकार रूप प्रतीयमान अर्थ का पर्यवसान किसी न किसी भाव के उत्प्रेरण में माना है। अत: प्रतीयमान वस्तु और अलंकार रूप अर्थ भी सहृदय की चित्तवृत्ति को अपनी भाव संपदा से ही प्रभावित करते हैं। अतएव वस्तु और अलंकार रूप अर्थ के स्थलों में ध्वनि का व्यपदेश उचित ही है और इस अर्थ में ध्वनि को आत्मा कहना भी संगत। ध्वनि अथवा अनुभूति की प्रतीयमानता काव्य-प्रक्रिया की नियति है, यही काव्य का प्राण तत्व है, अत: आत्मा भी।

आनंदवर्धन के पूर्व आचार्यों द्वारा प्रस्तुत की गई काव्य के आत्मा विषयक विचारणाएं इस समस्या के सन्निकर्ष को भी स्पर्श नहीं कर सकी थीं। उच्चकोटि की कविता में अलंकारों के सद्भाव अथवा अभाव से कोई अंतर नहीं पड़ता। कविता के ऐसे उदाहरण भी हैं जिनमें अलंकारों के अभाव में चित्ताकर्षण का गुण है और ऐसे भी जिनमें अनेक अलंकार हैं पर चित्ताकर्षण की सामर्थ्य नहीं है।

जहां तक गुण, रीति और वृत्ति का प्रश्न है, इनकी स्वतंत्र अन्यनिरपेक्ष कोई भूमिका कविता में नहीं हैं। गुण रस विशेष से नियंत्रित होते हैं अत: उनकी मूल्यवत्ता रस के संदर्भ में ही है। परिणामत: आनंदवर्धन ने रस को काव्य का आत्मा कहा, पर ऐसा कहने में भी अनेक खतरे थे। तब रस का अर्थ परंपरागत `विभावानुभाव... ` सूत्र में परिबद्ध समझा जाता था। आनंदवर्धन का तात्पर्य इस प्रक्रिया से न था। इस

कठिनाई को वे समझते थे । फिर प्राचीन आचार्यों ने विभिन्न काव्यों की उत्तमता की विभिन्न कोटियों का भी कोई विवेक नहीं किया था । आनंदवर्धन ने ध्वनिसिद्धान्त में इन दोषों का परिहार किया।

यह नहीं कहा जा सकता कि सभी कविताएं समानरूप से उत्तम होती हैं । ध्वनिपूर्व काव्यसिद्धान्त इस उत्तमता की कोटियों के कोई निकष प्रस्तुत नहीं करते । ध्वनिसिद्धान्त निकष देता है । प्रतीयमान अर्थ के विविध प्रकार हैं । रस की प्रतीयमानता श्रेष्ठ है, परन्तु ऐसे भी प्रकार हैं जिनमें रस अंगभूत हो। प्रभूत मात्रा में उपलब्ध कविता आनंदवर्धन की इस धारणा के प्रमाण है -- यह काव्य प्रथम कोटि का नहीं कहा जा सकता पर साथ ही इसे काव्य की श्रेणी से बाहर भी कैसे रखा जा सकता है ।

रस के अभाव में भी सौन्दर्य हो सकता है । सौन्दर्य प्रतीयमानता का धर्म है अत: जहां रस प्रतीयमान नहीं है, कोई भाव अथवा विचार भी प्रतीयमान है वहां भी सौन्दर्य होगा । इस प्रकार आनंदवर्धन ने अपने सिद्धान्त में रस, भाव, अलंकार, विचार आदि की प्रतीयमानता का आख्यान कर संपूर्ण कविता को समेट लिया है ।

[illegible] संपूर्ण भावानुभूति और विचार संपत्ति को रस में ग्रहण करने का आधार यही विचारणा है । हमारा निश्चित मत है कि जब ध्वनिसिद्धान्त सुदृढ़ निकष प्रस्तुत करता है तब `रस-सिद्धान्त` को व्यापक करने की आवश्यकता नहीं है । और जिसे व्यापक `रस-सिद्धान्त` कहा जा रहा है, वह असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य प्रतिपादित रस, भावादि ही है ।

फिर मुक्तक कविता का विवेचन तो ध्वनि-सिद्धान्त के निकष के पर ही किया जा सकता है ।

२.७ रस ध्वनि का महत्व

ध्वन्यालोक के चतुर्थ उद्योत में रस के महत्व को प्रतिपादित करने वाली कारिकाएं हैं । ये रसादि अर्थ के अनुसरण, रसस्पर्श से अर्थों की अपूर्वता

तथा अन्यान्य प्रतीयमान अर्थों की अपेक्षा रस रूप अर्थ की प्रधानता का ज्ञापन करती हैं। इससे यह निष्कर्ष भली भाँति प्राप्त किया जा सकता है कि आनंदवर्धन वस्तु अथवा अलंकार रूप संलक्ष्यक्रमव्यंगय की तुलना में रस रूप अर्थ को अधिक महत्त्व देते हैं।

कवि को विस्तृत रसादि रूप अर्थों का ही अनुसरण करना चाहिए क्योंकि रसादि के आश्रय से परिमित काव्य-मार्ग भी अनन्त हो जाते हैं।[1] रसादि में भाव, भावाभास, भावशान्ति आदि का भी समाहार है, अतः इन सबके अनुसरण का निर्देश दिया गया है। यदि रस-भावादि के प्रत्येक के अपने-अपने विभावादि का अनुसरण किया जाय तो स्वभावतः काव्य-मार्ग अनन्त हो ही जाएंगे।[2] जिस प्रकार बसन्त ऋतु को पाकर वृक्ष नूतन से प्रतीत होते हैं (नवा इवाभान्ति मधुमास इव द्रुमा) वैसे ही काव्य में रस परिग्रहण (रस परिग्रहात्) से पूर्वदृष्ट पदार्थ भी नूतन प्रतीत होते हैं[3] (नवा इवाभान्ति)।

यद्यपि व्यंग्य-व्यंजक भाव के अनेक प्रकार हैं तथापि आनंदवर्धन के अनुसार रसादि रूप भेद विशेषतः ध्यातव्य हैं।[4] नानारूपवाला व्यंग्य-व्यंजक भाव अर्थ-आनन्त्य का हेतु है। तब भी अर्थसिद्धि के लिए कवि (कविरपूर्वार्थलाभार्थी) को यत्न पूर्वक एक रसादिमय व्यंग्य-व्यंजक भाव में अवधानवान होना चाहिए। यदि कवि रसादिमय अर्थ और [illegible] उसके

---

१. युक्त्यानयानुसर्तव्यो रसादिर्बहुविस्तरः।
मिताऽप्यनन्ततां प्राप्तः काव्यमार्गो यदाश्रयात्॥ ध्व० च.उ. आ.वि. पृ. ३४०

२. ध्व०.... पृ. वही

३. ,, पृ. ३४१

४. व्यंग्य-व्यंजकभावेऽस्मिन्विधे सम्भवत्यपि।
रसादिमय एकस्मिन्कविः स्यादवधानवान्॥ ध्व० पृ. ३४४

व्यंजक वर्ण, पद, वाक्यादि के प्रयोग में पूर्ण सावधान रहे तो उसका सम्पूर्ण काव्य ही अपूर्व हो जाता है[1] (कवेः सर्वमपूर्वं काव्यं सम्पद्यते)। रस के आश्रय से नूतनता के उदाहरण स्वरूप आनंदवर्धन ने रामायण-महाभारत का उल्लेख किया है। इन महाकाव्यों में युद्धादि का वर्णन अनेक बार किया गया है- पर वह पिष्ट पेषित सा नहीं लगता, वरन् उनमें सर्वत्र हृदयस्पर्शिता है। रामायण-महाभारत के सारभूत कथन भी कहीं वाच्यरूप में प्रकट नहीं किए गए हैं। आनंदवर्धन के अनुसार सारभूत कथन व्यंग्यरूप में प्रकाशित होकर ही शोभातिशय का हेतु बनता है।[2]

आनंदवर्धन ने अनेक उदाहरणों के द्वारा दृष्टपूर्व अर्थों की रस के आश्रय से नूतनता प्रमाणित की है। कतिपय उदाहरण निम्नलिखित हैं --

(१) शेषो हिमगिरिस्त्वं च महान्तो गुरवः स्थिराः।
यदलंघितमर्यादाश्चलन्तीं बिभ्रथ भुवम्॥[3]

(शेषनाग, हिमालय और तुम महान्, गुरु और स्थिर हो। क्योंकि मर्यादा का अतिक्रमण न करते हुए चंचल पृथ्वी को धारण करते हो।)

इसी भाव का व्यंजक निम्नलिखित श्लोक है।

(२) वृत्तेऽस्मिन् महाप्रलये धरणी धारणायाधुना त्वं शेषः[4]

(इस महाप्रलय (पिता और भ्राता की मृत्यु रूप) के हो जाने पर पृथिवी (राज्यभार) को धारण करने के लिए अब तुम शेष (शेषनाग) हो)

---

१. ध्व० वही पृ ३४४

२. ,, ,, ,, ३४६

३. ध्वन्यालोक, सं० आ. विश्वेश्वर, पृ.३४१

४. ,, ,, पृ.१५६

इस श्लोक में राजा की उपमा शब्दशक्त्युद्भव अलंकार ध्वनि रूप में व्यंग्य है। इस व्यंग्य अलंकार रूप अर्थ के कारण यह श्लोक प्रथम की अपेक्षा नूतन एवं चमत्कारयुक्त है।

इसी प्रकार 'एवंवादिनि देवर्षौ...' इत्यादि श्लोक में

(३) कृते वरकथालापे कुमार्यः पुलकोद्गमैः।
सूचयन्ति स्पृहामन्तर्लज्जयावनताननाः ॥[१]

(वर की चर्चा के अवसर पर लज्जावनत मुख वाली कुमारियाँ पुलक से आन्तरिक इच्छा को व्यक्त करती हैं।)

श्लोक की अपेक्षा अधिक चमत्कार है। 'एवं वादिनि....' आदि श्लोक में अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि का आश्रय लिया गया है। द्वितीय में लज्जा और स्पृहा वाच्य रूप में कथित हैं। इसी प्रकार 'सज्जयति सुरभिमासो' आदि श्लोक निम्नलिखित श्लोक की अपेक्षा अपूर्व है --

(४) सुरभिसमये प्रवृत्ते सहसा प्रादुर्भवन्ति रमणीयाः।
रागवतामुत्कलिकाः सहैव सहकार कलिकाभिः ॥[२]

(वसन्त ऋतु के आने पर आम्रमंजरियों के साथ प्रणयी जनों की रम्य उत्कण्ठाएं सहसा उत्पन्न होने लगती हैं।)

'सज्जयति सुरभिमासो....' आदि श्लोक में कविप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तु से मदनविजृम्भणरूप वस्तु अर्थ प्रतीयमान है। इसी से इसमें चारुत्व आ गया है।

इसी प्रकार -

(५) करिणीवैधव्यकरो मम पुत्र एककाण्डविनिपाती।
हतस्नुषया तथा कृतो यथा काण्डकरण्डकं वहति ॥[३]

(एक ही बाण के प्रयोग से हथिनियों को विधवा करने वाले मेरे पुत्र को उस पुत्रवधू ने ऐसा कर दिया है कि वह अब तूणीर लादे घूमता है।)

---

१. ध्वन्यालोकः, सं० आ० विश्वेश्वर, पृ.३४२
२. वही, पृ.३४३
३. वही, पृ.१६१

उपर्युक्त श्लोक की अपेक्षा अर्थशक्त्युद्भव संलक्ष्यक्रम व्यंग्य के कविनिबद्ध-वक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध होने के कारण निम्नलिखित श्लोक अधिक चारुत्वमय है --

(६) वणिजक हस्तिदन्ताः कुतोऽस्माकं व्याघ्रकृत्तयश्च ।
यावल्लुलितालकमुखी गृहे परिष्वङ्क्ते स्नुषा ।।[१]

(हे वणिक, जब तक चंचल अलकों से युक्त मुखवाली पुत्रवधू घर में घूमती है तब तक हमारे यहां हाथीदांत और व्याघ्रचर्म कहां से आये ।)

आनंदवर्धन का मत है कि रस में तत्पर कवि के लिए प्रत्येक वस्तु उसकी इच्छा से उसके अभिमत रस का अंग बन जाती है । इस प्रकार रस के अंगरूप में उपनिबद्ध वस्तु चारुत्वातिशय का पोषण करती है । अत: सभी पदार्थों का रस के साथ संबंध स्थापित किया जा सकता है । कवि जब रसादिमयता में तत्पर होता है तो गुणीभूत व्यंग्य ध्वनि भेद भी इसका अंग बन जाता है । [२]

इस अनन्त काव्य जगत में कवि ही प्रजापति है, यह विश्व उसकी इच्छा के अनुरुप ही परिवर्तित होता रहता है । यदि कवि रसिक (शृंगारी) है तो समस्त जगत ही रसमय हो जाता है, यदि वह वीतरागी है तो जगत नीरस हो जाता है । वस्तुत: जो कवि है, वह अपने काव्य में अचेतन को चेतन और चेतन को अचेतन सदृश प्रस्तुत कर सकता है-उनसे वैसा व्यवहार करा सकता है । [३]

सभी काव्यप्रकारों में रसादि की प्रतीति हो सकती है । परन्तु वह संभव है कि स्वयं कवि की रसादि की विवक्षा ही न हो ।

---

१. ध्व० पृ० १६१

२. तस्मान्नास्त्येव तद्वस्तु यत्सर्वात्मना रसतात्पर्यवत: कवेस्तदिच्छया तदभिमतरसांगतां न धत्ते । तथोपनिबध्यमानं वा न चारुत्वातिशयं पुष्णाति सर्वमेतच्च महाकवीनां काव्येषु दृश्यते । ध्व० आ०वि०, पृ३१३

३. ध्व० तृ० उ० , आ० वि० पृ. ३१२

ऐसी अवस्था में यदि वह कवि अर्थालंकार अथवा शब्दालंकार की रचना करता है तब कवि की विवक्षा की दृष्टि से रस-शून्यता की कल्पना भी की जा सकती है। विवक्षित अर्थ ही काव्य-शब्द का अर्थ है, यदि कवि का विवक्षित अर्थ रस रूप नहीं है -- फिर भी रस की कुछ प्रतीति होती है तो वह प्रतीति निर्बल होगी, इस दृष्टि से वह काव्य रस-शून्य होगा। रस आत्मा है अत: आत्मा से शून्य काव्य निर्जीव चित्र के समान होगा।[1] इसका तात्पर्य यह हुआ कि आनंदवर्धन अलंकार और वस्तु रूप अर्थ का निबंधन भी किसी न किसी रस अथवा भाव की छाया से युक्त मानते हैं। अलंकार अथवा वस्तुध्वनि में भी भाव का आधार रहता है। रस ध्वनि में जहां सहृदय कवि के विवक्षित अर्थ तक तत्काल पहुंचता है, अलंकार अथवा वस्तु ध्वनि में रस ध्वनि की अपेक्षा विलंब से। आनंदवर्धन गुणीभूतव्यंग्य का पर्यवसान भी ध्वनि में मानते हैं--

(क) 'गुणीभूतव्यंग्योऽपि काव्य प्रकारो रसभावादितात्पर्या-
लोचने पुन: ध्वनिरेव सम्पद्यते।'[2]

(गुणीभूतव्यंग्य नामक काव्यभेद रस आदि के तात्पर्य के विचार से फिर ध्वनिरूप हो जाता है।)

डा० नगेन्द्र 'रस' और 'रस ध्वनि' को अभिन्न मानते हैं, तब 'रस' और 'ध्वनि' की तुलना का प्रश्न ही नहीं रह जाता। और इस स्थिति में काव्य-रस आनंदवर्धन प्रतिपादित रस-ध्वनि ही सिद्ध होता है।

२.८ रस की परिभाषा

भारतीय काव्यशास्त्र में रस-निष्पत्ति-विवेचन का आधार भरत का 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्ति:' सूत्र है। नाट्यशास्त्र के भाष्यकार अभिनव ने इसे लक्षण सूत्र[3] कहा है। रस की निष्पत्ति को

---

१. रसभावादिविषयविवक्षाविरहे सति।
अलंकारनिबन्धो य: स चित्रविषयो मत:।। ध्व०, आ०वि०, तृ०उ०, पृ.३११

२. ध्व०... ...आ०वि०, तृ० उ०, पृ.३०२

३. हिन्दी अभिनव भारती, पृ.४४२

स्पष्ट करते हुए भरत ने भोज्य रसों की उत्पत्ति के उदाहरण दिए हैं। इसी प्रसंग में --'रस इति क: पदार्थ' कहकर रस की परिभाषा अथवा स्वरूप का निरुपण करने का प्रयत्न भी किया गया है। प्रथम रस-स्वरूपविधायक सूत्र है --'आस्वाद्यत्वात्' अर्थात् आस्वाद्य होने से 'रस' को 'रस' नाम से कहा जाता है। इस आधार पर रस का लक्षण आस्वादन का विषय होना है। जो भी रस होगा वह आवश्यक रूप से आस्वादन का विषय भी होगा। अत: रस के साथ अस्वादन का प्रसंग उसके मूल रूप के साथ ही जुड़ा है। परन्तु रस का आस्वादन कैसे होता है ? आस्वादन के स्वरूप-निर्णय के अभाव में यह स्पष्ट नहीं हो सकता। भरत ने कहा है --'जैसे गुड़, द्रव्य तथा नाना औषधियों से संस्कृत अन्न का भोग करते हुए प्रसन्नहृदय व्यक्ति हर्षादि का अनुभव करते हैं उसी प्रकार प्रसन्न प्रेक्षक विविध भावों एवं अभिनयों द्वारा व्यंजित - वाचिक, आंगिक तथा सात्त्विक अभिनयों से संयुक्त स्थायी भावों का आस्वादन करते हैं तथा हर्षादि को प्राप्त होते हैं --इसलिए नाट्य के माध्यम से आस्वादित होने के कारण ये नाट्य रस कहलाते हैं।' १

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट होता है कि भरत नाट्य के संदर्भ में रस , आस्वादन और अनुभूति तीनों का पृथक वर्णन करते हैं। संस्कृत अन्न, उसका अस्वादन और आस्वादन का फल हर्षादि का अनुभव। इसी प्रकार रस, उसके आस्वादन और आस्वादन से उत्पन्न हर्षादि की अनुभूति का क्रम है। इन तीनों में कार्यकारण शृंखला स्पष्ट है। भरत का यह विवेचन पूर्णत: व्यावहारिक है, और इसके अनुसार रस, विभाव, अनुभाव और संचारियों के योग से रंगमंच पर निष्पन्न होता

---

१. 'तथा नानाभावाभिनयव्यंजितान् वागङ्गसत्त्वोपेतान् स्थायिभावनास्वादयन्ति सुमनस: प्रेक्षका: हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति तस्मान्नाट्यरसा इत्यभिव्याख्याता:'

है। प्रेक्षक इस रस का आस्वादन करते हैं तथा हर्षादि का अनुभव करते हैं।

प्रेक्षक के आस्वादन के विषय में भरत मुनि ने विस्तार पूर्वक विवेचन किया है। भरत के मतानुसार रंगमंचगत प्रयोग का साध्य सिद्धि है। रंगमंच पर प्रस्तुत नाट्य के प्रति प्रेक्षक की दो प्रकार की प्रतिक्रियाएं होती हैं --

(१) शारीरी अथवा मानुषी और

(२) दैवी

शारीरी प्रतिक्रिया में प्रेक्षकों के पुलकित होने, वस्त्र उछालने आदि का वर्णन है - यह प्रतिक्रिया शारीरी सिद्धि है। दैवी सिद्धि में प्रेक्षक भावमग्न हो जाता है - तन्मय हो जाता है। इस स्थिति में उसके मुख से कोई शब्द नहीं निकलता न कोई क्षुब्धता परिलक्षित होती है।[१] नाट्य प्रयोग का लक्ष्य यही 'दैवी सिद्धि' है। इसी सिद्धि का साधन रस है। भरत के अनुसार यह रस और दैवी सिद्धि अर्थात आनंद एक ही वस्तु नहीं है।

भट्ट लोल्लट और शंकुक (रस सूत्र के प्रथम दो व्याख्याता) ने रस की परिभाषा नहीं दी है वरन् रस-निष्पत्ति का ही विवेचन किया है। यह विवेचन नाट्य से जुड़ा है।

काव्य के संदर्भ में दण्डी ने रस के भरत अनुमत रूप को स्वीकारते हुए रति स्थायीभाव की परिणति शृंगार रस रूप में प्रतिपादित की। डा० नगेन्द्र ने अपने 'रस-सिद्धान्त' ग्रन्थ में भरत और दण्डी का मत उद्धृत करने के उपरांत अभिनव के विवेचन को प्रस्तुत किया है। आनंदवर्धन को वे छोड़ गए हैं, संभवत: आनंदवर्धन को ध्वनिसंप्रदायवादी

---

१. न शब्दो यत्र न क्षोभो न चोत्पात निदर्शनम्।
संपूर्णता च रंगस्य दैवी सिद्धिस्तु सा स्मृता।। ना.शा.

मानकर । परन्तु जैसा कि कहा जा चुका है भरत के नाट्यसंदर्भीय सूत्र के कविता के संदर्भ में निभ्रान्ति प्रयोक्ता तो आनंदवर्धन ही हैं । अभिनव ने भी आनंदवर्धन के सिद्धान्त का ही विस्तार किया है । रस के प्रसंग में हिन्दी के अध्येताओं ने आनंदवर्धन के मौलिक योगदान की सर्वथा उपेक्षा की है, जिन्होंने उनका नाम लिया भी तो गौण रूप में । अन्यथा नाट्य रस के संदर्भ में जो स्थान आद्य आचार्य भरत मुनि का है वही स्थान कविता के क्षेत्र में रस-प्रतिष्ठापन करने वाले आनंदवर्धन का है । रस की अभिव्यक्ति का सिद्धान्त आनंदवर्धन ने प्रस्तुत किया । रस की व्यंग्यधर्मिता का प्रतिपादन आनंदवर्धन की देन है । अभिनवगुप्त के रस-विवेचन की आधार भूमि ध्वन्यालोक ही है ।

रस की परिभाषा के संबंध में आनंदवर्धन भरत मुनि से दूर नहीं है ।

जैसे भरत मुनि ने नाट्य में रस माना है, आनंदवर्धन काव्य में प्रतीयमान अर्थ रूप में रस मानते हैं । नाट्य में जैसे प्रत्यक्ष विभावानुभावों के द्वारा स्थायीभाव व्यंजित होता है, वैसे ही काव्य में रस प्रतीयमान अर्थ के रूप में व्यंजित होता है । नाट्य में तो प्रेक्षक की आँखों के सामने पूरा - नाट्य-व्यापार होता है , काव्य में यह अर्थ रूप ही हो सकता है - इसी रस रूप अर्थ की व्यंजना सहृदय में होती है । अत: आनंदवर्धन के अनुसार रस अर्थरूप है । असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य के प्रसंग में लिखा है --

'रसादिरर्थो हि सहैव वाच्येनावभासते '[१]

(रसादिरूप अर्थ वाच्य के साथ ही सा प्रतीत होता है)

यह रसादि रूप अर्थ महाकवियों की वाणी में उपस्थित रहता है --

'प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् ।'[२]

---

१. ध्व०, २.३

२. ध्व०, १.४

महाकवियों की वाणी में यह रस रूप अर्थ उनकी अपनी अनुभूति की 'कलात्मक परिणति' होता है। महाकवियों का भाव ही प्रतीयमान रस रूप अर्थ में व्यक्त होता है। तब यही रस रूप अर्थ सहृदय में अभिव्यक्त होकर चमत्कार उत्पन्न करता है। अतः रस चमत्कार का हेतु है। गुणों के प्रसंग में भी आनंदवर्धन ने स्पष्ट कहा है--

शृंगार एव रसान्तरापेक्षया मधुरः प्रह्लादहेतुत्वात्[1]

अतः रस स्वयं प्रह्लाद नहीं, उसका हेतु है। आनंदवर्धन ने काव्य, रस, आस्वादन और अनुभव के क्रम को तर्कसम्मत ही रखा है। काव्य एक स्वतंत्र जीवंत अस्तित्व है, रस कर इस काव्य का आत्मास्वरूप है। वस्तुतः काव्य का चैतन्य अंश उसका अर्थ ही है। इसीलिये रस रूप अर्थ को --

'काव्यस्यात्मा स एवार्थः'[2]

कहा गया है। आनंदवर्धन के उपर्युक्त विवेचन में इसका स्वरूप ही उभरता है --'रस क्या है' - इसका उत्तर नहीं मिलता। यदि देना ही चाहें तो कहा जा सकता है कि कविता पढ़ने पर वाच्यार्थ के साथ-साथ ही सी जिस अर्थ की अभिव्यक्ति से सहृदय को चमत्कार की प्रतीति होती है वह चमत्कृत करने वाला अर्थ रस है। स्पष्ट ही उपर्युक्त धारणा भरत की नाट्यरस-धारणा के अनुकूल है।

नाट्यशास्त्र के अभिनव-भारती भाष्य में परम महेश्वर अभिनवगुप्त ने आनंदवर्धन के उपर्युक्त मत को स्वीकार किया है। अभिनव ने लिखा है - 'तत्काव्यार्थो रसः'[3] अर्थात् वही काव्यार्थ रस है। काव्यात्मक वाक्य से अधिकारी सहृदय को रसात्मक व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है। अभिनव के एतत्संबंधी मत का सारांश निम्नलिखित है --

---

१. ध्व० २.७
२. ध्व० १.५
३. हि० अ० भा०, पृ.४७०

(१) काव्यार्थ रस है ।

(२) निर्मल प्रतिभाशाली हृदय वाला अर्थात् सहृदय पुरुष इस काव्यार्थ रूप रस का अधिकारी है । (अधिकारी चात्र विमलप्रतिभानशालिहृदय:)[१]

(३) सहृदय को `ग्रीवाभंगाभिराम`, `उमापि नीलालक` `हरस्तु किंचित्` आदि श्लोकों से वाक्यार्थ की प्रतीति के अनंतर । (इत्यादि वाक्येभ्यो वाक्यार्थप्रतिपत्ते-रनन्तरं)[२]

(४) मानसी साक्षात्कारात्मिका प्रतीति होती है (मानसी साक्षात्कारात्मिका प्रतीतिरुपजायते ।)[३]

(५) यह प्रतीति उस - उस वाक्य में गृहीत कालादि की उपेक्षा वाली होती है । (अपहसिततत्तद्वाक्योपात्त कालादिविभागा।)[४]

आनंदवर्धन वाक्यार्थ के प्राय: साथ-साथ रसादि अर्थ की प्रतीति मानते हैं अभिनव ने वाक्यार्थ के अनन्तर (वाक्यार्थप्रतिपत्तेरनन्तरं) उस रस रूप अर्थ की प्रतीति का प्रतिपादन किया है । यहां तक अभिनव ने भी रस को आस्वाद्य ही माना है । निर्विघ्न प्रतीति को तो अभिनव भी चमत्कार मानते हैं - `सा चाविघ्ना संवित् चमत्कार:`[५]
रस चमत्कार नहीं है चमत्कार रूपा प्रतीति का हेतु है । वस्तुत: यहां अभिनव ने भरत और आनंदवर्धन के मत के अनुकूल ही अपना भाष्य भी रचा है ।

---

१. हि० अ० भा०, पृ० ४७०
२. ,, ,, ,, पृ० ,,
३. ,, ,, ,, ,, ,,
४. ,, ,, ,, ,, ,,
५. ,, ,, ,, ,, ४७१

२.६ <u>रस का स्वरूप</u>

आनंदवर्धन ने रस प्रसंग को इसके वास्तविक त्रिकोण में विवेचित किया है। यह त्रिकोण है -- कवि, काव्य और सहृदय का। रस के स्वरूप की व्याख्या इन्हीं तीनों के संदर्भ में की गई है। कवि के संदर्भ में रस उसकी अनुभूति का परिचायक है। कवि की अनुभूति रसरूप अर्थ में परिणत होकर काव्य कहलाती है। महाकवियों की वाणी रूप काव्य में यह प्रतीयमान रस वैसे ही भासित होता है जैसे अंगनाओं का लावण्य उनके प्रसिद्ध अंगों से भिन्न ही 'कुछ' प्रतीत होता है। महाकवियों की वाणी में प्रकट होकर यह उनकी प्रतिभा के वैशिष्ट्य को प्रकट करता है --

सरस्वतीस्वादु तदर्थवस्तु निःष्यन्दमाना महतां कवीनाम्।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिमाविशेषम।[1]

(उस (प्रतीयमान रसभावादि) अर्थतत्व को प्रवाहित करने वाली महाकवियों की वाणी (उनके) अलौकिक प्रतिमासमान प्रतिमा के वैशिष्ट्य को प्रकट करती है।)

रस सदैव व्यंग्य-स्वरूप होता है। यह रस का स्वरूपगत वैशिष्ट्य है। रस वाच्य की सामर्थ्य से आदािप्त अवश्य होता है, परन्तु वह साक्षात शब्द व्यापार का विषय नहीं होता। यदि रस की वाच्यता हो सकती है तो दो ही प्रकार से। प्रथम प्रकार की वाच्यता, रस अर्थात् शृंगारादि शब्दों के प्रयोग द्वारा हो सकती है। द्वितीय वाच्यता विभावादि के प्रयोग द्वारा हो सकती है। परन्तु यह देखा गया है कि रस की प्रतीति विभावमुखेन ही होती है। केवल रस अथवा शृंगार, वीर आदि शब्दों के प्रयोग से रस की प्रतीति नहीं होती। इसके विपरीत यदि रस अथवा शृंगार, वीर आदि शब्दों का प्रयोग न भी हो और विभावादि का वर्णन

---

१. ध्व०, आ० वि०, पृ.३१

हो तो रस की प्रतीति होती है। अत: रसादि वाच्य की सामर्थ्य से आक्षिप्त तो होते हैं, स्वयं वाच्य नहीं होते।[१] काव्य में चैतन्य का प्रवाह करने वाला रस ही है। आनंदवर्धन ने इसीलिए कहा है --

`काव्यास्यात्मा स एवार्थ:`

सहृदय के नेत्रों के लिए यह प्रतीयमान अर्थरूप रस अंगनाओं के सौन्दर्यसदृश अमृततुल्य होता है।[२] काव्यार्थतत्व से विमुख रहने वालों को इस अर्थ रूप रस की प्रतीति नहीं होती।

`रस` चारुत्व (सौन्दर्य) रूप है, वह आस्वाद का विषय है। `स्वादु` से आनंदवर्धन का यही अभिप्राय है। रस की प्रतीति चमत्काररूपा है।

इस प्रकार आनंदवर्धन ने रस के स्वरूप के विषय में जो कुछ कहा है, उसमें अलौकिकत्व जैसा कुछ भी नहीं है, वह काव्य के संदर्भ में पूर्णत: व्यावहारिक है।

भट्ट नायक ने रस के आस्वाद को `ब्रह्मास्वाद` सदृश कहा। इस प्रकार रस के आस्वादन के संबंध में सर्वप्रथम दार्शनिक शब्दावली का प्रयोग प्रारंभ हुआ। अभिनवगुप्त की तद्विषयक मान्यताओं में आनंदवर्धन और भट्ट नायक की विचारणाओं तथा शैव दर्शन का मिश्रण है। अभिनव रसानुभूति को आह्लादमय कहते हैं, अलौकिक - चमत्कार स्वरूप मानते हैं साथ ही उसे आत्मास्वादरूप ब्रह्मास्वाद के समकक्ष भी प्रतिपादित करते हैं। वस्तुत: ये कथन रसास्वाद के लिए ही हैं, परन्तु आस्वादन की स्थिति में आस्वाद्य, आस्वादयिता और आस्वाद में अभेद मानते हुए अभिनव ने रस को भी आस्वाद कह दिया, परिणामत: रसानुभूति के स्वरूप के विषय में जो कुछ कहा गया था, वही `रस` के लिए भी कहा जाने लगा।

---

१. साहित्यदर्पण, ३.२.३.

२. रससिद्धान्त, डा० नगेन्द्र, पृ.८७.

परन्तु रसानुभूति के स्वरूप में आनंदवर्धन कथित 'चमत्कार' की धारणा परवर्ती आचार्यों के मतों में निरंतर बनी रही । यही धारणा वस्तुत: केन्द्र बिन्दु है जिसके चतुर्दिक अन्य शब्दों का जाल रचा गया ।

कवि राज विश्वनाथ का --

सत्वोद्रेकादखण्ड स्वप्रकाशानन्दचिन्मय: ।
वेधान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदर: ।।
लोकोत्तरचमत्कारप्राण: कैश्चित्प्रमातृभि: ।
स्वाकारवदभिन्नत्वेन अयमास्वाद्यते रस: ।।

यह श्लोक रस-स्वरूप विषयक माना गया है । डा० नगेन्द्र ने इसे 'रस-स्वरूप विषयक व्याख्यान विश्लेषण' कहा है । वस्तुत: रस की-आस्वादन के समय चित्त की अवस्था क्या होती है, किस प्रकार रसास्वादन के क्षणों में अन्य अनुभूति नहीं रहती, चित्त कैसा अनुभव करता है आदि रसास्वाद स्वरूप विषयक आख्यान कविराज विश्वनाथ ने उपर्युक्त श्लोक में किया है । रस और 'रस की अनुभूति' को एक मान लेने के भ्रम के कारण इसे रस का स्वरूप कहा गया है । कविराज विश्वनाथ ने उपर्युक्त कारिका में स्पष्ट कहा है - 'अयमास्वाद्यते रस:' । यही सत्य है । परन्तु यह कथन कविराज को अभिनव के मत के अनुकूल नहीं लगा, यद्यपि यह उनका स्वयं का मत है, अत: वृत्ति में उन्होंने इतने स्पष्ट और तर्क सम्मत मत को पुन: अभिनव के अनुकूल करने के लिए - लंबा शास्त्रार्थ प्रस्तुत किया है ।

काव्यास्वाद के संबंध में कविराज ने प्राचीन आचार्यों की यह उक्ति - 'स्वाद: काव्यार्थसम्भेदादात्मानन्दसमुद्भव:' उद्धृत की है । इसका अर्थ है 'काव्यार्थ के ज्ञान से आत्मानन्द जैसा अनुभव स्वाद है ।' यह उक्ति दशरूपककार धनंजय - धनिक की है । धनंजय - धनिक ने रस और उसके आस्वाद की एकरूपता सिद्ध करने के लिए यह पंक्ति नहीं कही है । कविराज ने इसका प्रयोग रस को आस्वाद से अभिन्न सिद्ध करने लिए किया है ।

दशरूपककार का पूरा श्लोक निम्नलिखित है --

स्वाद: काव्यार्थसंभेदादात्मानन्दसमुद्भव: ।
विकासविस्तरक्षोभविक्षेपै: स चतुर्विध: ।।
शृंगार वीर बीभत्सरौद्रेषु मनस: क्रमात् ।
हास्याद्भुतभयोत्कर्षकरुणानां त स्व हि ।।
अतस्तज्जन्यता तेषामत स्वावधारणम् ।[1]

उपर्युक्त श्लोक में स्वाद को चतुर्विध कहा गया है । रस अष्टविध (शृंगार, वीर, वीभत्स, रौद्र, हास्य, अद्भुत, भयानक और करुण) कहे गए हैं । यदि रस और आस्वाद अभिन्न हैं तो चार और आठ का क्या तात्पर्य ? अत: दशरूपककार की उपर्युक्त कारिका से तो रस और आस्वाद का भेद ही सिद्ध होता है । कविराज ने प्रथम पंक्ति के आधार पर अपना मन्तव्य सिद्ध करने की चेष्टा की है । कविराज का मत है कि जिसे रस कहते हैं वह आस्वाद के अतिरिक्त कुछ नहीं है । तब भी `रस का आस्वादन किया जाता है' जैसे वाक्यों में रस और आस्वादन को भिन्न माना जाता है । अभेद में भेद की कल्पना के अन्य उदाहरण भी लोक में मिल ही जाते हैं, पर यह भेद काल्पनिक ही होता है । अत: रस और उसके आस्वाद में जहाँ भेद ज्ञात हो वहाँ कविराज के अनुसार इस भेद को औपचारिक ही माना जाना चाहिए ।[2] इसी को अन्य प्रकार से स्पष्ट करने के लिए `रस: स्वाद्यते' में विश्वनाथ कर्मकर्तरि क्रिया मानने का निर्देश करते हैं । परन्तु `रस: स्वाद्यते' का अनुवाद होगा` रस स्वयं ही अपने से अभिन्न आस्वाद का विषय हुआ करते हैं[3] । यदि रस और आस्वाद अभिन्न हैं तो रस आस्वाद का विषय कैसे होगा ? इसलिए कविराज का मत तो हमें `अयमास्वाद्यते रस:' ही प्रतीत होता है । इस मत को परंपरागत धारणा के अनुसार संगति देने के लिए कविराज विश्वनाथ ने, वृत्ति में दशरूपक से एक पंक्ति उद्धृत कर, चेष्टा अवश्य की है ।

---

१. दशरूपकम् , ४.४३.
२. साहित्यदर्पण, ३.३ की वृत्ति
३. ,, ,,

जिन आचार्यों ने काव्य में रस विषयक धारणा को आनंदवर्धन के ध्वनिसिद्धान्त के अनुसार विकसित किया उनके विवेचन में इस प्रकार का प्रपंच नहीं है। मम्मट के रस-विवेचन में रस के स्वरूप के विषय में सपाट कथन हैं। परन्तु जिन आचार्यों ने अभिनव के अनुसार रसविवेचन किया उन्हें 'रस' और आस्वाद की अभिन्नता पर भी लिखना पड़ा। यह ठीक है कि रस के अस्तित्व की प्रतीति उसके आस्वादन में है, पर इससे ही रस आस्वाद से अभिन्न कैसे हो गया। अभिनव की निम्न उद्धृत पंक्ति से भी यही सिद्ध होता है कि वे रस के आस्वाद को ही अलौकिक चमत्कार स्वभाव वाला मानते हैं --

'तेनालौकिकचमत्कारात्मा रसास्वाद:'

अत: 'रस' और 'आस्वाद' को अभिन्न मानकर एक के स्वरूप का दूसरे पर आरोपण करने से भ्रांति ही उत्पन्न होती है। कविराज विश्वनाथ ने रस और आस्वाद के भेद को उपचारजन्य माना है। हमारा नम्र निवेदन है कि वस्तुत: दोनों का अभेद कथन ही उपचार है। रस के आस्वादन में तन्मय व्यक्ति दोनों का भेद नहीं कर पाता। लोक में भी इस प्रकार के अभेद कथन देखे-सुने जाते हैं - ये उपचारमूलक ही होते हैं।

निष्कर्षत: कविता के रस का स्वरूप वही हो सकता है, जो, आनंदवर्धन ने ध्वन्यालोक में प्रस्तुत किया है और आचार्य मम्मट ने जिसका पुनराख्यान किया है --

(१) रस सदैव प्रतीयमान स्वरूप वाला है।

(२) कविता में रस का स्वरूप आत्मा सदृश है।

(३) रस चारुत्वरूप है।

(४) रस आस्वादन का विषय है।

(५) रस के आस्वादन में सहृदय चमत्कार का अनुभव करता है।

२.१० रस का स्थान

यद्यपि रस की स्थिति के विषय में अधिक ऊहापोह का अवसर नहीं है, तथापि संस्कृत काव्यशास्त्र में-इस संदर्भ में-विभिन्न मत उपलब्ध हैं। भरत के अनुसार नाट्य में रस की स्थिति है। लौल्लट ने मूल ऐतिहासिक पात्रों में रस माना है। शंकुक ने कविनिबद्ध पात्रों में रस स्वीकार किया है। अभिनव ने कवि, काव्य और सहृदय में रस की स्थिति प्रतिपादित की है। रस की इस त्रिकोणात्मक प्रक्रिया को स्पष्ट करने के लिए अभिनव ने रूपक का आश्रय लिया है।

अभिनव ने काव्य प्रक्रिया के मूल में कविगत रस का महत्व माना है। जैसे वृक्ष की उत्पत्ति के लिए बीज आवश्यक है वैसे ही काव्य के लिए कविगत रस अपरिहार्य है। इसी तथ्य को स्पष्ट करने के लिए अभिनव कहते हैं --

'बीज स्थानीया: कविगतो रसा:'

इसी कविगत रसरूप बीज से काव्य रूपी वृक्ष उत्पन्न होता है, जैसे बीज का सत्व सम्पूर्ण वृक्ष में प्रवाहित रहता है वैसे ही कविगत रस काव्य में निहित रहता है -

'ततो वृक्षस्थानीयम् काव्यम्'

पुष्पों से वृक्ष की सरसता का ज्ञान होता है, पुष्पों से वृक्ष की शोभा बढ़ती है, इसी प्रकार अभिनयादि व्यापार से काव्य की जीवंतता प्रकाशित होती है-

'तत्र पुष्पादिस्थानीयो अभिनयादिव्यापारा:'

परन्तु जैसे वृक्ष के अस्तित्व की सिद्धि उसके सफल होने में है वैसे ही काव्य की सफलता-सिद्धि सामाजिक द्वारा उसके रसास्वाद किए जाने में है। अत: सामाजिक का रसास्वाद फलस्थानीय है --

'तत्र फलस्थानीया: सामाजिकरसास्वादा:'

इस प्रकार अभिनवगुप्त ने क्रम से कवि, काव्य और सामाजिक में रस माना है। यदि काव्य में रस न हुआ तो आस्वाद भी संभव न होगा। अभिनव का उपर्युक्त विवेचन ही सत्य है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि अभिनव रस और आस्वाद को अभिन्न नहीं मानते। उनके रस और आस्वाद की अभेदता का प्रतिपादन करने वाले कथन औपचारिक ही है।

डा० नगेन्द्र ने लिखा है --' अभिनव....उसका स्थान निश्चिय ही सहृदय का चित्त या आत्मा है'[१] अभिनव के उपर्युक्त स्पष्ट मत के पश्चात् डा० नगेन्द्र के इस कथन की संगति कैसे संभव है? अभिनव ने सामाजिक से रस के आस्वाद का संबंध बतलाया है। इस रसास्वाद अथवा काव्यास्वाद का स्वरूप आत्मास्वाद सदृश कहा जाना भी ठीक है। आस्वादन सहृदय के चित्त में होता है, यह भी ठीक है। परन्तु जब रस को आस्वाद ही कह दिया जाता है तब असंगतियां उत्पन्न होने लगती है। डा० नगेन्द्र को भी रस को आत्मानंद स्वरूप मानने में आपत्ति है। यह आपत्ति निरस्त हो जाती है जब रसास्वाद को आत्मानंद सदृश माना जाता है और रस को उसका हेतु।

अभिनव जैसा तत्वदर्शी इस विसंगति को न समझे ऐसा नहीं है। इसीलिए रूपक द्वारा उन्होंने रस-प्रसंग को स्पष्ट किया है, इसके रहते रस और आस्वाद को अभिन्न मानने का अवसर ही कहां रह जाता है।

अभिनव के जिस विवेचन को यहां उद्धृत किया गया है उसका आधार आनंदवर्धन का ध्वन्यालोक ग्रंथ ही है। ध्वन्यालोक के प्रथम उद्योत में ही आनंदवर्धन ने कविगत भाव की परिणति काव्यगत रस में प्रतिपादित की है --

---

१. रससिद्धान्त, डा० नगेन्द्र, पृ० १८७

काव्यस्यात्मा स स्वार्थस्तथा चादिकवे: पुरा ।

क्रौंचद्वन्द्वियोगोत्थ: शोक: श्लोकत्वमागत: ।।[१]

(काव्य का आत्मा वही (प्रतीयमान रस) अर्थ है । इसी से प्राचीन काल में क्रौंच (पक्षी) के जोड़े के वियोग से उत्पन्न आदिकवि वाल्मीकि का शोक श्लोक (काव्य) में परिणत हुआ ।)

वाल्मीकि के हृदय में, सहचरी को मृत देखकर विलाप करने वाले क्रौंच को देखकर, शोक का तीव्र आवेग उत्पन्न हुआ । वही उनकी अनुभूति काव्य में परिणत हुई । काव्य में व्यक्त होकर वह करुण रस कहलाई । इस करुण का बीज वाल्मीकि का भाव है । इसी बीज का सार तत्व वाल्मीकि के काव्य में अनुस्यूत है । अभिनव का रस-रूपक इसी आधार भूमि से प्रेरित प्रतीत होता है ।

कवि अपने अनुभूत रस के अनुकूल गुणों से युक्त ध्वनियों का प्रयोग करता है । इस प्रकार रस के आश्रित रहने वाले गुण से युक्त काव्य सहृदय में भी उसी रस की अभिव्यक्ति करता है । काव्य में उपस्थित गुण के अनुरूप ही सामाजिक का मन आर्द्रता, दीप्ति अथवा प्रकाश की अनुभूति करता है ।[२] इस प्रकार कवि, काव्य और सहृदय में रस की स्थिति का आख्यान आनंदवर्धन ने किया है । आनंदवर्धन के ही अनुकरण स्वरूप अभिनव ने `तत्काव्यार्थो रस:` कहा है । क्या अर्थ, काव्य से भिन्न रह सकता है । जब यही अर्थ रस है तो इसका स्थान काव्य में मानना ही होगा । और जब काव्य में रस मानलिया गया तो उसे आस्वाद से भिन्न भी स्वीकार करना ही होगा । इस तर्कणा को स्वीकार करने के बाद रसास्वाद को आत्मास्वाद अथवा ब्रह्मास्वादवत् मानने में कोई असंगति नहीं रह जाती ।

---

१. ध्व० १.५

२. ध्व०, आ० वि० , पृ.६५-६६

`रससिद्धान्त` ग्रन्थ में डा० नगेन्द्र निष्कर्षत: लिखते हैं --
`अतएव रस की स्थिति कवि के हृदय में मानना उतना ही अनिवार्य है जितना सहृदय के मन में । क्योंकि यदि कवि के कथन में रस नहीं है तो सहृदय के हृदय में रस सुप्त पड़ा रहेगा ।` उपर्युक्त कथन की तीन उपपत्तियां हैं -

(१) कवि के हृदय में रस की स्वीकृति ।

(२) कवि के कथन अर्थात काव्य में रस की स्वीकृ ति ।

(३) सहृदय में रस की स्वीकृति ।

ये तीनों ही स्वीकृतियां ध्वनिसिद्धान्त प्रतिपादित रस की धारणा को ग्रहण करती हैं । जिस रसशास्त्र में ये धारणाएं हैं, वह असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य-ध्वनि का रसशास्त्र है, कोई अन्य नहीं । साथ ही इससे रस और आस्वाद का पार्थक्य भी प्रतिपादित हो जाता है ।

डा० रेवाप्रसाद द्विवेदी ने `आनन्दवर्धन` ग्रंथ की भूमिका में यह प्रतिज्ञा की है कि वे मूल ध्वन्यालोक के अनुसार ही ग्रन्थ में विषय का प्रतिपादन करेंगे । परन्तु गुण के प्रसंग में वे लिखते हैं `रस न कविनिष्ठ है, न काव्यनिष्ठ, वह एक मात्र सहृदयनिष्ठ है ।`[१] यह स्थापना आनंदवर्धन के अनुकूल नहीं है, न यह व्यवहार में ही प्रमाणित है । जैसा कि उपर्युक्त विवेचन में स्पष्ट किया जा चुका है, आनंदवर्धन के अनुसार तो रस की स्थिति कवि, काव्य और सहृदय तीनों में ही है ।

२.११ रस-निष्पत्ति

भरत मुनि के रस-सूत्र में प्रयुक्त `संयोग` और `निष्पत्ति` शब्द सर्वाधिक विवादास्पद रहे हैं । विभिन्न आचार्यों ने इन शब्दों के पृथक,

---

१. आनंदवर्धन, डा० रेवाप्रसाद द्विवेदी, पृ.२६३

पृथक अर्थ किए । भट्ट लो्ल्लट, शंकुक और भट्टनायक इन तीन आचार्यों के मतों को अभिनवगुप्त ने् `लोचन` और अभिनव-भारती में उद्धृत किया है ।

भट्ट लोल्लट ने `संयोग` और `निष्पत्ति` की तीन प्रकार से व्याख्या की है अत: इन शब्दों के तीन - तीन अर्थ हैं । विभावों और स्थायिभावों का, अनुभावों और स्थायिभाव का, संचारी और स्थायिभावों का संबंध, संयोग शब्द द्वारा प्रकट होता हैं । विभावों और स्थायिभाव में में उत्पाद्य-उत्पादक-भाव संबंध है, इस संदर्भ में निष्पत्ति का अर्थ उत्पत्ति है । अनुभाव और स्थायिभाव में गम्य-गमक-भाव संबंध है तथा इस प्रसंग में निष्पत्ति का अर्थ है - प्रतीति । संचारी भाव और स्थायिभाव में पोष्य-पोषक-भाव संबंध है तथा इस दृष्टि से निष्पत्ति का अर्थ है -`उपचिति` ।

शंकुक ने निष्पत्ति का अर्थ अनुमिति और संयोग का अर्थ अनुमाप्य - अनुमापक - भाव संबंध किया है ।

भट्टनायक ने निष्पत्ति का अर्थ `भुक्ति` तथा संयोग का अर्थ भोज्य-भोजक-भाव संबंध माना है । इन मतों की पूर्ण व्याख्या रस से संबंधित प्रत्येक ग्रंथ में दी गई है, उसे उद्धृत करने की अपेक्षा यहां नहीं है ।

भट्ट लोल्लट और शंकुक की व्याख्याएं नाटक से संबंधित हैं, उनमें मंच, पात्र, नट, अभिनय-व्यापार आदि सभी का उपयोग किया गया है । कविता के लिए ये व्याख्याएं संगत नहीं हैं । `संयोग` और `निष्पत्ति` की कविता के संदर्भ में व्याख्या आचार्य आनंदवर्धन ने की है ।

आनंदवर्द्धन के अनुसार निष्पत्ति का अर्थ है अभिव्यक्ति और संयोग का अर्थ है व्यंग्य-व्यंजक-भाव संबंध । विभावादि व्यंजक है ; रस व्यंग्य । रस शब्दों के द्वारा वाच्यार्थ रूप में व्यक्त नहीं होता, वह सर्वत्र

व्यंग्य ही होता है । कविता में शब्द ही होते हैं अत: आनंदवर्धन ने अपना विवेचन यहीं से प्रारंभ किया है । काव्य में रस यदि वाच्य हो तो उसके दो ही प्रकार हो सकते हैं -

(१) 'रस' को रस अथवा शृंगारादि शब्दों द्वारा प्रकट किया जाए अथवा

(२) रस विभावादि के द्वारा प्रकट किया जाए ।

यदि प्रथम विकल्प को स्वीकार किया जाता है तो जहां कविता में 'रस' अथवा शृंगारादि शब्दों का प्रयोग नहीं हुआ है वहां रस की प्रतीति नहीं होनी चाहिए । परन्तु रसों का स्वशब्दनिवेदितत्व सर्वत्र नहीं होता, जहां भी रसों की प्रतीति होती है विशिष्ट विभावादि के प्रतिपादन द्वारा होती है । यदि विभावों का प्रयोग न किया जाय और रस अथवा शृंगारादि शब्दों का प्रयोग किया जाय तो भी रस की प्रतीति नहीं होती । अत: यह सिद्ध है कि रस अथवा भाव की प्रतीति विभावादि के प्रतिपादन द्वारा ही होती है, वे साक्षात् शब्द-व्यापार के विषय नहीं होते । कामायनी की निम्नलिखित पंक्तियों का परीक्षण करें -

लाली बन सरल कपोलों में
आंखों में अंजन सी लगती,
कुंचित अलकों सी घुंघराली,
मन की मरोर बनकर जगती ।

उपर्युक्त कविता पंक्तियों मे 'लज्जा' भाव साक्षात शब्द-व्यापार का विषय नहीं है, अनुभावों के द्वारा ही उसकी प्रतीति हो रही है । लज्जा का जब प्रादुर्भाव होता है, कपोलों पर हल्की सी लालिमा छा जाती है, नयनों में ऐसी तरलता, ऐसा विलास भाव आ जाता है जो सामान्यत: अंजन लगाने से उत्पन्न होता है । अंतिम दो पंक्तियों में उपमा अलंकार वाच्य है, इसके द्वारा लज्जा-भाव को साकार किया गया है । इसी प्रकार संस्कृत के इस

बहूद्धृत श्लोक में -

एवं वादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी ।

लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती ।।

(देवर्षि (नारद) के ऐसा कहने पर, पिता के पार्श्व में नीचा मुख किए बैठी पार्वती लीलाकमल की पंखुड़ियाँ गिनने लगी ।) नारद ने पार्वती के महादेव के साथ विवाह की चर्चा की थी । स्वभावत: पार्वती के मन में लज्जा-भाव उदय हुआ । लीलाकमल के पत्तों को गिनना (स्वयं को व्यस्त दिखलाने का प्रयत्न) तथा मुख नीचा करना लज्जा के अनुभाव हैं । यहाँ भी लज्जा-भाव की प्रतीति अनुभावमुखेन ही हुई है । अत: यह स्पष्ट है कि कविता में रस अथवा भाव की प्रतीति 'रस' अथवा किसी रस विशेष के नाम के प्रयोग से नहीं होती वरन् विभावों के प्रयोग द्वारा होती है । विभाव भी उसे साक्षात् शब्द-व्यापार से व्यक्त नहीं करते वरन् वह साक्षात् शब्द-व्यापार के सामर्थ्य से आक्षिप्त होते हैं । वाच्यार्थ का इस प्रतीति में महत्त्व है । जैसे आलोक को चाहने वाले व्यक्ति को दीपशिखा में यत्न करना पड़ता है, वैसे ही व्यंग्यार्थ में आदर रखने वाले कवि को वाच्यार्थ के प्रति यत्नवान् होना पड़ता है ।[1] जैसे पदों के अर्थ के द्वारा वाक्यार्थ की प्रतीति होती है वैसे ही व्यंग्यार्थ की प्रतीति वाच्यार्थपूर्वक होती है ।[2] शब्द का अपने अर्थ का और अर्थ के 'स्व' का व्यंग्यार्थ के प्रति उपसर्जनीकृत भाव होता है ।

अत: रस व्यंग्य है तथा विभावों के द्वारा व्यंजना व्यापार से इसकी अभिव्यक्ति होती है ।

---

१. आलोकार्थी यथा दीपशिखायां यत्नवान् जन: ।
तदुपायतया तद्वदर्थे वाच्ये तदादृत: ।। ध्व० १.९.

२. यथा पदार्थद्वारेण वाक्यार्थ: सम्प्रतीयते ।
वाच्यार्थपूर्विका तद्वत् प्रतिपत्तस्य वस्तुन: ।। ,, १.१०.

भट्टनायक ने रस की अभिव्यक्ति का खंडन किया है । नायक के अनुसार रस की भुक्ति होती है । इस भुक्ति के लिए उन्होंने साधारणीकरणात्मना भावकत्व व्यापार और साधारणीकृत तथा रसरूप में परिणत अर्थ के भोग के लिए भोजकत्व व्यापार की कल्पना प्रस्तुत की । भट्टनायक ने उत्पत्ति और प्रतीति का भी खंडन किया था ।

प्रमाण के अभाव में भावकत्व और भोजकत्व को अमान्य करते हुए अभिनव ने आनंदवर्धन के रसाभिव्यक्तिवाद को पुन: प्रतिष्ठित किया । संसार में दो प्रकार के पदार्थ होते हैं -

(१) जिनकी उत्पत्ति होती है अर्थात अनित्य ।

(२) दूसरे सत् होते हैं, इनकी अभिव्यक्ति होती है ।

यदि रस की उत्पत्ति नहीं मानी जाती तो उसे नित्य मानना होगा । यदि अभिव्यक्ति भी नहीं मानी जाती तो उसे असत् कहना होगा । संसार के सभी पदार्थों का अंतर्भाव नित्य-अनित्य और सत्-असत् , इन दो कोटियों में हो जाता है । रस की उत्पत्ति और अभिव्यक्ति दोनों का निषेध करने पर उसका अस्तित्व ही असिद्ध हो जाएगा । परन्तु रस है, अत: उसकी अभिव्यक्ति माननी ही होगी ।

भट्ट नायक के भावकत्व-व्यापार जनित कार्य की सिद्धि अभिनव ने ध्वनन अथवा व्यंजना व्यापार से प्रमाणित की है -

'तस्माद्व्यंजकत्वाख्येन व्यापरेण गुणालंकारौचित्यादिक-
-येतिकर्तव्यतया काव्यं भावकं रसान् भावयति' [१]

(अर्थात् - अतएव व्यंजकत्व नाम के व्यापार से गुण तथा अलंकार के औचित्यवाली इतिकर्तव्यता से भावक काव्य रसों को भावित करता है।)

---

१. ध्व० , सं० महादेवशास्त्र, डि०उ०, पृ० १८६

अभिनव रस-भोग में भी पृथक-व्यापार की अपेक्षा नहीं मानते। अलौकिक द्रुति, विस्तार और विकासात्मक भोग के अलौकिक कर्तव्य में भी ध्वनन-व्यापार की मूर्धाभिषिक्तता उन्हें अभिप्रेत है। रस के व्यंग्य होने से उसका भोग स्वत:सिद्ध है :-

`भोगोऽपि न काव्यशब्देन क्रियते अपि तु घनमोहान्ध्यसंकटता-निवृत्तिद्वारेणास्वादापरनाम्नि अलौकिके द्रुतिविस्तरविकासात्मनि भोगे कर्तव्ये लोकोत्तरे ध्वनन व्यापार एव मूर्धाभिषिक्त:। तच्चेदं भोगकृत्वं रसस्य ध्वननीयत्वे सिद्धे दैवसिद्धम्`[1]

निष्कर्षत: अभिनव कहते हैं --`तस्मात् स्थितमेतत् - अभिव्यज्यन्ते रसा: प्रतीत्यैव च रसयन्त इति`[2]

अभिनव ने आनंदवर्धन की प्रतीयमान भाव की कल्पना को ही विकसित किया है। उन्होंने अभिनव-भारती में लिखा है -

`सर्वथा रसनात्मवीतविघ्नप्रतीतिग्राह्यो भाव एव रस:`[3]

(अर्थात् प्रत्येक दशा में आस्वादात्मक एवं निर्विघ्न प्रतीति से ग्राह्य भाव ही रस है।)

इसका आशय यह हुआ कि काव्य में भाव का प्रकटीकरण ऐसा होना चाहिए कि वह प्रमाता के चित्त को निर्विघ्न प्रतीति के योग्य बना दे। भाव का इस प्रकार प्रकटीकरण प्रतीयमानरूप में ही संभव है। कवि की अनुभूति, उसका भाव प्रतीयमान होकर वैयक्तिक राग द्वेष के दंश से मुक्त हो जाता है। यह विशुद्ध भाव ही सहृदय द्वारा ग्रहण किया जाता है। इसी प्रतीयमान भाव में वह शक्ति है कि सहृदय का चित्त निर्विघ्न हो सके। इस प्रकार अभिनव आनंदवर्धन की प्रतीयमान अर्थ विषयक धारणा को ही प्रमाणित करते हैं। उपर्युक्त उद्धरण में `ग्राह्य: भाव एव रस:`

---

१. ध्व०, सं० महादेवशास्त्री, द्वि०उ०, पृष्ठ,१८६

२. ध्व०, सं० महादेव शास्त्री, द्वि०उ०, पृ.१६०

३. हिन्दी अभिनव भारती, पृ.४७०

ध्यातव्य है। इसमें अभिनव ने रस को आस्वाद्य ही माना है। अभिनवसाहित्य में अधिक उदाहरण वाक्य रस को आस्वाद्य मानने वाले मिलेंगे।

परन्तु शुद्ध शैवाद्वैत की भावना से प्रेरित अभिनव आनंदमय प्रतीति को भी रस कहते हैं। यह वस्तुत: आस्वाद की दृष्टि से, सामाजिक की दृष्टि से कथित विचार है। आस्वादन इतना तत्मयरूप, निर्विघ्न होता है कि आस्वादन के क्षणों में आस्वाद्य रस, आस्वादन व्यापार और आस्वादयिता सहृदय में अखण्ड स्वरूपता हो जाती है। दर्शन से पुष्ट इस धारणा को रसास्वाद के समय सहृदय की स्थिति का प्रत्यायक ही समझना चाहिए, रस और अस्वाद की अभिन्नता का नहीं।

पंडितराज जगन्नाथ ने भी व्यंजनाव्यापार द्वारा सहृदय को विभावादि से स्थायी भाव की अवगति की पुष्टि की है। इसप्रकार यह सिद्ध होता है कि रसाभिव्यक्ति का आनंदवर्धन स्थापित मत ही बाद के आचार्यों द्वारा स्वीकृत हुआ। अत: डा० नगेन्द्र कथित रसशास्त्र अन्य कुछ नहीं आनंदवर्धन प्रतिपादित ध्वनिसिद्धान्त ही है।

२.१२ साधारणीकरण

आनंदवर्धन ने साधारणीकरण शब्द से किसी प्रक्रिया का शब्दश: उल्लेख नहीं किया है। परन्तु , आनंदवर्धन की प्रतीयमान अनुभूति विषयक धारणा में यह तथ्य स्वत: निहित है कि प्रतीयमान भाव व्यक्ति संसर्गों से मुक्त शुद्ध भाव मात्र होता है। यही व्यक्तिनिरपेक्ष प्रतीयमान भाव सहृदय हृदय संवाद भाजा है। साधारणीकरण नाम से इस प्रक्रिया का आख्यान भट्टनायक ने ही किया है। उनके अनुसार भावकत्व नामक व्यापार से अभिधा द्वारा ज्ञात अर्थ का साधारणीकरण तथा रस रूप में

परिणति होती है। अभिनव ने भावकत्व का निषेध कर आनंदवर्धन प्रतिपादित व्यंजना में ही साधारणीकरण की शक्ति का आख्यान किया है। अभिनव के एतद्विषयक मत को निम्नलिखित बिन्दुओं में प्रस्तुत किया जा सकता है --

१. न च काव्यशब्दानां केवलानां भावकत्वम् अर्थापरिज्ञाने तदभावात्।

(अर्थात् केवल काव्य शब्दों का भावकत्व (साधारणीकरण) नहीं होता क्योंकि अर्थज्ञान के अभाव की स्थिति में साधारणीकरण संभव ही नहीं है।)

२. न च केवलानामर्थानाम्, शब्दान्तरेणार्प्यमाणत्वे तदयोगात्।

(अर्थात केवल अर्थों का भी भावकत्व (साधारणीकरण) नहीं होता, क्योंकि दूसरे शब्दों का प्रयोग किया जाने पर वह अर्थ ही न रहेगा, यदि केवल अर्थों का साधारणीकरण होता तो शब्दान्तर से उसमें कोई बाधा उत्पन्न न होनी चाहिए, पर बाधा उत्पन्न होती है।)

३. द्वयोस्तु भावकत्वमस्माभिरेवोक्तम्... 'यत्रार्थः शब्दो वा' ...'

(शब्द और अर्थ दोनों का साधारणीकरण तो हमने भी कहा ही है - 'यत्रार्थः शब्दो वा... श्लोक के द्वारा।)

'यत्रार्थः शब्दो वा ... 'आदि कारिका ध्वन्यालोक के प्रथम उद्योत में है। आनंदवर्धन ने इस कारिका में ध्वनि का स्वरूप निरूपित किया है। अभिनव ने इसी कारिका द्वारा शब्द और अर्थ दोनों का साधारणीकरण स्वीकार किया है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि अभिनव शब्द के अपने अर्थ को और अर्थ के अपने 'स्व' को उपसर्जनीकृत करने को साधारणीकरण

मानते हैं और क्योंकि यह उपसर्जन व्यंजना व्यापार द्वारा होता है इसलिए साधारणीकरण की शक्ति व्यंजना में ही है। इसके लिए पृथक से भावकत्व नामक व्यापार मानने की आवश्यकता नहीं है।

इससे एक निष्पत्ति यह भी होती है कि प्रतीयमान अर्थ साधारणीकृत होता है, तभी वह सहृदय में समान अनुभूति अभिव्यक्त करने में सक्षम होता है। परन्तु, प्रतीयमान अर्थ कवि की अनुभूति स्वरूप होता है अत: यह कहा जा सकता है कि आनंदवर्धन के अनुसार साधारणीकरण कवि की अनुभूति का ही होता है।

डा० नगेन्द्र ने लिखा है - 'संपूर्ण प्रसंग ही विशिष्ट देशकाल बद्ध न रहकर, साधारणीकृत हो जाता है जिसके परिणामस्वरूप प्रमाता की चेतना भी साधारणीकृत हो जाती है। किन्तु यह काव्य-प्रसंग तो अपने आप में जड़ है - इसका चैतन्य अंश तो इसका अर्थ है और यह अर्थ क्या है? कवि का संवेद्य - कवि की अनुभूति, भाव की कल्पनात्मक पुन: सर्जना की अनुभूति - इसी का शास्त्रीय नाम ध्वन्यर्थ है।'

डा० नगेन्द्र का उपर्युक्त कथन, ध्वनिसिद्धान्त का ही आख्यान है। तब ध्वनि और रस की तुलना करते हुए 'रस' को सारतत्व कहने का अर्थ क्या रह जाता है?

अत: कवि की अनुभूति के साधारणीकरण की धारणा का सूत्रविन्यास आनंदवर्धन कर चुके थे, सहृदय में रसगुणानुरूप चित्तवृत्ति के उदय का विवेचन कर उन्होंने इस सूत्र को सहृदय से जोड़ा था। कवि की अनुभूति का साधारणीकरण व्यंजनाव्यापार द्वारा होता है, व्यंजना शब्द का व्यापार, भाषा का व्यापार है अत: साधारणीकरण का आधार भाषा का भावमय प्रयोग है।

२.१३ रसादि अलंकार

आनंदवर्धन ने वे ही स्थल रसादि ध्वनि के माने हैं जहां वाक्यार्थीभूत रूप में अर्थात प्रधान रूप से रसादि की प्रतीति हो । इससे ज्ञात होता है कि ऐसी कविता भी संभव है जिसमें रसादि की प्रतीति प्रधानत: न होती हो । प्रधान, वाक्यार्थीभूत कोई अन्य अर्थ हो, रसादि उसके अंग हों । ऐसी स्थिति में रसादि उस अन्य वाक्यार्थीभूत अर्थ के उपकारक अथवा शोभावर्धक हो जाते हैं । आनंदवर्धन रसादि के इस रूप को उनकी अलंकारता कहते हैं [१] ---

प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गन्तु रसादय: ।
काव्ये तस्मिन्नलंकारो रसादिरिति मे मति: ।। [२]

(जहां (अर्थात अंगभूत रसादि से भिन्न, रस, वस्तु अथवा अलंकार) अन्य प्रधान वाक्यार्थ हो, रसादि अंग रूप में हों, उस काव्य में रसादि अलंकार रूप हों यह मेरा मत है ।)

इसका तात्पर्य यह है कि किसी कविता में दो रस हो सकते हैं । तब इनमें से एक प्रधान, दूसरा अंग रूप होगा । यह द्वितीय रस जो अंगभूत है, प्रथम का उत्कर्षवर्धक होने के कारण रसवत् अलंकार कहलाएगा । इसी प्रकार जब कोई भाव किसी अन्य का अंगभूत हो तो वहां वह भी अलंकारवत् है, उसे प्रेयो अलंकार कहा जाता है । जब रसाभास और भावाभास किसी अन्य के अंग होंगे तो ऊर्जस्वित अलंकार होगा । भावशान्ति आदि के अन्य के अंग होने पर समाहित अलंकार होता है । इस प्रकार आनंदवर्धन रसादि ध्वनि और रसादि की अलंकारता का विषय भेद स्थापन करते हैं ।

उदाहरण के लिए चाटु उक्तियों को लिया जा सकता है, इन उक्तियों में प्रेयो [३] अलंकार वाक्यार्थीभूत होता है, रसादि उसके अंग होते हैं

---

१. यद्यपि रसवदलंकारस्यान्यैर्दर्शितो विषयस्तथापि यस्मिन् काव्ये प्रधानतयाऽन्योऽर्थो वाक्यार्थीभूतस्तस्य चांगभूता ये रसादयस्ते रसादेरलंकारस्य विषय: इति मामकीन: पक्ष: । ध्व०, आ० वि०, द्वि०उ०,पृ.८५

२. ध्व०.. वही

३. भामह ने गुरु, देव और नृपति, पुत्रविषयक प्रेमवर्णन को प्रेयो अलंकार कहा है ।

अतः रसादि अलंकार रूप कहे जाते हैं ।

आनंदवर्धन ने रसवदलंकार के दो प्रकार माने हैं --

(१) शुद्ध और

(२) संकीर्ण

जहां, प्रेयोअलंकार में एक ही रस अंगभूत होता है वहां शुद्ध रसवत् अलंकार मानना चाहिए और जहां एकाधिक रस किसी अन्य रस के अंग हों वहां संकीर्ण रसवत् अलंकार होता है ।

१ .शुद्ध रसवत् अलंकार का उदाहरण -

किं हास्येन न मे प्रयास्यसि पुनः प्राप्तश्चिराद्दर्शनम् ।
केयं निष्करुण । प्रवासरुचिता ? केनासि दूरीकृतः ।
स्वप्नान्तेषु इति ते वदन् प्रियतमव्यासक्तकण्ठग्रहो ।
बुद्ध्वा रोदिति रिक्तबाहुवलयस्तारं रिपुस्त्रीजनः ।।[१]

(इस हंसी से क्या (किं हास्येन), बहुत दिनों के बाद दर्शन हुए हैं (प्राप्तचिराद्दर्शनम्), अब में जाने न दूंगी, निष्ठुर यह प्रवास में कैसी रुचि है (निष्करुण का इयं प्रवासरुचिता) किसने तुम्हें दूर किया है (केनासि दूरीकृतः) , स्वप्न में (स्वप्नान्तेषु) इस प्रकार प्रियतमकण्ठ का आलिंगन किए हुए वे (ते प्रियतमव्यासक्तकण्ठग्रहाः) बोलती हुई (वदन्) जागकर) (बुद्ध्वा) फैलेहुए बाहुवलय को रिक्त देखकर (रिक्तबाहुवलयः) शत्रुस्त्रियां (रिपुस्त्रीजनः) तार स्वर से रोती हैं (रोदिति) ।)

उपर्युक्त श्लोक में राजा कीस्तुति की गई है, अतः यह प्रेयोअलंकार का स्थल है । यहां करुण रस राजाविषयक प्रीति का अंग बन रहा है । वाक्यार्थीभूत अर्थ तो राजा की प्रशंसा है कि हे राजा तुमने इतने शत्रुओं को मार दिया है । अतः यह करुण रस के राजा विषयक प्रेम के अंग होने से

---

१. ध्व०, आ० वि०, पृ. ८६

यहां शुद्ध रसवत् अलंकार है। करुण रस उसी अर्थ का उत्कर्ष बढ़ा रहा है।

२.संकीर्ण) रसवत् अलंकार

क्षिप्तो हस्तावलग्नः प्रसभमभिहतोऽप्याददानोंऽशुकान्तं,
गृह्णन् केशेष्वपास्तश्चरणनिपतितो नेक्षितः सम्भ्रमेण ।
आलिंगन्योऽवधूतस्त्रिपुरयुवतिभिः साश्रुनेत्रोत्पलाभिः ।,
कामीवाद्रापराधः स दहतु दुरितं शाम्भवो वः शराग्निः।।[१]

(त्रिपुर की युवतियों द्वारा (त्रिपुरयुवतिभिः), तत्काल अपराध किए हुए कामी के समान (कामीवाद्रापराधः), हाथ छूने पर झटक दिया गया (क्षिप्तो हस्तावलग्नः), जोर से ताड़ित किए जाने पर भी वस्त्र के छोर को पकड़ता हुआ (प्रसभमभिहतो प्याददानों शुकान्तं), केशों को पकड़ते समय हटाया गया (गृह्णन् केशेषु अपास्तः) पैरों पर पड़ा हुआ भी सम्भ्रम के कारण न देखा गया (चरणनियतितो नेक्षितः सम्भ्रमेण), आलिंगन करते समय आंसुओं से परिपूर्ण नेत्रकमल वाली (आलिंगन्यः साश्रुनेत्रोत्पलाभिः) त्रिपुरसुन्दरियों द्वारा तिरस्कृत वह शम्भु का शराग्नि तुम्हारे दुःखों को दूर करे (स शाम्भवः शराग्नि वः दुरितं दहतु)

उपर्युक्त उदाहरण में ईश्वर शिव का प्रभाव मुख्य वाक्यार्थ है। ईर्ष्याविप्रलंभ और करुण इस मुख्य वाक्यार्थ के अंग हैं। अतः एकाधिक रसों के अंगवत् होने से यह संकर रसवत् अलंकार का उदाहरण है।

---

१. ध्व०, आ० वि०, पृ.८७

जहाँ रस प्रधान है, वहाँ वह अलंकार्य ही है । प्रधान होने पर रस अलंकार नहीं हो सकता । चारुत्वहेतु को अलंकार कहते हैं । रस स्वयं अपना चारुत्व हेतु हो नहीं सकता अत: प्रधान होने पर वह स्वयं अपना अलंकार भी नहीं हो सकता । निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि जहाँ रसादि वाक्यार्थीभूत हों वहाँ ध्वनि ही होती है और जहाँ अन्य अर्थ वाक्यार्थीभूत हों रसादि उसके चारुत्वहेतु हों वहाँ रसादि अलंकार कहलाते हैं ।[१] इस प्रकार ध्वनि और उपमादि अलंकारों का पृथकविषयत्व प्रतिपादित होता है ।

कुछ लोगों की मान्यता है कि जहाँ चेतन पदार्थों का मुख्य वाक्यार्थीभाव हो वहाँ रसवदलंकार माना जाय और जहाँ अचेतन पदार्थ का मुख्यवाक्यार्थीभाव हो वहाँ उपमादि अलंकार का क्षेत्र समझा जाय ।[२]

आनंदवर्धन इस मान्यता को स्वीकार नहीं करते , क्योंकि अचेतनपदार्थ के वाक्यार्थीभाव में उपमादि को परिबद्ध कर देने से या तो उपमादि का अवसर ही नहीं रहेगा और रहेगा भी तो अत्यंत विरल । क्योंकि अचेतन वस्तुवृत्त के मुख्य होने पर भी किसी न किसी प्रकार से चेतनवस्तु के वृत्तान्त की योजना भी रहती है है । इस प्रकार सभी स्थलों पर चेतन वस्तु वृत्तान्त के रहने से उपमादि का अवसर ही नहीं रहेगा । इसके विपरीत अचेतन वस्तु वृत्त के प्रधान होने के स्थलों में चेतन वस्तु वृत्त के रहते हुए भी यदि रसवदादि अलंकार नहीं माने जाएंगे तो कविता का बहुत बड़ा अंश नीरस माना जाएगा । अपने मत को स्पष्ट करने के लिए आनंदवर्धन ने निम्नलिखित उदाहरण दिए हैं -

---

१. यत्र हि रसस्य वाक्यार्थीभावस्तत्र कथमलंकारत्वम? अलंकारो हि चारुत्वहेतु: प्रसिद्ध: न त्वसावात्मैवात्मनश्चारुत्वहेतु: । तथा चायमत्रसंक्षेप: -

रसभावादितात्पर्यमाश्रित्य विनिवेशनम् ।
अलंकृतीनां सर्वासामलंकारत्वसाधनम् ।।

तस्माद्यत्र रसादयो वाक्यार्थीभूता: स सर्व: न रसादे: अलंकारस्य विषय: स ध्वने: प्रभेद: । तस्योपमादयो लंकारा: । .....ध्व०,आ०वि०,पृ.८८

२. ध्व० आ० वि०, पृ.९२

(१) तरंगभ्रूभंगा क्षुभितविहगश्रेणिरसना,
विकर्षन्ती फेनं, वसनमिव संरम्भशिथिलम्।
यथाविद्धं याति स्खलितमभिसन्धाय बहुशो,
नदीरूपेणेयं ध्रुवमसहना सा परिणता ।।[१]

(टेढ़ी भौंहों के समान तरंगों को (तरंग भ्रूभंगा), रशना के के समान क्षुब्ध विहंग पंक्ति को धारण किए हुए (क्षुभितविहगश्रेणि-रसना) क्रोधावेश में खिसकते हुए वस्त्र के समान फेनों को खींचती हुई (संरम्भशिथिलमं वसनमिव विकर्षन्ती फेनम्), बार-बार ठोकर खाकर टेढ़ी चाल से जा रही है (स्खलितम यथविद्धं याति) सो मेरे अनेक अपराधों से रुठी हुई (अभिसन्धाय बहुशो, ध्रुवमसहना) वह नदीरूप में परिणत हो गई है (सा नदीरूपेणेयं परिणता))

उपर्युक्त उदाहरण में वाक्यार्थीभूत अचेतन नदी ही पर इसे रसशून्य उपमादि का स्थल कैसे माना जा सकता है ? इसमें चेतन वस्तु वृत्त अत्यंत स्पष्ट है।

(२) तन्वी मेघजलार्द्रपल्लवतया धौताधरे वाश्रुभि:,
शून्येवाभरणै: स्वकालविरहाद्विश्रान्तपुष्पोद्गमा ।
चिन्तामौनमिवाश्रिता मधुकृतां शब्दैर्विना लक्ष्यते,
चण्डी मामवधूय पादपतितं जातानुतापेव सा ।।[२]

(तन्वी पैरों पर पड़े मुझे तिरस्कृत करके पश्चातापयुक्त होकर (तन्वी पादपतितं मामवधूय जातानुतापेव), आंसुओं से गीले अधर के समान वर्षा के जल से आर्द्र पल्लव को धारण किए (अश्रुभि: धौताधरे वा मेघजलार्द्रपल्लवतया), ऋतुकाल न होने से पुष्पोद्गमरहित आभरणशून्य सी (स्वकालविरहात् विश्रान्त पुष्पोदगमा) भौरों के शब्दों के अभाव में चिन्ता

---

१. ध्व० वृ० वि०, पृ.६२
२. ,, ,, ,,६३

मौन सी (मधुकृतां शब्दैर्विना चिन्तामौनमिवाश्रिता) दिखलाई पड़ती है (लक्ष्यते सा)

इस श्लोक में अचेतन लता के वाक्यार्थीभूत होते हुए भी चेतन का स्पर्श स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहा है।

(३) तेषां गोपवधूविलाससुहृदां राधारहःसाक्षिणां,
क्षेमं भद्र कलिन्दशैलतनयातीरे लतावेश्मनाम् ।
विच्छिन्ने स्मरतल्पकल्पनमृदुच्छेदोपयोगेऽधुना,
ते जाने जरठी भवन्ति विगलन्नीलत्विषः पल्लवाः ।।[1]

(भद्र। गोपबन्धुओं के विलास सखा (गोपवधुविलासुहृदां) राधा की एकान्त क्रीड़ाओं के साक्षी (राधारहः साक्षिणां) यमुनातट के लताकुंज कुशल से तो हैं (कलिन्दशैलतनयातीरे लतावेश्मनाम क्षेमं) अथवा मदनशय्या के निर्माण के लिए मृदु किसलयों के तोड़ने का प्रयोजन न रहने पर (विच्छिन्ने स्मरतल्पकल्पनमृदुच्छेदोपयोगेऽधुना), वे नीलकान्ति छिटकाते हुए पल्लव जीर्ण हो जाते होंगे (ते विगलन्नीललिषः पल्लवाः जरठी भवन्ति) ऐसा मैं समझता हूं।)

उपर्युक्त श्लोक में अचेतन लताकुंज के वाक्यार्थीभावेन स्थित होने पर भी चेतन वस्तु व्यवहार की योजना है।

यदि जहां चेतनवस्तु वृत्तान्त हो वहां रसादि का स्थल माना जाय तो उपमादि का क्षेत्र विरल हो जायगा।[2] इसलिए चेतन-अचेतन वस्तु वृत्तान्त को रसवदादि अलंकार विषयत्व का निकष नहीं बनाया जा सकता।

---

१. ध्व.आ० वि०, पृ.९३

२. 'इत्येवमादौ विषये चेतनानां वाक्यार्थीभावे पि चेतनवस्तुवृत्तान्त-योजना स्त्येव। अथ यत्र चेतनवस्तुवृत्तान्तयोजना स्ति तत्र रसादिरलंकारः। तदेवं सति उपमादयो निर्विषयाः प्रविरलविषया: वा स्युः' ध्वा० वि०, पृ.९३

अत: जहां रसादि अंगत्वेन हों वहीं उनकी अलंकारता है । अन्यत्र, जहां रसादि अंगी रूप में है वहां सर्वत्र ध्वनि का ही व्यपदेश किया जाना चाहिए । [१]

हमारा विचार है कि रसवत् अलंकार की यही धारणा उचित भी है । चेतन-अचेतन वस्तु-वृत्तान्त का निकष निर्विवाद इसलिए नहीं है कि चेतन वस्तुवृत्तान्त में अचेतन वस्तुवृत्तान्त की और अचेतनवस्तु-वृत्तान्त में चेतनवस्तुवृत्तान्त की व्याप्ति देखी जाती है, अत: वह निकष मानें भी तो अनैकान्तिक होगा । इस प्रकार रसवदादि अलंकारों का विवेचन सर्वप्रथम आनंदवर्धन ने ही किया है ।

अध्याय - ३

गुण, अलंकार और संघटना

३.१ रस और गुण

मारतीय काव्यशास्त्र के प्रथम आचार्य भरत मुनि ने दस गुणों का वर्णन किया है । इस वर्णन में गुणों को दोषों का विपर्यय माना गया है । भरत प्रतिपादित गुणों की सार्थकता वाचिक अभिनय को प्रभावशाली बनाने में है ।[१]

दण्डी ने भी दस गुणों का विवेचन किया है, परन्तु वे गुणों को उपमादि अलंकारों के समान ही मानते हैं । इनके अनुसार गुण काव्य-शोभाविधायक धर्म है,[२] काव्य के उपकारक हैं ।

वामन ने गुणों को काव्य-शोभा का कर्ता माना है । इस दृष्टि के अनुसार गुणों के अभाव में काव्य में शोभा उत्पन्न ही नहीं हो सकती । गुण शब्द और अर्थ के धर्म हैं, काव्य के काव्यत्व के लिए अपरिहार्य हैं । वामन ने रस को अपने २० गुणों में से एक (कान्ति) के अन्तर्गत मान लिया है ।

---

१. मारतीय काव्य शास्त्र की भूमिका, डा० नगेन्द्र, पृ.४३

२. 'काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते, तल्लक्षण योगात् तेऽपि (श्लेषादयो दशगुणा पि) अलंकाराः' - वही.

वामन के पश्चात् गुणों के संबंध में नूतन धारणा प्रचलित हुई, इस धारणा के प्रतिष्ठापक आनंदवर्धन थे। रस ध्वनि को काव्य का आत्मा मानने वाले आनंदवर्धन ने गुणों को रसाश्रित धर्म कहा है। शौर्यादिगुण जैसे आत्मा के आश्रित होते हैं, वैसे ही माधुर्यादिगुण रस के आश्रय से स्थित होते हैं।

'तमर्थमवलम्बन्ते ये अंगिनं ते गुणा स्मृता:' [१]

इसकी वृत्ति में लिखा है -

'ये तमर्थं रसादिलक्षणं अंगिनं सन्तमवलम्बन्ते ते गुणा: शौर्यादिवत्' अर्थात् वे जो रसादि अंगी रूप अर्थ के आश्रय से स्थित होते हैं, शौर्यादि के समान गुण कहे जाते हैं।

आनंदवर्धन ने तीन गुण ही स्वीकार किए हैं - माधुर्य, ओज और प्रसाद।

(१) माधुर्य गुण

माधुर्य का आश्रय शृंगार रस है। आनंदवर्धन शृंगार को सर्वाधिक मधुर मानते हैं -

शृंगार एव मधुर: पर: प्रह्लादनो रस:।
तन्मयं काव्यमाश्रित्य माधुर्यं प्रतितिष्ठति ।। [२]

(शृंगार ही सर्वाधिक आनन्ददायक मधुर रस है, उस शृंगारमय-काव्य के आश्रित ही माधुर्य गुण रहता है।)

आनंदवर्धन ने लिखा है 'शृंगार एव रसान्तरापेक्षया मधुर: प्रह्लादहेतुत्वात्'। प्रह्लाद का हेतु शृंगार है। शृंगार रस रूप अर्थ को व्यक्त करने वाले शब्दार्थ से युक्त काव्य का गुण माधुर्य है। शृंगार के विप्रलंभ रूप

---

१. ध्व., आ. वि., पृ. ६४

२. ,, ,, ,, ६५

में तथा करुण में माधुर्य उत्कर्ष प्राप्त करता है -

शृंगारे विप्रलंभाख्ये करुणे च प्रकर्षवत् ।

माधुर्यमार्द्रतां याति यतस्तत्राधिकं मन: ।।[१]

उपर्युक्त दोनों ही रसों (विप्रलंभ शृंगार तथा करुण) में सहृदय का मन अधिक आर्द्र होता है । सहृदय के हृदय को अत्यधिक आकृष्ट करने का निमित्तत्व इन रसों में है । रसों की इस सिद्धि में कोई अलौकिकत्व नहीं है, अभ्यास से, विशेष रचना के उपयोग से यह सिद्धि होती है । इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि आनंदवर्धन माधुर्य को रस के संदर्भ में ही स्वीकार करते हैं । केवल वर्णों की कोमलता में माधुर्य स्वीकार नहीं किया जा सकता । वर्णों की कोमलता तो ओज गुण में भी अनुभव की जा सकती है ।

(२) ओज गुण

रौद्र रस के प्रसंग में आनंदवर्धन ने स्पष्टत: कहा है कि रस काव्य में रहता है, उसकी अनुभूति सहृदय को होती है । काव्य में उपस्थित रौद्रादि रस दीप्ति से लक्षित होते हैं ।[२] यह दीप्ति सहृदय के चित्त की अवस्था विशेष है । दीप्ति की अभिव्यक्ति शब्द और अर्थ से होती है । इसका तात्पर्य यह हुआ कि कवि को अपने ओज की अभिव्यक्ति के लिए ऐसे शब्दों की योजना करनी चाहिए कि वह सहृदय के हृदय में भी ओज जाग्रत कर सके । इस प्रकार दीप्ति को व्यक्त करने वाले शब्द और अर्थ के आश्रय में ओज गुण रहता है । रौद्र, वीर और अद्भुत रस अत्यंत उज्ज्वलता रूप दीप्ति (चित्तावस्था) को उत्पन्न करते हैं । अत: लक्षणा से उन्हें भी दीप्ति रूप कहा गया है । आचार्य विश्वेश्वर ने लिखा है --`ज्ञाता के हृदय की विस्तार या प्रज्वलनस्वभाव अवस्था विशेष का नाम दीप्ति है - वही मुख्य रूप से ओज शब्द वाच्य है । उसके संबंध से तदास्वादमय रौद्रादि रस भी

---

१. ध्व०, आ०वि०, पृ ६७

२. ध्व०, आ०वि०, पृ ६८

लक्षणा से दीप्ति शब्द से गृहीत होते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि आनंदवर्धन रस की अनुभूति को चित्त की अवस्था विशेष मानते हैं। पृथक-पृथक रस रूप अर्थ की योजना से युक्त शब्द और अर्थ सहृदय के चित्त को विशेष विशेष अवस्था में डालते हैं और चित्त तदनुरूप माधुर्य, ओज आदि चित्त-वृत्तियों का अनुभव करता है - इन्ही चित्तवृत्तियों में रस अभिव्यक्त होता है, अनुभूत होता है।

कवि अपनी अनुभूति के अनुरूप शब्द और अर्थ का माध्यम प्रयुक्त करता है - यह अनुभूति काव्य में प्रतीयमान अर्थ रूप रस में परिणत होती है। सहृदय इस योजना को पढ़ता है और शब्द-अर्थमयी वह विशेष योजना उसके चित्त में भी वही माधुर्य, ओज और प्रसाद आदि वृत्तियां उद्बुद्ध करती हैं और इन्हीं चित्तवृत्तियों में रस अभिव्यक्त होता है तथा प्रमाता आनंद का अनुभव करता है।

ओज को प्रकाशित करने वाली रचना सामान्यत: दीर्घ समासयुक्त होती है।

(१) चंचद्भुजभ्रमितचण्डगदाभिघातसंचूर्णितोरुयुगलस्य
सुयोधनस्य
स्त्यानापविद्धघनशोणितशोणपाणिरुत्तंसयिष्यति
कचांस्तव देवि भीम:

(फड़कती हुई भुजाओं से (चंचद्भुज) घुमाई हुई गदा (भ्रमित गदा) के भीषण प्रहार से (चण्डाभिघात) चूर्ण सुयोधन की दोनों जंघाओं (सुयोधनस्य चूर्णितोरुयुगलस्य) के जमे हुए गाढ़े रक्त से रंगे हाथ वाला भीम (स्त्यानापविद्धघनशोणित शोणपाणि भीम:), हे देवी तेरे केशों को बांधेगा (देवि कचांस्तव उत्तंसयिष्यति))[१]

---

१. ध्व०, आ० वि०, पृ.६८

उपर्युक्त उदाहरण दीर्घसमास रचना से ओज की अभिव्यक्ति का है। परन्तु कभी कभी दीर्घसमास से रहित प्रसादगुण युक्त पदों से बोधित अर्थ भी ओज का प्रकाशक होता है - जैसे निम्नलिखित श्लोक में --

(२) यो यः शस्त्रं बिभर्ति स्वभुजगुरुमदः पाण्डवीनां चमूनां,
यो यः पांचालगोत्रे शिशुरधिकवया गर्भशय्यां गतो वा।
यो यस्तत्कर्मसाक्षी चरति मयि रणे यश्च यश्च प्रतीपः,
क्रोधान्धस्तस्य तस्य स्वयमपि जगतामन्तकस्यान्तकोऽहम्॥[1]

(पाण्डवों की सेना में अपने भुजबल से गर्वित जो भी शस्त्रधारी हैं, अथवा पांचाल गोत्र में छोटा, बड़ा अथवा गर्भस्थ जो कोई भी है, और जो-जो उस द्रोणवध रूप कर्म के साक्षी हैं और मेरे युद्ध करते समय जो-जो बाधा डालेगा, आज क्रोधान्ध मैं उसका नाश कर दूंगा, चाहे वह जगत् का अन्त करने वाला यमराज ही क्यों न हो।)

प्रथम उदाहरण में शब्दों के द्वारा ओज की अभिव्यक्ति हुई है, द्वितीय में अर्थ के द्वारा। इसीलिए शब्द और अर्थ को गुणों की अभिव्यक्ति का साधन कहा गया है।

(३) प्रसाद गुण

प्रसाद गुण का सभी रसों के प्रति समर्पकत्व भाव है। वस्तुतः यह असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य का प्राण है। बोद्धा के हृदय में झटिति व्यापन-कर्तृत्व का वैशिष्ट्य प्रसाद में है। जैसे शुष्क काष्ठ में अग्नि तुरंत फैलती है अथवा स्वच्छ वस्त्र में जल व्याप्त होता है वैसे ही समस्त रसों में और रचनाओं में रहने वाला प्रसाद गुण है। प्रसाद शब्द का अर्थ ही शब्द और अर्थ की स्वच्छता है अतः प्रसाद सब रसों का सामान्य गुण है।

समर्पकत्वं काव्यस्य यत्तु सर्वरसान् प्रति।
स प्रसादो गुणो ज्ञेयः सर्वसाधारणक्रियः॥[2]

---

१. ध्व०, आ० वि०, पृ.६८-६९

२. " " " २/१०

(काव्य का समस्त रसों के प्रति जो समर्पकत्व है, समस्त रचनाओं और रसों में रहने वाला वह प्रसाद गुण समझना चाहिए)

३.२ आनंदवर्धन की गुण संबंधी स्थापनाएँ

(क) आनंदवर्धन ने गुण को चित्तवृत्ति स्वरूप माना है। काव्य का संबंध जहां कवि से है, वहां उसका संबंध प्रमाता से भी है। ऐसी स्थिति में प्रमाता की चित्तवृत्ति से निरपेक्ष आस्वाद का कथन निरर्थक होगा। आस्वाद का निरूपण सहृदय सापेक्ष्य ही है। आनंद ने माधुर्य गुण के प्रसंग में लिखा है - `मन: यतस्तत्राधिकं आर्द्रतां याति`[१]। मन आर्द्रता को प्राप्त होता है, अत: आर्द्रता चित्त की अवस्था है, गुण की प्रतीति इसी रूप में होती है इससे भिन्न नहीं। अतएव माधुर्य गुण चित्त की आर्द्रता वृत्ति विशेष रूप है।

डा० नगेन्द्र ने यह शंका उठाई है कि आनंदवर्धन ने `द्रुति और दीप्ति से गुणों का संबंध स्पष्ट नहीं किया`[२]। परन्तु मेरा मत है कि इस शंका का अवसर है नहीं, क्योंकि आर्द्रता से भिन्न माधुर्य की प्रतीति कैसे होगी। `माधुर्य` कहकर चित्त की आर्द्रता को ही व्यक्त किया जाता है। यह भी कहा जा सकता है कि काव्य के संदर्भ में जिसे गुण कहा जा रहा है सहृदय के संदर्भ में वही चित्तवृत्ति है अत: सहृदय के प्रसंग में गुण चित्तवृत्ति स्वरूप ही है।

(ख) दीप्ति आदि चित्तवृत्तियों से रस लक्षित होते हैं - आनंदवर्धन ने लिखा है `रौद्रादयो रसा दीप्त्या लक्ष्यन्ते`। रौद्रादि रस दीप्ति के द्वारा लक्षित होते हैं। अथवा रौद्रादि रस की प्रतीति दीप्ति में होती है। यदि दीप्ति न हो तो रौद्रादि रस भी नहीं हो सकते।

---

१. ध्वन्यालोक: २।८

२. भारतीय का० शा० की भूमिका, डा० नगेन्द्र, पृ.४७

इसलिए चित्तवृत्ति रूप दीप्ति और रौद्रादि रस में वह पूर्वापर संबंध नहीं माना जा सकता जो डा० नगेन्द्र ने निम्नलिखित पंक्तियों में प्रतिपादित किया है --"गुणों को अनिवार्यत: आह्लाद रूप न मानकर चित्त की एक ऐसी दशा माना जा सकता है जो सरलता से रस परिपाक की प्रक्रिया में रस-दशा से ठीक पहली स्थिति है ।"[१] इन पंक्तियों से कारण-कार्य संबंध व्यक्त होता है । लगता है जैसे चित्तवृत्ति रूप अवस्था कारण है - रस-दशा कार्य है । परन्तु ऐसा है नहीं, चित्तवृत्ति रूप दीप्ति और रौद्रादि रस में समवाय संबंध है, एक के अभाव में दूसरा संभव नहीं है । इनमें उत्पाद्य-उत्पादक संबंध भी नहीं है ।

अभेद दृष्टि से गुण रूप चित्तवृत्तियों की प्रतीति में और रस प्रतीति में भेद नहीं रह जाता । आश्रय चित्तवृत्तियां और आश्रित रस एक हो जाते हैं । रौद्रादि रस की प्रतीत दीप्ति में ही है, दीप्ति में ही वह है, दीप्ति के द्वारा ही , दीप्ति के रूप में ही अनुभूत होगा । अन्य शब्दों में रौद्रादि की अनुभूति दीप्ति की ही अनुभूति होगी, इसलिए उपचार से रौद्रादि को ही दीप्ति कहा गया है -

'रौद्रादयो हि रसा: परां दीप्तिमुज्ज्वलतां जनयश्न्तीति लक्षणाया ते एव दीप्तिरित्युच्यते ।'[२]

व्याख्या करते हुए अभिनव लिखते हैं --'दीप्ति: प्रतिपत्तुर्हृदये विकासविस्तारप्रज्वलनस्वभावा । सा च मुख्यतया ओजश्शब्दवाच्या । तदास्वादमय रौद्राद्या: तया दीप्त्या: आस्वादविशेषात्मिकया कार्यरूपया लक्ष्यन्ते रसान्तरात्पृथक्तया । तेन कारणेन कार्योपचाराद्रौद्रादिरोज:शब्दवाच्य : ।

---

१. भारतीय का० शा० की भूमिका , डा० नगेन्द्र, पृ. ४६

२. ध्वन्यालोक: २।६ वृत्ति

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि सहृदय की विकास विस्तार प्रज्वलन रूप चित्तवृत्ति ही दीप्ति आदि है। इस दीप्ति का वाचक शब्द ओज है। रौद्रआदि रस में इसी ओज का आस्वादन होता है अत: रौद्र आदि को ओज आस्वादमय कहा गया है। रसानुभूति में भी क्योंकि अन्तत: दीप्ति आदि की अनुभूति होती है अत: उसे रस का कार्य कहा जा सकता है। अनुभूति की स्थिति में अभेद हो जाने से उपचारत: रौद्रादि रस को भी ओज से अभिहित किया जा सकता है। उपर्युक्त उद्धरण में अभिनव ने दीप्ति और रौद्ररस को भी ओज से अभिहित प्रतिपादित कर वस्तुत: उनके सहभाव को स्वीकार किया है। इसलिए गुणानुभूति को रसदशा से किञ्चित् पूर्व की अवस्था नहीं कहा जा सकता है। और जब चित्तवृत्ति रूप गुणों का रस से सहभाव माना जाता है तो इन चित्तवृत्तियों का आस्वादन ही रसास्वादन है। 'शृंगारादि के आस्वाद में सहृदय को चित्तद्रुति की प्रतीति होती है, वीरादि के आस्वादन में चित्तदीप्ति का अनुभव होता है।' अत: गुण आस्वादमूलक चित्तवृत्ति विशेष है। उपचार से गुणों को शब्द और अर्थ का धर्म भी कहा जाता है। इस स्थिति को स्पष्ट करने के लिए कवि की सृजन प्रक्रिया पर ध्यान देना अपेक्षित होगा। कवि अपनी चित्तवृत्ति रूपअनुभूति को व्यक्त करने के लिए, उसके अनुरूप शब्द और अर्थ की योजना करता है, विशेष गुणों (चित्तवृत्तियों) के लिए विशेष वर्णों का विधान इसीलिए किया गया है। इस प्रकार चित्तवृत्ति विशेष क से अनुप्राणित शब्द और अर्थ सहृदय में भी तदनुरूप चित्तवृत्ति उपपादित करते हैं। इस चित्तवृत्ति में ही रस व्यंजित होते हैं। अभिनव ने दीप्ति और रौद्रादि रस के 'ओज' शब्द वाच्य कह कर काव्य को अखण्ड बुद्धि आस्वाद्य कहा है। गुण, शब्द और अर्थ का विवेचन शास्त्रीय बुद्धि का विषय है आस्वादन के समय यह भेद बुद्धि कहाँ -- इसीलिए अभिनव ने कहा है -- 'अखण्डबुद्धिसमास्वाद्यं काव्यम्'।

यदि डा० नगेन्द्र[१] प्रतिपादित स्थिति को स्वीकार किया जाय तो कविता द्वारा रसास्वादन की प्रक्रिया के निम्नलिखित स्तर होंगे, मान लीजिए कविता प्रेम-भाव परक है, तब --

(१) कविता में प्रयुक्त मधुरता व्यंजक वर्णों को सुनकर सहृदय का चित्त करुणा प्रेम आदि भावों को ग्रहण करता है ।

(२) प्रेम और करुणा आदि को ग्रहण कर चित्त में एक प्रकार का विकार पैदा हो जाता है, जिसे तरलता या द्रुति कहते हैं ।

(३) यह विकार पूर्ण आह्लाद रूप नहीं है ।

(४) अब काव्य (वस्तु) भावकत्व की स्थिति को पारकर भोजकत्व की ओर बढ़ रहा है, अभी वस्तु तत्व नि:शेष नहीं हुआ है और हमारी चित्तवृत्तियां उत्तेजित होकर अन्विति की ओर बढ़ रही है ।

(५) फिर पूर्ण अन्विति होती है और रस परिपाक होता है ।

अब यहां एक-एक स्तर का परीक्षण किया जाय ।

१. कहा गया है कि मधुरता व्यंजक वर्णों को सुनकर सहृदय के चित्त द्वारा करुणा प्रेम आदि भाव ग्रहण किए जाते हैं, यही भाव चित्त की अवस्था है जिसे तरलता या द्रुति कहते हैं ।

वास्तविकता यह है कि वर्णों में माधुर्य आदि की व्यंजकता का कथन औपचारिक ही है, जैसा मम्मट ने कहा है :-

`गुणवृत्या पुनस्तेषां वृत्ति: शब्दार्थयोर्मता`

वस्तुत: गुण रस के धर्म है । गुण रस रूप आत्म-तत्व से अपृथक है अत: वर्णों को सुनकर करुणा, प्रेम आदि के ग्रहण किए जाने की बात प्रमाण सम्मत नहीं है ।

---

१. भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, डा० नगेन्द्र, पृ ४६

उपर्युक्त कठिनाई डा० नगेन्द्र को इसलिए हुई है कि वे कविता के रस को अलौकिक, ब्रह्मानंदसहोदर मानते हैं, जिसमें चित्त विगत विकार हो जाता है। इस समस्या का समाधान एक उदाहरणदेकर करना अधिक उपयुक्त होगा। रामचरितमानस का पुष्पवाटिका प्रसंग ही लें, डा० नगेन्द्र ने भी इसका विश्लेषण किया है।

विमल सलिलु सरसिज बहुरंगा।
जल-खग कूजत गुंजत भृंगा।
तेहि अवसर सीता तहं आई।
गिरिजा पूजन जननि पठाई।
कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि। आदि

पुष्प वाटिका के इस प्रसंग को सुनकर अथवा पढ़कर सहृदय के चित्त पर सर्वप्रथम क्या प्रभाव पड़ता है? उपर्युक्त पंक्तियों में वर्ण योजना अत्यंत कोमल है, `ल`, `र`, `व` आदि अर्द्धस्वर, अंतिम पंक्ति में अल्प प्राण अघोष ध्वनियों का आधिक्य, पूरे प्रसंग में कोमलता व्यंजक ध्वनियों का प्रयोग, `कंकन`, `किंकिन`, `नूपुर` आदि पदों की योजना, निश्चय ही सहृदय के चित्त में पद को पढ़कर और अर्थ को अवगत कर उत्पन्न हुई कोमलता में सघनता लाते हैं। इसी के साथ वह मानसी साक्षात्कारात्मिका क्रिया के दौर से गुजरने लगता है। वह राम और लक्ष्मण को अपने मानस पट पर स्पष्ट देखता है - सीता को देखता है - उनके कंकन, किंकिनि की `धुनि` सुनता है। मधुरता का अनुभव करता है, उसे लगता है जैसे चतुर्दिक का वातावरण प्रसन्न है, जैसे उसका मन तरल हो रहा है, वह उस तरलता में आनंद का अनुभव करता है। नारी के (सीता) के अनिन्द्य सौंदर्य की प्रतीति उसे होती है। सहृदय इस स्थिति में कुछ बोलना नहीं चाहता, साक्षात्कारात्मिका मानसी प्रतीति में मग्न रहता है। इस स्थिति को विकार शून्य नहीं कहा जा सकता। माधुर्य भी एक विकार ही है। माधुर्य के अनुभव में ही

आनंद है । इससे भिन्न रसास्वाद क्या होगा ? पुन: जिस प्रक्रिया को डा० नगेन्द्र ने इतना लंबा खींचा है स्मरण रहे वह असंलक्ष्यक्रम है । यदि पहले वर्णों द्वारा तारल्य आदि चित्तवृत्ति का उदय, पुन: रस परिपाक माना जाए तो गुणों को कारण और रस परिपाक को कार्य मानना होगा । असंलक्ष्यक्रम की धारणा ही ध्वस्त हो जाएगी ।

इसी प्रकार 'मथ्नामि कौरव शतं समरे न कोपाद्' उदाहरण लें । यह असमासा रचना पढ़कर अर्थ ग्रहण करते ही सहृदय के मानस में भीम की ओजपूर्ण मूर्ति साकार हो जाती - सहृदय दीप्ति का अनुभव करता है । उत्साह का अनुभव करता है, आह्लाद का भी । अत: यह कहा जा सकता है कि कविता का आस्वादन चित्तवृत्ति का ही आस्वादन है । रस आस्वादन को विकार रहित मानना, ब्रह्मानंद सहोदर आदि मानकर आस्वादन का विश्लेषण करना उसे अव्यवहार्य बनाना है । केदारनाथ अग्रवाल की स्वयंवर कविता यहां उद्धृत है -

एक बीते के बराबर
वह हरा ठिंगना चना
बांधे मुरैठा शीश पर
छोटे गुलाबी फूल का
सजकर खड़ा है
पास में मिलकर उगी है
बीच में अलसी हठीली
देह की पतली कमर की लचीली
नील फूले फूल को सिर पर चढ़ा कर
कह रही है जो छुए यह
दूं हृदय का दान उसको
और सरसों की न पूछो
हो गई सबसे सयानी
हाथ पीले कर लिए हैं

ब्याह मंडप में पधारी
फाग गाता मास फागुन
आ गया है आज जैसे
देखता हूं मैं स्वयंबर हो रहा है ।

इस कविता में माधुर्य व्यंजक वर्णों का प्रयोग तो है ही । इन वर्णों की संघटनारूप शब्दों के संयोजन को पढ़ते ही, पढ़ने के साथ ही सहृदय के मानस में सर्वप्रथम गुलाबी पुष्प को धारण किए चने का पौधा और नीले फूल वाली अलसी उभरते हैं, फिर `बांधे मुरैठा शीश पर`, `ठिंगना` आदि पदों के योग से चने का पौधा जैसे दूल्हे में रूपांतरित हो जाता है, `देह की पतली कमर की लचीली` आदि पद मानस चक्षुओं के समक्ष `अलसी` को एक युवा, क्षीण कटि वाली और युवावस्था के अहसास से मदमाती युवती में रूपांतरित करते हैं । सहृदय माधुर्य के पारावार में ऊभचूभ होने लगता है । `फाग गाता मास फागुन` सहृदय की मस्ती में सहयोग देता है । यही न इस कविता का आनंद है । इससे भिन्न क्या हो सकता है ।

इसलिए पहले कविता के वर्णों को सुनकर तरलता आदि चित्तवृत्तियों का उदय, फिर रस परिपाक की कल्पना दूर की कौड़ी प्रतीत होती है ।

`रस` आनंद स्वरूप है । परन्तु प्रत्येक रस में चित्त की अवस्था समान नहीं रहती । कहीं वह तरलता स्वरूप होती है, कहीं दीप्ति स्वरूप । पर आनंद तत्व इन सभी अवस्थाओं में है, गुण रस के धर्म है । धर्म और धर्मी की प्रतीति क्या अलग अलग होगी । ऊष्णता अग्नि का धर्म है । अग्नि और ऊष्णता की प्रतीति साथ साथ ही होती है । इसके लिए अग्नि को स्पर्श करने की आवश्यकता नहीं होती । अत:, यदि गुण रस का धर्म है तो रस धर्मी होगा। परिणामत: उनकी प्रतीति भी साथ साथ होनी चाहिए । रस अपने धर्म गुण के रूप में ही आस्वादित होता है । निष्कर्षत: कहा जा सकता है -

१. आनंदवर्धन के अनुसार गुण रस के धर्म हैं, रस धर्मी है।

२. गुण चित्तवृत्ति स्वरूप है, माधुर्य, ओज और प्रसाद क्रमश: द्रुति, दीप्ति और स्वच्छता जन्य प्रसन्नता रूप चित्तवृत्ति स्वरूप हैं।

३. रस अपने धर्म गुणों के रूप में ही आस्वादित होता है। प्रथमत: चित्तवृत्ति फिर परिपाक मानने की आवश्यकता इसमें नहीं है।

४. अभिनव ने भी रस-भोग को चित्त के द्रुति-विस्तार स्वरूप ही माना हैं :

'अलौकिके द्रुतिविस्तरविकासात्मनि भोगे कर्तव्ये लोकोत्तरे'

आचार्य मम्मट ने आनंदवर्धन की गुण कल्पना में स्पष्टत: अन्तर कर दिया है। मम्मट के अनुसार माधुर्य द्रुति का कारण है -

'आह्लादकत्वं माधुर्यं शृंगारे द्रुतिकारणम्'

इस अंतर की संगति माधुर्य और द्रुति में समवायि कारण-कार्य संबंध मानने से ही संभव है। एक ओर मम्मट कहते हैं 'अतएव माधुर्यादयो रसधर्मा: समुचितै: वर्णै: व्यज्यन्ते न तु वर्णमात्राश्रया:' यदि माधुर्य आदि को उपचार से ही सही वर्णों का धर्म न माना गया तो द्रुति के कारणभूत (मम्मट के अनुसार) माधुर्य की स्थिति कहां होगी, अत: यदि कारण मानना ही है तो वर्णों में ही उन्हें मानना होगा तभी वे चित्त-द्रुति का कारण होंगे। पर वर्णों में तो वे उपचारत: हैं, अत: माधुर्य को चित्तद्रुति से अभिन्न मानना होगा ? काव्य के संदर्भ में जो माधुर्य है वह सहृदय के संदर्भ में चित्तद्रुति है, माधुर्य नहीं है तो चित्तद्रुति भी नहीं है। इसीलिए हमने समवायि संबंध की मान्यता प्रस्तुत की है।

३.३ रस और अलंकार

आनंदवर्धन के पूर्व भामह - 'न कान्तमपिनिर्भूषं विभाति वनितामुखम्' कह चुके थे । दण्डी ने अलंकारों को काव्यशोभाकारक धर्म प्रतिपादित किया था ।[१] वामन ने इस धारणा में परिवर्तन कर गुणों को शोभा का कर्ता और अलंकारों को शोभातिशय का हेतु माना ।[२] आनंदवर्धन तो वाच्यातिशयी प्रतीयमान अर्थ को काव्य का आत्मा मानते हैं ; अत: उनके मत में अलंकार इस प्रतीयमान अर्थ के चारुत्वहेतु ही हो सकते हैं । शब्द और अर्थ के धर्म अलंकार (वाचकत्व पर आधारित अलंकार) साधन हो सकते हैं - साध्य नहीं । आनंदवर्धन ने कवि की अनुभूति को प्रामाणिक माना था । कवि की उस अनुभूति को महत्व दिया था जो प्रतीयमान रस रूप में परिणत होकर सहृदय हृदयाह्लाद का हेतु बनती है । जो उपादान इस रस रूप आत्मा की अभिव्यक्ति में सहजरूप में सहायक हैं वे सभी आनंदवर्धन को स्वीकार हैं । जहां उपादानों के कारण रसाभिव्यक्ति में बाधा हो, वह स्थिति स्वीकार्य नहीं है ।

आनंदवर्धन अलंकारों को अंगों पर आश्रित आभूषणों के समान शब्द और अर्थ पर आश्रित मानते हैं -

'अंगाश्रितास्त्वलंकारा मन्तव्या: कटकादिवत्'[३]

ध्वनि में वही अलंकार अपेक्षित है जिसकी योजना रस से आक्षिप्त हो, जिसके लिए पृथक से प्रयत्न न करना पड़े । रस से आक्षिप्त होने पर ही अलंकार मुख्य रूप से रस का अंग होता है --

रसाक्षिप्ततया यस्य बन्ध: शक्यक्रियो भवेत् ।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य: सोऽलंकारो ध्वनौ मत: ।।[४]

---

१. काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते ....काव्यादर्श
२. 'काव्यशोभाया:कर्तारो धर्मा गुणा: तदतिशय हेतवस्त्वलंकारा' - वामन
३. ध्व०, आ० वि०, पृ. ६४
४. ,, ,, १०५

शृंगार आदि कोमल रसों में तो कवि को शब्दालंकारों का प्रयोग करना ही नहीं चाहिए । आनंदवर्धन ने स्पष्ट कहा है - अंगी रूप से वर्णित शृंगार के किसी भी भेद में यत्नपूर्वक निरंतर उपनिबद्ध अनुप्रास रस का व्यंजक नहीं होता -

शृंगारस्यांगिनो यत्नादेकरुपानुबन्धवान् ।
सर्वेष्वेव प्रभेदेषु नानुप्रास: प्रकाशक: ।।[1]

इसी प्रकार यमकादि शब्दालंकारों का निबन्धन भी शृंगारादि रस में अनुपयुक्त ही होगा । इस प्रसंग को मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखने पर आनंदवर्धन के मत की सत्यता स्वत: स्पष्ट हो जाएगी । रस में अवधानवान् कवि यदि शब्दालंकार की योजना में ध्यान देगा तो निश्चय ही रस के प्रति उसका पूरा ध्यान नहीं रह सकता, उसे शब्दों के विशेष प्रयोग में प्रयत्नपूर्वक ध्यान देना होगा, परिणामत: रस उपेक्षित होगा । इसी स्थिति की कल्पना करके आनंदवर्धन ने शब्दालंकारों के प्रयोग का निषेध किया है[2]-

ध्वन्यात्मभूते शृंगारे यमकादिनिबंधनम् ।
शक्तावपि प्रमादित्वं विप्रलंभे विशेषत: ।।

(ध्वन्यात्मक शृंगार में, विशेषत: विप्रलंभ शृंगार में, शक्ति होते हुए भी यमकादि का निबंधन, कवि के प्रमादित्व का सूचक है ।)
यमकादि में यमक सदृश श्लेष, मुरजबंध आदि अलंकारों का भी संकलन है । केवल शृंगार या विप्रलंभ शृंगार में ही नहीं किसी भी रस में प्रयत्नपूर्वक प्रयुक्त यमकादि अलंकार रस के बाधक ही होंगे ।

कपोले पत्राली करतलनिरोधेन मृदिता,
निपीतो नि:श्वासैरयममृतहृद्योऽधर रस: ।
मुहु: कण्ठे लग्नस्तरलयति बाष्प: स्तनतटीं,
प्रियो मन्युर्जातस्तव निरनुरोधे न तु वयम् ।।[3]

---

१. ध्व०, आ०वि०, पृ.१०२
२. वही, पृ.१०३
३. वही, पृ.१०६

((तुम्हारे) कपोल पर बनी हुई पत्रावली को हाथ से रगड़ कर मसल दिया, (तुम्हारे) अमृत के समान मधुर अधररस का पान (ये उष्ण) नि:श्वासों के द्वारा किया जा रहा है। अश्रुबिन्दु बार-बार (तुम्हारे) कंठ से लगकर स्तनों को हिला रहे हैं, अयि कठोर हृदये यह क्रोध तुम्हें इतना प्रिय है, हम नहीं)

उपर्युक्त श्लोक में अलंकार रस का अंग बन कर आया है, उसका अपृथग्यत्न-निर्वर्त्यत्व भी स्पष्ट है। अत: रस के अंग अलंकार का लक्षण उसका अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यत्व ही है। जो अलंकार कवि की रसविषयक वासना में बाधा उत्पन्न करके रचा जाता है, जिसमें अन्य प्रयत्नों का आश्रय लेना पड़ता है, वह रस का अंग नहीं होता। यमक का निषेध इसीलिए किया गया है कि उसके निबंधन में विशेष शब्दों की खोजरूप नूतन एवं पृथक प्रयत्न करना ही पड़ता है अर्थालंकारों के विषय में 'पृथक प्रयत्न' का उतना प्रश्न नहीं है। क्योंकि रस में संलग्नचित्त प्रतिभावान कवि के सामने अन्य अर्थालंकार बादलों के समान उमड़ते हैं। कादम्बरी ग्रंथ में कादम्बरी के दर्शन के अवसर पर कवि ने अलंकारों का संसार प्रस्तुत कर दिया है। पर इस रचना में ऐसा नहीं लगता कि कवि को पृथक प्रयत्न करना पड़ा हो, कवि कादम्बरी के रूप की अनुभूति को व्यक्त करना चाहता है, वह उसी में दत्तचित्त है, अलंकार स्वयं उस अनुभूति को साकार करने के लिए दौड़े चल आते हैं। सेतुबन्ध काव्य में रामचन्द्र के बनावटी कटे हुए सिर को देखकर सीता के विह्वल होने के अवसर पर अलंकारों का सहज प्रयोग द्रष्टव्य है। हिन्दी कविता में प्रसाद कृत कामायनी के लज्जा सर्ग में और पंत की बादल कविता में अलंकार जैसे स्वत: उमड़ते हैं - कहीं भी पृथक प्रयत्न प्रतीत नहीं होता। रसादि की अभिव्यक्ति में रूपकादि अलंकारों की बहिरंगता नहीं है, क्योंकि रसाभिव्यक्ति वाच्यविशेष से होती है। और रूपकादि अलंकार शब्दों से प्रकाशित वाच्यविशेष ही है। यमकादि के निबंधन का मार्ग प्रयत्न-साध्य है।

कतिपय ऐसे उदाहरण हो सकते हैं जहां यमकादि के साथ रसाभिव्यक्ति भी हो, परन्तु इन उदाहरणों में प्रधानता यमकादि की ही होगी, रसादि यमकादि अलंकारों के अंग होंगे। रसाभास के प्रसंग में यमकादि के अंगत्व का निषेध नहीं किया गया है। परन्तु जहां रस अंगी रूप में हो वहां पृथक्प्रयत्नसाध्य होने से यमकादि का निबंधन नहीं किया जाना चाहिए।[१]

ध्वन्यात्मक शृंगार में विवेकपूर्वक प्रयुक्त रूपकादि अलंकार चारुत्वहेतु होते हैं, उनका अलंकारत्व सार्थक होता है :-

ध्वन्यात्मभूते शृंगारे समीक्ष्य विनिवेशित: ।
रूपकादिरलंकारवर्ग एति यथार्थताम् ।।[२]

(ध्वन्यात्मक शृंगार में सोचसमझकर प्रयुक्त किया गया रूपकादि अलंकार वर्ग वास्तविक अलंकारता प्राप्त होता है।)

आनंदवर्धन ने अलंकारों को बाह्य आभूषणों के समान चारुत्व हेतु कहा है। ये चारुत्व-हेतु यदि विचार पूर्वक निबद्ध किए जाएं तो निश्चय ही अपने चारुत्व-हेतु नाम को सार्थक करते हैं।

अलंकारों के विचारपूर्वक प्रयोग के लिए आनंदवर्धन ने छ संकेतसूत्र दिए हैं --

१. रूपकादि की रसपरत्वेन विवक्षा (विवक्षा तत्परत्वेन)
इसका तात्पर्य यह है कि रूपकादि के प्रयोग में रस की प्रधानता का

---

१. रसवन्ति हि वस्तूनि सालंकाराणि कानिचित् ।
एकेनैव प्रयत्नेन निर्वर्त्यन्ते महाकवे: ।।
यमकादिनिबन्धे तु पृथग्यत्नोऽस्य जायते ।
शक्तस्यापि रसे अंगत्वं तस्मादेषां न विद्यते ।।
रसाभासांगभावस्तु यमकादेर्न वार्यते ।
ध्वन्यात्मभूते शृंगारे त्वंगता नोपपद्यते ।। ध्व०,आ०वि०,पृ.१०८

२. ध्व०, आ०वि०, पृ.१०८

सदैव ध्यान रखना चाहिए । अलंकार रस के उत्कर्ष-वर्धक हों, रस के अंग हों । जैसे -

चलापांगां दृष्टिं स्पृशसि बहुशो वेपथुमतीं,
रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदुकर्णान्तिकचर: ।
करौ व्याधुन्वत्या: पिबसि रतिसर्वस्वमधरं,
वयं तत्वान्वेषणान्मधुकर: हतास्त्वं खलु कृती।[1]

(हे भ्रमर ! (मधुकर:) तुम इस शकुंतला की चंचल और तिरछी चितवन का खूब स्पर्श कर रहे हो, रहस्यकथा कहने वाले के समान कान में गुनगुनाते हो, हाथ झटकती (तुम्हें उड़ाने के लिए) हुई इसके रतिसर्वस्व अधरामृत का पान कर रहे हो । हम तो तत्वान्वेषण में ही मारे गए और तुम सफलकाम हो गए ।)

उपर्युक्त श्लोक में भ्रमर के स्वभाव वर्णन में स्वभावोक्ति अलंकार है । यह रस के अनुरूप है, कविता के मुख्य कथ्य का उत्कर्षहेतु है। अत: अलंकार का निबंधन रस की विवक्षा से होना चाहिए ।

२. अलंकार का निबंधन प्रधानरूपसे से नहीं किया जाना चाहिए (न अंगित्वेन कदाचन)

परन्तु कभी-कभी रसादि के तात्पर्य से विवक्षित होने पर भी अलंकार प्रधान रूप से प्रतीत होता है । इस तात्पर्य को स्पष्ट करने के लिए आनंदवर्धन ने निम्नलिखित उदाहरण दिया है-

चक्राभिघातप्रसभाज्ञयैव चकार यो राहुवधूजनस्य ।
आलिंगनोद्दामविलासवन्ध्यं रतोत्सवं चुम्बनमात्रशेषम् ।।[2]

---

१. ध्व०, आ० वि०, पृ.११०
२. वही, पृ.११०

((विष्णु ने) चक्र के प्रहार रूप अनुल्लंघनीय आज्ञा से
राहु की पत्नियों के सुरतोत्सव को आलिंगन इत्यादि
रहित चुम्बनमात्र तक सीमित कर दिया ।)

इस श्लोक में `राहु का सिर` काट दिया, यह भाव उपर्युक्त विधि से कहा गया है। सिर मात्र रहने से राहु की पत्नियों को सुरतोत्सव में केवल चुंबन ही मिल सकता है। इस प्रकार से राहु के सिर मात्र रहने के कथन के कारण यहाँ पर्यायोक्ति अलंकार है। यही प्रधान प्रतीत होता है। परन्तु पर्यायोक्ति अलंकार को ही यदि प्रधान माना जाय तो यह दोष होगा क्योंकि यह`न अंगित्वेन कदाचन्` का उल्टा होगा। कहा तो यह जा रहा है कि `अंगित्वेन` अलंकार का निबंधन न हो, तब इस उदाहरण की संगति कैसे होगी ? लोचनकार ने इसका समाधान किया है। उनके अनुसार इसमें वासुदेव के प्रताप का वर्णन है, वही प्रधान भाव है। प्रधान होने से वह चारुत्व हेतु नहीं है, चारुत्वहेतु पर्यायोक्ति अलंकार है। अत: पर्यायोक्ति यहाँ अंगित्वेन नहीं है।

किन्तु आनंदवर्धन का यह अभिप्राय प्रतीत नहीं होता जो अभिनव ने दिया है। वे वस्तुत: इस उदाहरण से यह सिद्ध करना चाहते हैं कि रसादि में तात्पर्य होने पर अंगित्वेन अलंकार का निबंधन दोष होता है। इस श्लोक में आनंदवर्धन ने पर्यायोक्ति को अंगित्वेन ही माना है -- `अत्र हि पर्यायोक्तस्यांगित्वेन विवक्षा रसादितात्पर्ये सत्यपीति`[1]

३. अंगरूप से विवक्षित अलंकार भी अवसर पर ही ग्रहण किया जाना चाहिए (काले च ग्रहण)

इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए निम्नलिखित उदाहरण दिया गया है।

---

१. ध्व०, आ० वि०, पृ(११०

उद्दामोत्कलिकां विपाण्डुररुचं प्रारब्धजृम्भां क्षणा-
दायासं श्वसनोद्गमैरविरलैरातन्वतीमात्मनः ।
अद्योद्यानलतामिमां समदनां नारीमिवान्यां ध्रुवं,
पश्यन् कोपपाटलद्युतिमुखं देव्याः करिष्याम्यहम् ।।

(आज मदनावेशयुक्त अन्य नारी के समान (समदनां नारीमिवान्यां) प्रबल उत्कंठा से युक्त (उद्दामोत्कलिकां), अतएव पाण्डुवर्णा (विपाण्डुरुचं) और उसी समय जंभाई लेती हुई क्षणात् (प्रारंभधजृम्भां), लम्बी सांसों से हृदय के मदनावेश को प्रकट करती हुई (श्वसनोद्गमैः अविरलैः आयासं आत्मनः आतन्वतीम्) इस उद्यान लता को (उद्यानलतामिमां) देखता हुआ मैं देवी के मुख को क्रोध से लाल द्युति वाला कर दूंगा (पश्यन् देव्याः कोपपाटलद्युतिमुखं करिष्याम्यहम्))

उपर्युक्त श्लोक में श्लेष के द्वारा समदना नारी और अकाल में कुसुमित लता से संबंधित अर्थ निष्पन्न होते हैं। राजा अपने मित्र विदूषक से कहत T है कि यह लता मदनावेशयुक्त परनारी सदृश प्रतीत हो रही है, जब मैं इसे देखूंगा तो देवी वासवदत्ता क्रोधित होंगी, वे मेरा इसे देखना देखकर ईर्ष्यान्वित होंगी। यहां श्लेष और उपमा का ग्रहण यथावसर हुआ है।

४. ग्रहण किये हुए अलंकार को भी समयानुसार छोड़ देना (काले त्यागः)

जैसे

रक्तस्त्वं नवपल्लवैरहमपि श्लाघ्यैः प्रियाया गुणै-
स्त्वामायान्ति शिलीमुखाः स्मरधनुर्मुक्ताः सखे मामपि ।
कान्तापादतलाहतिस्तव मुदे, तद्वन्ममाप्यावयोः,
सर्वं तुल्यमशोक ! केवलमहं धात्रा सशोकः कृतः ।।

राजा अशोकवृक्ष से कह रहा है - (हे अशोक तुम नवीन पल्लवों से रक्त हो, मैं भी प्रिया के गुणों से रक्त हूं, तुम्हारे पास भ्रमर (शिलीमुख) आते हैं मेरे पास भी काम के धनुष से छोड़े हुए बाण (शिलीमुख) आते हैं। कान्ता का पादप्रहार तुम्हारे लिए आनंददायक है, वह मेरे लिए भी आनंदप्रद है। हम और तुम सब प्रकार से समान हैं अंतर यह है कि विधाता ने मुझे सशोक कर दिया है और तुम अशोक हो।)

उपर्युक्त श्लोक की प्रथम तीन पंक्तियों में श्लेष है, परन्तु चतुर्थ पंक्ति में श्लेष को छोड़ दिया गया है, चतुर्थ में व्यतिरेक है। इसप्रकार श्लेष को छोड़ देने से रस की पुष्टि हो रही है। अत: यह समय पर अलंकार के त्याग का उदाहरण है।

५. रसनिबन्धन में तत्पर कवि की अलंकार के अत्यन्त निर्वाह में अनिच्छा (नातिनिर्वहणैषिता)

जैसे -

> कोपात् कोमललोलबाहुलतिकापाशेन बद्ध्वा दृढं,
> नीत्वा वासनिकेतनं दयितया सायं सखीनां पुर: ।
> भूयो नैवमिति स्खलत्कलगिरा संसूच्य दुश्चेष्टितं,
> धन्यो हन्यत एव निह्नुतिपर: प्रेयान् रुदत्या हसन् ।।

(क्रोधावेश में अपने कोमल तथा चंचल बाहुलता पाश में दृढ़ता से जकड़कर, सायं अपने केलिभवन में लेजाकर सखियों के सामने, उसके अपराध को प्रकट कर, फिर कभी ऐसा न हो, लड़खड़ाती हुई वाणी से ऐसा कहकर, रोती हुई प्रियतमा के द्वारा, (दंतक्षतादि को) छिपाता हुआ सौभाग्यशाली प्रिय पीटा ही जाता है।)

इस श्लोक में 'बाहुलतिकापाशेन' द्वारा रूपक प्रारंभ किया गया था परन्तु अत्यन्त रसपुष्टि के लिए उसका निर्वाह नहीं किया गया।

६. निर्वाह इष्ट होने पर भी अंग रूप में ही देखना (निर्व्यूढावपि च अंगत्वे यत्नेन प्रत्यवेक्षणम्)

कवि जब अलंकार का निर्वाह करना चाहता है तो उसे चाहिए कि वह अंग रूप में ही ऐसा करे। जैसे -

श्यामास्वंगं चकितहरिणीप्रेक्षणे दृष्टिपातं,
गण्डच्छायां शशिनि शिखिनां बर्हभारेषु केशान्।
उत्पश्यामि प्रतनुषु नदीवीचिषु भ्रू विलासान्,
हन्तैकस्थं क्वचिदपि न ते भीरु सादृश्यमस्ति।

(हे भीरु! मुझे तुम्हारे अंग का सादृश्य प्रियंगुलताओं में, तुम्हारा दृष्टिपात चकित हरिणियों की चंचल चितवन में, तुम्हारे कपोलों की कान्ति चन्द्रमा में, तुम्हारे केशपाश मयूरपिच्छ में और तुम्हारे भ्रूभंग नदी की तरंगों में दिखलाई पड़ते हैं, परन्तु दुःख है कि तुम्हारा सादृश्य कहीं एकसाथ दिखलाई नहीं पड़ता।)

उपर्युक्त श्लोक में सद्भाव अध्यारोपरूप उत्प्रेक्षा के सादृश्य का प्रारंभ से अंत तक निर्वाह किया गया है, परन्तु यह निर्वाह अंगरूप में ही है। इससे यक्ष के विप्रलंभ शृंगार का ही पोषण हो रहा है। अतः अलंकार का पूर्ण निर्वाह करने की इच्छा वाले कवि को इसी प्रकार अंगरूप में निर्वाह करना चाहिए।

इस प्रकार अलंकार प्रयोग-विवेक के ६ सूत्र दिए गए हैं। आनंदवर्धन के अनुसार इनका पालन करने से अलंकार रसाभिव्यक्ति में सहायक होता है और इनका ध्यान न रखने से अलंकार रस भंग का हेतु बन जाता है।

रूपकादि अलंकार वर्ग भी, इसप्रकार प्रयुक्त किए जाने पर, व्यंजक होता है। इनका विवेकपूर्वक उपयोग करते हुए यदि कवि आत्मभूत रस का निबंधन करे तो उसे संसार में महाकवि कहा जाता है।

उपर्युक्त विवेचन के पश्चात् आनंदवर्धन का अलंकार विषयक मत स्पष्ट हो जाता है। आनंदवर्धन कवि की अनुभूतिरूप रस को प्रधान मानते हैं। अलंकार सहजरूप में प्रयुक्त होकर इसका पोषण कर सकता है। अलंकार की यही स्थिति ध्वनिसिद्धान्त में ग्राह्य है। `रसादिप्त` अलंकार ही वांछनीय है। अलंकार के लिए अलंकार का प्रयोग रसभंग का हेतु होगा।

परन्तु प्रतीयमान होकर अलंकार भी अलंकार्य हो सकता है। वस्तुत: तब वह अलंकार्य ही होता है, अलंकार तो उसे ब्राह्मण-श्रमण न्याय से कह देते हैं। अलंकार ध्वनि के उदाहरण, अलंकार के अलंकार्य होने के ही उदाहरण हैं।

3.4 वर्ण, पद, वाक्य और संघटना की रस व्यंजकता -

प्रथम उद्योत में ही कहा गया है -

सो अर्थ: तद् व्यक्तिसामर्थ्य योगी शब्दश्च कश्चन ।
यत्नत: प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवे: ।।

अर्थात् महाकवि को प्रतीयमान अर्थ और उसकी अभिव्यक्ति में समर्थ शब्द, दोनों को भली प्रकार से पहचानने का प्रयत्न करना चाहिए। इसका तात्पर्य यह है कि अर्थ को प्रतीयमानता की कोटि तक पहुंचाने के लिए व्यंजक-प्रयोग में अत्यन्त सावधानी की आवश्यकता है। कभी-कभी एक वर्ण का, एक पद विशेष का प्रयोग कविता में सौन्दर्य उत्पन्न कर देता है। वर्ण विशेष के प्रयोग से भी रस रूप अर्थ की द्योतकता प्रभावित होती है। आनंदवर्धन ने इस दृष्टि से भी रस पर विचार किया है। संस्कृत काव्यशास्त्र की संपूर्ण परंपरा में रस का इस प्रकार से यह प्रथम और पूर्ण विवेचन है। `रस` की अनिर्वचनीयता के गान लगभग सभी ने गाए हैं, पर कविता में वह कैसे प्राप्त किया जाय, इस व्यावहारिक पक्ष पर चिंतन करने की आवश्यकता कम समझी गई। आनंदवर्धन ने रस के स्वरूप का ही व्यावहारिक चिंतन नहीं किया, वह काव्य में कैसे साकार हो,इस प्रक्रिया को भी स्पष्ट किया।

काव्य-वाक्य की लघुतम इकाई रूपिम है। आनंदवर्धन ने रूपिम के दोनों भेदों (बद्ध और मुक्त) की रस-व्यंजकता में सार्थकता बतलाते हुए, रूपिम संघटना के दीर्घतम रूप प्रबन्ध काव्य तक की रसव्यंजकता का विश्लेषण किया है।

३.५ वर्णों की रसद्योतकता

वर्णों (Phoneme) का कोई अर्थ नहीं होता। क्, च्। ट, आदि वर्ण स्वयं में अर्थहीन हैं, परन्तु ये अर्थहीन वर्ण भी रस की द्योतकता में सहायक होते हैं। वर्ण यदि रसद्योतन में सहायक न होते तो 'सभी वर्णों से सभी रस द्योतित नहीं होते' ऐसा नहीं कहा जाता। यह देखा जाता है कि कुछ वर्ण रस विशेष में प्रयुक्त होकर ही सहायक होते हैं। 'रेफ' (र्) के संयोग से युक्त ष, 'श्' और 'ढ्' का अधिक प्रयोग, शृंगार रस में अपकर्षक होने से, विरोधी समझा जाता है।[१] परन्तु यही वर्ण वीर, वीभत्सादि में रस को दीप्त करते हैं। यदि वर्णों में रसद्योतकता न होती तो यह कैसे संभव होता। परन्तु अर्थद्योतकता और रसद्योतकता एक ही बात नहीं है। जो वर्ण अर्थद्योतक नहीं हैं वे भी रसद्योतक तो हो ही सकते हैं। इसका एक कारण यह है कि रस वाच्य नहीं होते व्यंग्य होते हैं और व्यंग्य की प्रतीति के लिए व्यंजक के अर्थद्योतकत्व की अपेक्षा नहीं है। बस वह व्यंजक होना चाहिए, वाचक भले ही न हो। आनंदवर्धन ने वर्णपदादि का इसी दृष्टि से, रस व्यंजना में सहकारित्व माना है, मुख्य कारण तो विभावादि ही हैं।

३.६ पद की द्योतकता

पद भी रस का द्योतक हो सकता है। पद मुक्त रूपिम भी हो

---

१. ध्व०, आ०वि०, पृ. १६५

सकता है और बद्ध भी । दोनों ही रस की व्यंजना में सहायक तत्व हैं, जैसे -

उत्कम्पिनी भयपरिस्खलितांशुकान्ता,
ते लोचने प्रतिदिशं विधुरे क्षिपन्ती,
क्रूरेण दारुणतया सहसैव दग्धा,
धूमान्धितेन दहनेन न वीक्षिताऽसि ।।

(कांपती हुई, भय से स्खलित वस्त्र वाली, उन नेत्रों को सब दिशाओं में फेंकती हुई, तुझ को अत्यन्त निष्ठुर तथा धूमान्ध अग्नि ने देखा भी नहीं और निर्दयतापूर्वक एकदम जला ही डाला ।)

उपर्युक्त श्लोक में वासवदत्ता के भय के अनुभावों की प्रतीति `उत्कम्पिनी` पद से हो रही है । `ते पद उसके नेत्रों की स्वसंवेद्यता, अनिर्वचनीयता आदि अनेक गुणों की स्मृति का द्योतक है, इस प्रकार रसाभिव्यक्ति का निमित्त है । वासवदत्ता का स्मृत सौन्दर्य, उदयन के शोक में विभाव बन गया है । आचार्य विश्वेश्वर ने लिखा है - `इस प्रकार `ते`पद विशेष रूप से रसाभिव्यंजक होने से वहां शोक रूप स्थायिभाव वाला करुणरस प्रधानतया इस `ते` पद से अभिव्यक्त हो रहा है । रसप्रतीति यद्यपि मुख्यत: विभावादि के द्वारा ही होती है परन्तु वे विभावादि जब किसी विशेष शब्द से असाधारण रूप से प्रतीत होते हैं तब वह पदद्योत्य ध्वनि होती है ।

३.७ पदावयव की द्योतकता

आनंदवर्धन ने जो उदाहरण पदावयव की द्योतकता दिखलाने के लिए दिया है उससे मुक्त रूपिम की द्योतकता प्रकट होती है । पद की द्योतकता में उन्होंने `ते` की द्योतकता मानी है , इसे बद्ध रूपिम की द्योतकता का उदाहरण माना जा सकता है । पदावयव से संबद्ध उदाहरण यह है --

व्रीडायोगान्नतवदनया सन्निधाने गुरुणां,
बद्धोत्कम्पं कुचकलशयोर्मन्युमन्तर्निगृह्य ।
तिष्ठेत्युक्तं किमिव न तया यत समुत्सृज्य वाष्पं,
मय्यासक्तश्चकितहरिणीहारिनेत्रत्रिभाग: ।।

(गुरुजनों के समीप होने के कारण लज्जा से सिर झुकाये,
कुचकलशों को कम्पित करने वाले दु:खावेग को हृदय में दबाये,
आँसू टपकाते हुए चकित हरिणी के दृष्टिपात के समान
हृदयाकर्षक नेत्रत्रिभाग जो मुझ पर फेंका सो क्या उसने
`तिष्ठ - (ठहरो) मत जाओ ! नहीं कहा ।)

उपर्युक्त श्लोक में `नेत्रत्रिभाग` एक पद है, इसमें `त्रिभाग` की द्योतकता होने से इसे पदावयव द्योतकता कहा गया है । नायक का विरह नायिका के उस `त्रिभाग` (कटाक्ष) का स्मरण कर घनीभूत हो जाता है । इस प्रकार त्रिभाग भी विभावत्व को प्राप्त करता है ।

३. वाक्य द्योतकता के भी अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं । फिर भी दो उदाहरण यहाँ प्रस्तुत हैं । वाक्य द्योतकता के दो रूप हैं - शुद्ध और अलंकार संकीर्ण ।

३(अ) शुद्ध वाक्य द्योतकत्व

कृतककुपितैर्वाष्पाम्भोभि: सदैन्यविलोकितै:
वनमपि गता यस्य प्रीत्या धृतापि तथा अम्बया ।
नवजलधरश्यामा: पश्यन् दिशो भवतीं विना,
कठिनहृदयो जीवत्यैव प्रिये स तव प्रिय: ।

(माता (कौशल्या) के उस प्रकार रोकने पर भी (तथा अम्बया धृतापि) जिसकी प्रीति के कारण तुम (सीता), वन गई (यस्य प्रीत्या वनमपि गता), हे प्रिये । तुम्हारा वह कठोर हृदय प्रिय (राम) (प्रिये तव स प्रिय: कठिनहृदय:) अभिनव जलधरों से श्यामवर्ण दिशामण्डल को

(नवजलधरश्यामा दिश:), कृत्रिम क्रोधयुक्त, अश्रुपूर्ण और दीन नेत्रों से (कृतककुपितैर्बाष्पाम्भोभि: सदैन्यविलोकितै:) देखता हुआ जी रहा है (पश्यन् जीवति एव)

उपर्युक्त वाक्य सीता और राम के पुष्ट परस्परानुराग को अपने संपूर्ण स्वरूप से व्यक्त कर रहा है ।

३(ब) अलंकार संकीर्ण वाक्य का द्योतकत्व

स्मरनवनदीपूरेणोढा: पुनर्गुरुसेतुभि: ,
यदपि विधृतास्तिष्ठन्त्यारादपूर्णमनोरथा:।
तदपि लिखितप्रख्यैरंगै: परस्परमुन्मुखा,
नयननलिनीनालानीतं पिबन्ति रसं प्रिया: ।।

(काम रूप नूतन नदी की बाढ़ में बहते हुए, गुरुजनरूप विशाल बांधों से रोके गए , अपूर्णकाम प्रिय (प्रिय और प्रिया) यद्यपि दूर-दूर बैठे रहते हैं, परन्तु चित्रलिखित सदृश अंगों से एक दूसरे को परस्पर देखते हुए, नेत्ररूपकमलनाल द्वारा लाए जाते हुए रस को पीते हैं ।)

इस श्लोक में `स्मर नव नदी` से रूपक आरंभ हुआ और `नयननलिनी` से समाप्त, पर बीच में नायक-नायिका पर हंस-हंसिनी का आरोप न होने से रूपक पूर्ण नहीं हो पाया ।

३.८ संघटना

आनंदवर्धन ने रीति को संघटना कहा है । काव्यशास्त्र की परंपरा में वामन का रीति संप्रदाय प्रसिद्ध है । वामन ने `रीति` को काव्य का आत्मा प्रतिपादित किया है ।[१] रीति का लक्षण वामन के अनुसार `विशिष्टपदरचना है, अर्थात विशिष्ट पदरचना ही रीति है[२]। `विशेष` का अर्थ गुण स्वरूप है ।[३] इस प्रकार रीति का लक्षण होगा --

---

१. `रीतिरात्मा काव्यस्य`, काव्यालंकारसूत्र, अ० २.६
२. काव्यालंकारसूत्र २.७
३. ,, २.८

-गुणात्मक पदरचना' ।

वामन के अनुसार रीति तीन प्रकार की है - १वैदर्भी, २ गौड़ी, ३ पांचाली । विदर्भ, गौड और पांचाल देश के कवियों के काव्य में विशेष रूप से प्रचलित होने के कारण ये नाम दिए गए हैं । वैदर्भी ओज, प्रसादादि समग्र गुणों से युक्त मानी गई है ।[१] गौडी[२] रीति ओज और कान्ति गुण वाली है । समास बहुल उग्र पदों का प्रयोग इसकी विशेषता है । माधुर्य और सौकुमार्य से युक्त पांचाली रीति है ।[३]

'रीति' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग वामन ने ही किया है । दण्डी ने इसे मार्ग कहा है । आनंदवर्धन ने रीति को संघटना कहा है, और दीर्घसमासा, असमासा तथा मध्यमसमासा नाम से इसके तीन प्रकारों का विवेचन किया है । आनंदवर्धन का यह रीति-विवेचन रस के संदर्भ में है, और इस प्रकार का प्रथम विवेचन है ।

(क) संघटना का स्वरूप

आनंदवर्धन के अनुसार संघटना के तीन स्वरूप हैं -

(१) असमासा, (२) मध्यम समासा, (३) दीर्घसमासा -

असमासा समासेन मध्यमेन च भूषिता ।
तथा दीर्घ समासेति त्रिधा संघटनोदिता ।।[४]

अर्थात् सर्वथा समासरहित, छोटे - छोटे समासों से युक्त और दीर्घसमासयुक्त, इस प्रकार संघटना तीन प्रकार की मानी गई है ।

---

१. 'समग्रगुणा वैदर्भी' का.ल. २.११
२. 'ओज: कान्तिमती गौडी' " २.१२
३. 'माधुर्यसौकुमार्योपपन्ना पांचाली' " २.१३
४. ध्व०, आ० वि०, पृ.१६८

वामनादि के मत का अनुवाद करते हुए आनंदवर्धन लिखते हैं -
`गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती, माधुर्यादीन् , व्यनक्ति सा रसान् ।`
माधुर्य आदि गुणों के आश्रय से स्थित वह (संघटना) रसों को व्यक्त करती है। इस कारिकार्ध से गुणों और संघटना का संबंध प्रकट होता है। वामन ने रीति और गुणों में अभेद माना है। इस दृष्टि से `गुणानाश्रित्य` की व्याख्या होगी -- गुणान् आत्मभूतान् माधुर्यादि-गुणान आश्रित्य` अर्थात अपने स्वरूपभूत माधुर्यादि गुणों के आश्रित स्थिति। इस व्याख्या में संघटना के माधुर्यादि गुणों के आश्रितत्व -कथन को औपचारिक (गुणवृत्तिजन्य) मानना होगा।

गुणानाश्रित्य की दूसरी व्याख्या के भी दो विकल्प हो सकते हैं। (१) संघटनाश्रया गुणा: (२) गुणाश्रया संघटना। इनमें से प्रथम विकल्प भट्ट उद्भट का है जो गुणों को संघटना का धर्म मानते हैं। धर्म सदैव धर्मी के आश्रित रहता है इसी नियम से गुण रूप धर्म, संघटनारूप धर्मी के आश्रित रहते हैं। संघटना ही गुणों का आधार है। इस मत के अनुरूप `गुणाना-श्रित्य` की व्याख्या होगी --`आधेयभूतान् गुणान् आश्रित्य`।

द्वितीय विकल्प `गुणाश्रया संघटना` आनंदवर्धन का मत है। इसके अनुसार `गुणानाश्रित्य` का अर्थ होगा `गुणान् आश्रित्य` अर्थात् गुणों के आश्रित रहने वाली संघटना रसों को व्यक्त करती है।

३.६ संघटना और गुण के अभेदत्व तथा गुण को संघटनाश्रित मानने का खंडन

गुण और संघटना को अभिन्न अथवा गुण को संघटनाश्रित मानने से गुणों का अनियतविषयत्व भी मानना होगा, क्योंकि संघटना में अनियतविषयत्व सिद्ध है। परन्तु, गुणों का तो नियतविषयत्व ही सिद्ध है। करुण और विप्रलंभ में ही प्रसाद और माधुर्य का उत्कर्ष रहता है।

रौद्र और अद्भुत में ही प्रधानत: ओज की स्थिति है। इसके अतिरिक्त माधुर्य, प्रसादादि गुण रस, भाव आदि विषयक ही होते हैं। इस प्रकार गुणों के विषय निश्चित नियमों के अनुकूल हैं। परन्तु, संघटना अनियतविषया है। दीर्घसमास रचना शृंगार में भी हो सकती है और रौद्रादि रसों में भी। इसी प्रकार समासरहित रचना रौद्रादि रसों में भी हो सकती है और शृंगार में भी। शृंगार में समासयुक्त रचना का यह उदाहरण है --

अनवरतनयनजललवनिपतनपरिमुषितपत्रलेखं ते।
करतलनिषण्णमबले वदनमिदं कं न तापयति।।

(हे अबले! निरंतर अश्रुबिन्दुओं के गिरने से मिटी हुई पत्रावलीवाला, हथेली पर रखा तुम्हारा मुख किसको सन्तप्त नहीं करता।)

रौद्र में असमासा रचना का उदाहरण 'यो य: शस्त्रं' आदि पीछे दिया जा चुका है। अत: संघटना का अनियतविषयत्व सिद्ध होता है।

यदि गुणों और संघटना में अभेद माना जायगा तो गुणों का भी अनियतविषयत्व मानना होगा। गुणों को संघटना के आश्रित मानने पर भी यही दोष उत्पन्न होता है। अत: न तो गुणों और संघटना में अभेद माना जा सकता और न गुणों को संघटनाश्रित।[१]

गुणों का वास्तविक आश्रय प्रधानभूत रस है। रस के अंगभूत शब्द और अर्थ के आश्रित अलंकारादि रहते हैं। गौण रूप से गुणों को शब्द और अर्थ का धर्म भी कहा जा सकता है पर इससे यह नहीं समझना चाहिए कि गुण और अलंकार में अभेद है। क्योंकि अनुप्रासादि में अर्थ की अपेक्षा नहीं होती पर गुणों की स्थिति के लिए व्यंग्यार्थ-विचार आवश्यक होता है। गुण, व्यंग्यविशेष के अभिव्यंजक, वाच्यार्थ के प्रतिपादन में समर्थ शब्द के धर्म हैं। गुणों की शब्दधर्मता वैसे ही गौण कथन है जैसे आत्मा के धर्म शौर्यादि को

---

१. 'तस्मान्न संघटनास्वरूपा: न च संघटनाश्रया गुणा:' ध्व०,आ०वि०, पृ.१७१

उपचार से शरीर का धर्म कह दिया जाता है। इस प्रकार गुणों को, उपचार से ही सही, शब्द का धर्म कहने से संघटनाश्रित गुण मानने वालों के निम्नलिखित तर्क उत्पन्न होते हैं।

(१) यदि गुण को उपचार से भी शब्दाश्रित मानलिया तो एक प्रकार से वे संघटनाश्रित ही हो गए। क्योंकि असंघटित पद तो वाचक होते नहीं। वाच्य प्रतिपादन सामर्थ्य तो प्रकृति-प्रत्यय के योग से संघटित शब्द में ही रहती है, तब क्यों न, उपचार से ही सही, गुणों को संघटना का धर्म मान लिया जाय।

परन्तु आनंदवर्धन इस तर्कणा को स्वीकार नहीं करते, क्योंकि वे अवाचक, अर्थहीन वर्णों में भी द्योतकता प्रतिपादित करते हैं, इसलिए, प्रकृति-प्रत्यय युक्त संघटना में ही द्योतकता मानने का प्रश्न नहीं उठता - (अ) नैवम्। वर्णपदव्यंग्यत्वस्य रसादीनां प्रतिपादितत्वात्।[१]

(२) रसाभिव्यक्ति के लिए वाच्यार्थ की अपेक्षा है, वाचकत्व संघटित शब्दरूप वाक्य में ही होता है और जहां वाचकत्व है वहीं उपचार से माधुर्यादि गुणों की स्थिति है। इस प्रकार माधुर्यादि गुण भी उपचार से वाक्य रूप संघटना के धर्म हुए।

गुण को संघटनाश्रित मानने के उपर्युक्त तर्क के खंडन में आनंदवर्धन ने कहा है, यदि दुर्जनतोषन्याय से रस को वाक्यव्यंग्य मान भी लिया जाय, तो भी कोई नियत संघटना तो किसी रस विशेष का आश्रय होती नहीं, अत: अनियतसंघटनावाले व्यंग्य विशेष से अनुगत शब्द को ही गुण का आश्रय मानना चाहिए, संघटना को नहीं।

उपर्युक्त समाधान में पुन: एक शंका उठती है कि भले ही माधुर्य अनियतसंघटनाश्रित हो पर ओज तो नियतसंघटनाश्रित ही है - उसके लिए तो दीर्घसमासा संघटना नियत है। इस शंका के उत्तर में आनंदवर्धन का मत

---

१. ध्व०, आ० वि०, पृ.१७३

है कि - ओज असमासा संघटना में नहीं हो सकता, यह प्रसिद्धिमात्र ही है, क्योंकि असमासा रचना में 'ओज' के उदाहरण दिए ही जा चुके हैं। रौद्रादि रसों को प्रकाशित करने वाली काव्य की दीप्ति का नाम ही ओज है, यदि यह दीप्ति असमासा संघटना में भी रहे तो दोष क्या है। समासरहित रचना से ओज प्रकाशन में सहृदयों को अचारुत्व का अनुभव तो होता नहीं है।

इस प्रकार यह निर्धारित हुआ कि गुण संघटना के धर्म नहीं है। उपचार से उन्हें शब्दों का गुण अवश्य कहा जा सकता है। वस्तुत: उपर्युक्त संपूर्ण तर्कणा में एक ही बात तथ्य की है - यह कि संघटना अनियतविषया होती है। गुणों का विषय नियत है। आनंदवर्धन यदि उपचार से गुणों को शब्दधर्म मानते हैं तो उपचार से गुणों को वाक्य, अत: संघटना धर्म भी माना जा सकता है। इस संदर्भ में जो तर्क आनंदवर्धन ने दिए हैं, वे पुष्ट नहीं है। इसलिए क यही कहा जाना समीचीन है कि गुण संघटना पर आश्रित नहीं है - गुण रस के ही धर्म हैं। रसानुरूप गुण को व्यक्त करने के लिए विशेष शब्दों की योजना की जाती है - अत: उपचारत: वे शब्द के धर्म भी कहे जा सकते हैं - हमारा निवेदन है कि तब उन्हें उपचारत: संघटना का धर्म भी कहा जा सकता है।

वस्तुत: गुण चित्तवृत्ति स्वरूप है, पर इतना कहने से गुणों का व्यवहार्य रूप नहीं उभरता, इसीलिए आनंदवर्धन ने गुण को शब्दों से उपचारत: जोड़ा है। कवि की चित्तवृत्ति रूप गुण शब्दों के द्वारा ही व्यक्त होता है, यह गुण उसके भाव अथवा अनुभूति के अनुरूप है इसलिए उस पर आधृत है। शब्दों से व्यक्त गुण कविता के पाठक (सहृदय) में चित्तवृत्तियों को उद्रिक्त करते हैं और सहृदय कवि की अनुभूति का स्वयं अनुभव करता है - यही रसानुभूति है।

इस प्रकार गुणों का नियतविषयत्व सिद्ध है। यदि संघटना के समान गुण में भी कहीं अनियतविषयत्व दिखलाई पड़े तो उस संघटना को दूषित मानना चाहिए। परन्तु 'यो यः शस्त्रं ... आदि श्लोक में संघटना का अनियत्वविषयत्व है, यदि वह दूषित है तो सहृदय को अचारुत्व की प्रतीति क्यों नहीं होती ? इस का समाधान यह है कि कवि की प्रतिमा के बल से दबजाने के कारण यह अचारुत्व प्रतीत नहीं होता।

काव्य में दोष दो प्रकार से उत्पन्न होते हैं --

(१) कवि की अव्युत्पत्तिकृत

और (२) कवि-अशक्तिकृत

कवि की वर्णनीयवस्तु को नव-नव ढंग से वर्णन करने वाली प्रतिमा को शक्ति कहते हैं और शक्ति के अनुसार वस्तु के पौर्वापर्य विवेचन कौशल को व्युत्पत्ति कहते हैं। इनमें से अव्युत्पत्ति दोष कभी-कभी शक्ति के कारण प्रतीत नहीं होता। परन्तु अशक्तिकृत दोष तो तुरंत प्रतीत होता है। उदाहरण के लिए कालिदासकृत उत्तमदेवताविषयक प्रसिद्ध संभोग शृंगारादि के वर्णनों को लिया जा सकता है। इस प्रकार का संभोग वर्णन अनुचित समझा जाता है, परन्तु कालिदास की शक्ति के कारण इन वर्णनों में यह दोष प्रतीत नहीं होता।

३.१० संघटना नियामक तत्व

आनंदवर्धन के अनुसार संघटना का नियामक तत्त्व, वक्ता और वाच्य का औचित्य ही है।

वक्ता या तो कवि हो सकता है अथवा कविनिबद्ध। कविनिबद्धवक्ता के भी रसभाव की दृष्टि से दो भेद किए जा सकते हैं - (१) रस भावसहित और (२) रसभावरहित। रस कथानायक में भी रह सकता है, प्रतिनायक में भी और पीठमर्द में भी।

वाच्यार्थ ध्वनिरूप भी हो सकता है, रसका अंग हो सकता है, अभिनेयार्थरूप भी हो सकता है।

जब कवि अथवा कविनिबद्ध वक्ता रसभावरहित हो तो संघटना की स्वतंत्रता है, परन्तु जब कवि अथवा कविनिबद्धवक्ता रस-भावसहित हो तो संघटना असमासा, मध्यम समासा अथवा दीर्घसमासा ही होनी चाहिए करुण और विप्रलंभ शृंगार में असमासा संघटना ही उचित है। करुण और विप्रलंभ शृंगार कोमल रस है इनकी प्रतीति में दीर्घसमासा रचना बाधक होगी। दीर्घसमास को विच्छेद किए बिना अर्थ स्पष्ट नहीं होगा और शब्द अथवा अर्थ की किंचित् भी अस्पष्टता रसप्रतीति को शिथिल कर देगी।

इसी प्रकार रौद्रादि रसों में दीर्घसमासा रचना ही उपयुक्त होती है। प्रसाद नामक गुण सभी संघटनाओं में आवश्यक है। प्रसाद के अभाव में समासरहित रचना भी करुण और विप्रलंभ की अभिव्यक्ति में अक्षम होगी।

यद्यपि आनंदवर्धन ने संघटनानियामक के रूप में वक्ता और वाच्य का परिगणन किया है, परन्तु इनके विवेचन से स्पष्ट है कि वस्तुत: संघटना नियामकत्व रस में ही है। इस प्रकार आनंदवर्धन ने संघटना (रीति) का रस के संदर्भ में व्याख्यान किया है।

विषय की दृष्टि से भी संघटना नियामक तत्वों का उल्लेख किया जा सकता है काव्य के मुक्तक, प्रबंध आदि भेदों के आधार पर संघटना के भी भेद हो जाते हैं -

विषयाश्रयमप्यन्यदौचित्यं तां नियच्छति।
काव्यप्रभेदाश्रयत: स्थिता भेदवती हि सा ।।

'अर्थात विषयाश्रित औचित्य भी उसका नियंत्रण करता है, काव्य प्रकारों के भेद से संघटना भी भेदवती हो जाती है'

काव्य के अनेक प्रकारों का वर्णन संस्कृत , प्राकृत और अपभ्रंश में मिलता है जैसे -

१. मुक्तक, स्वयं में परिपूर्ण स्फुट श्लोक जैसे अमरूक शतक, गाथासप्तशती, आर्यासप्तशती आदि में । मुक्तक में संघटना रसाश्रित ही होगी । मुक्तक के भी अनेक भेद हैं, कुछ का वर्णन यहां दिया जा रहा है --

(क) सन्दानितक - जब एक क्रिया का अन्वय दो श्लोकों में हो । इसकी तथा विशेषक, कुलक और कलापक की संघटना मध्यम समासा तथा दीर्घसमासा होती है ।

(ख) विशेषक - जब एक क्रिया का अन्वय तीन श्लोकों में हो ।

(ग) कलापक - जब चार श्लोकों का एक साथ अन्वय हो ।

(घ) कुलक - जब पांच या पांच से अधिक श्लोक एक साथ अन्वित हों ।

२. पर्याय बन्ध : एक विषय का वर्णन करने वाला प्रकरण पर्यायबन्ध कहलाता है । प्राय: इसमें असमासा अथवा मध्यम समासा संघटना का विधान है ।

३. परिकथा : धर्म, अर्थ, काम , और मोक्ष इन पुरूषार्थ चतुष्टयों में से एक के संबंध में बहुत सी कथाओं का संग्रह परिकथा कहलाता है । इसमें संघटना की स्वतंत्रता है, क्योंकि कथांश का वर्णन होने से रसादि का आग्रह नहीं होता ।

४. खण्डकथा : किसी दीर्घ कथा के एक अंश का वर्णन खण्डकथा में होता है ।

५. सकलकथा : संपूर्ण इतिवृत्त का कथन सकलकथा में होता है ।

६. सर्गबन्ध - (महाकाव्य) रस के अनुसार संघटना का निर्णय होता है।

७. अभिनेयार्थ - (नाटक) में भी रस योजना ही संघटना - नियामक है।

८- आख्यायिका :

उच्छ्वासों में विभक्त, वक्ता - प्रतिवक्ता युक्त कथा को आख्यायिका और इनसे रहित को कथा कहा जाता है।

३.११ कथा

आख्यायिका और कथा की संघटना के विषय में भी औचित्य को ही नियामक हेतु मानना चाहिए। अर्थात गद्यरचना में भी यदि वक्ता (कवि) अथवा कविनिबद्ध वक्ता रस-भाव सहित है तो रस के अनुसार संघटना होनी चाहिए। यदि ऐसा नहीं है तो स्वतंत्रता है। विषय की दृष्टि से आख्यायिका में मध्यमसमासा अथवा दीर्घ समासा संघटना होनी चाहिए क्योंकि विकटबन्ध से, कठिन रचना से गद्य में सौन्दर्य आ जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि गद्य के उपर्युक्त विवेचन के समय आनंदवर्धन की दृष्टि में बाणकृत कादम्बरी आख्यायिका रही होगी।

कथा में कठिन रचना होने पर भी रसौचित्य के अनुरूप संघटना होनी चाहिए। वस्तुत: रसौचित्य ही सर्वत्र संघटनानियामक है। इतना सब विवेचन करने पश्चात, वक्ता, वाच्य और विषय को नियामक कहते हुए भी आनंदवर्धन पुन: कहते हैं --

'रसबन्धोक्तमौचित्यं भाति सर्वत्र संस्थिता।'[१]

---

१. ध्व०, आ० वि०, पृ.१८६

अर्थात् रसबन्ध में कथित औचित्य का आश्रय लेने वाली संघटना ही सर्वत्र शोभित होती है ।

नाटक में नियमत: असमासा रचना होनी चाहिए । क्योंकि दीर्घसमासा अथवा मध्यमसमासा रचना होने पर सामाजिक को उसका अर्थ समझने में कठिनाई होगी, फलत: रसाभिव्यक्ति शिथिल होगी ।

१.१२ प्रबन्ध व्यंजकता

प्रबन्धकाव्य में रसादि के प्रकाशन के विषय में आनंदवर्धन ने विस्तार से पांच योजनाओं का विवेचन किया है -

१. विभाव, स्थायी भाव, अनुभाव और संचारियों के औचित्य से सुन्दर ऐतिहासिक अथवा कल्पनाप्रसूत कथाशरीर का निर्माण -

विभावभावानुभावसंचार्यौचित्यचारुण: ।
विधि: कथाशरीरस्य वृत्तस्योत्प्रेक्षितस्य वा ।।[१]

वृत्त का तात्पर्य पूर्वघटित अथवा ऐतिहासिक है तथा उत्प्रेक्षित का काल्पनिक । विभावों के औचित्य लोक तथा भरत के नाट्यशास्त्र में प्रसिद्ध है, जैसे कथानायक कुलीन हो इत्यादि । पात्र की प्रकृति - उत्तम, मध्यम, अधम अथवा दिव्य -- के अनुकूल भाव का औचित्य होना चाहिए । इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्य पात्र में देवपात्रों जैसा उत्साह दिखलाना अथवा देव पात्रों की मानव जैसी प्रकृति दिखलाना अनौचित्य होगा । मनुष्य राजा के प्रसंग में सात-समुद्र पार करने के उत्साह का वर्णन अनुचित ही होगा । अत: स्थायीभाव का निबंधन पात्र की प्रकृति के अनुरूप होना चाहिए । अनौचित्य रसभंग का सबसे बड़ा कारण है, अत: औचित्य का अनुसरण करना चाहिए वही रस का मूल रहस्य है -

---

१. ध्व०, आ० वि०, पृ.१८८

अनौचित्यादृते नान्यद् रसभंगस्य कारणम् ।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा ।।[१]

भरत ने इसीलिए नाटक में प्रख्यात कथावस्तु और प्रख्यात उदात्त नायक आवश्यक माना है । प्रख्यात होने के कारण कवि को कोई भ्रम नहीं होता ।

जैसे उत्साह स्थायीभाव के वर्णन में औचित्य की अपेक्षा है वैसे रति-भाव के निबंधन में औचित्य का ध्यान रखना परमावश्यक है । संभोग के दृश्यों को दिखलाना जैसे नाटक में वर्जित है, वैसे ही काव्य में भी उसका वर्णन असभ्यता दोष होगा । अत: इसमें औचित्य का निर्वाह अनिवार्य है । फिर शृंगार केवल सुरतवर्णन रूप ही तो नहीं है, उसके और अनेक रूप है, उत्तम प्रकृति के पात्रों में उनका वर्णन करना चाहिए । इसी प्रकार अनुभावों के वर्णन में औचित्य का निर्वाह करना रसव्यंजना के लिए अपरिहार्य है ।

ऐतिहासिक कथावस्तु में से रसपूर्ण अंशों को ही ग्रहण करना चाहिए । कल्पित कथावस्तु में अधिक सावधान रहने की आवश्यकता है । थोड़ी भी असावधानी कवि के अव्युत्पत्तिकृत दोष को प्रदर्शित करेगी । अत: कल्पित कथावस्तु का निर्माण इस प्रकार किया जाना चाहिए कि वह सब को रसपूर्ण प्रतीत हो । यह विभावों के औचित्य का भलीभांति अनुसरण करने पर ही संभव है । ऐतिहासिक कथा में रसविरोधिनी स्वेच्छा का प्रयोग रस विघातक होता है ।

२. ऐतिहासिक कथा के रस विरोधी प्रसंग को त्याग कर अपनी कल्पना से रसोचित प्रसंग का आकलन -

इतिवृत्तवशायातां त्यक्त्वा अननुगुणां स्थितिम् ।
उत्प्रेक्ष्याप्यन्तराभीष्टरसोचितकथोन्नय: ।।[२]

---

१. ध्व०, आ० वि०, पृ.१६०

२. वही, पृ.१८८

अर्थात ऐतिहासिक इतिवृत्त की ऐतिहासिकता से प्राप्त भी, अभीष्ट रस के प्रतिकूल स्थिति को त्यागकर, अभीष्ट रस के अनुकूल, कल्पना से कथा का निर्माण करना चाहिए । उदाहरणार्थ 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' में जैसा शकुन्तला का प्रत्याख्यान वर्णित है, वैसा इतिहास में नहीं है,पर कालिदास ने अभीष्ट रस के अनुकूल स्थिति का निर्माण अपनी कल्पना से किया है । अत: कथा में अभीष्ट रस के विपरीत स्थल हों तो उन्हें छोड़ कर अपनी कल्पना से नूतन कथांश का निर्माण करना चाहिए ।

३. प्रबन्ध के रसव्यंजकत्व का तीसरा हेतु है - नाट्यशास्त्रोक्त, मुख, प्रतिमुख, गर्भ , विमर्श और निर्वहण आदि पांच सन्धियों और सन्ध्यंगों का रसानुरूप प्रयोग । यह प्रयोग शास्त्रनिर्देशित नियमों का पालन करने की दृष्टि से ही नहीं होना चाहिए वरन् रसाभिव्यक्ति के उद्देश्य से इनका समावेश किया जाना चाहिए --

सन्धिसन्ध्यंगघटनं रसाभिव्यक्त्यपेक्षया ।
न तु केवलया शास्त्रस्थितिसम्पादनेच्छया ।।[१]

४. कथा के बीच - बीच में रस का उद्दीपन तथा प्रशमन । तथा प्रधानरस के विच्छिन्न होने पर उसका पुन: अनुसंधान ।

उद्दीपनप्रशमने यथावसरमन्तरा ।
रसस्यारब्धविश्रान्तेरनुसन्धानं अंगिन: ।।[२]

५. प्रयोग की पूर्ण शक्ति होने पर भी रस के अनुरूप ही अलंकार-प्रयोग ।

'अलंकृतीनां शक्तावप्यानुरूप्येण योजनम्' [३]

---

१. ध्व०, आ० वि०, पृ.१८८
२. वही
३. वही

समर्थ कवि भी कभी-कभी अलंकार रचना में मग्न हो जाते हैं और रस बंध को उपेक्षित कर देते हैं , इसलिए यह कहा गया है कि अलंकार-रचना की शक्ति होने पर भी उसके प्रयोग में कवि को रसानुरूपता का ध्यान रखना चाहिए ।

अ ध्या य - ५

रस-विरोध, अंगीरस, शांत रस और भाव संपदा का समाहार

४.१ रस विरोध और उनका परिहार

काव्य में रस प्रतीयमान अर्थ के रूप में रहता है - यही रस सहृदय की मानसी साक्षात्कारात्मिका प्रतीति द्वारा अनुभूत होता है। यदि काव्य में प्रतीयमान रस निर्विघ्न नहीं है तो उसकी प्रतीति भी निर्विघ्न नहीं होगी। अतः कवि के लिए आवश्यक हो जाता है कि वह प्रयत्नपूर्वक, रसप्रतीति में व्याघात उत्पन्न करने वाली परिस्थितियों का परिहार करे। आनंदवर्धन ने इसी स्थिति की कल्पना कर लिखा है --

प्रबन्धे मुक्तके वापि रसादीन् बन्धुमिच्छता।
यत्नः कार्यः सुमतिना परिहारे विरोधिनाम्॥[१]

(प्रबन्ध काव्य में अथवा मुक्तक काव्य में (प्रबन्धे मुक्तके वापि) रसादि का निबन्धन करने की इच्छा वाले (रसादीन् बन्धुमिच्छता), बुद्धिमान को (सुमतिना), विरोधियों के परिहार में यत्न करना चाहिए (यत्नः विरोधिनां परिहारे कार्यः))

---

१. ध्व०, आ० वि०, पृ.२१२

आनन्दवर्धन ने रस-निबंधन की प्रक्रिया में विरोध उत्पन्न करने वाले पांच कारणों का विवेचन किया है :

(१) मुख्य रस के विरोधी रस से संबद्ध विभावादि का ग्रहण -(विरोधि रस सम्बन्धिविभावादिपरिग्रह:)

इसका तात्पर्य यह है कि प्रबन्ध अथवा मुक्तक में कोई एक रस मुख्य होता है। यदि उस मुख्य रस के विरोधी रस के विभावादियों का निबंधन उस रस के साथ किया गया तो उस रस की प्रतीति में व्याघात होगा। उदाहरणार्थ, कवि शांत रस के विभावादि का वर्णन कर रहा है और तुरन्त बाद ही शृंगार रस के विभावों का वर्णन प्रारम्भ कर देता है तो सहृदय की शान्त रस-प्रतीति में बाधा होगी। शांत और शृंगार का नित्य विरोध होने से ऐसा वर्णन दोषपूर्ण होगा।

इसी प्रकार विरोधी रस के व्यभिचारी भावों का ग्रहण भी रस-विघातक होता है। जैसे प्रियतम के प्रति कुपित कामिनियों के प्रसंग में यदि यह कहा जाय कि यह सुन्दर शरीर अथवा जीवन नाशवान है, अन्तत: सभी को मरना है, क्यों समय व्यर्थ करती हो, मान जाओ आदि, तो यह रसानुकूल कथन नहीं होगा। कविराज विश्वनाथ[१] ने इसका उदाहरण -

'मानं मा कुरु तन्वंगि ज्ञात्वा यौवनमस्थिरम्'

अर्थात् 'तन्वंगि, यौवन अस्थिर है, यह जानकर मान छोड़ दो।
पं० रामदहिन मिश्र ने बच्चन की कविता का उदाहरण दिया है --

> इस पार प्रिये मधु है तुम हो,
> उस पार न जाने क्या होगा।[२]

---

१. सा.द., विमला टीका, पृ. २४६

२. काव्यदर्पण, रा.द.मिश्र, पृ.३०३

बच्चन की उपर्युक्त कविता पंक्ति में `उस पार` का चिंतन शान्त रस का विभाव है। पर प्रथम पंक्ति शृंगार भाव की व्यंजक है। इस प्रकार यहां शृंगार और शान्त परस्पर विरोधी रसों के विभावों का निबंधन साथ साथ हुआ है।

(२) (रस से) संबद्ध होने पर भी अन्य वस्तु का अधिक विस्तार से वर्णन - (विस्तरेणान्वितस्यापि वस्तुनोऽन्यस्य वर्णनम्)

इसका तात्पर्य यह है कि रस से संबद्ध, पर उससे भिन्न वस्तु का अधिक विस्तार से वर्णन रस-विघातक होता है। वास्तव में आनन्दवर्धन रस को अत्यधिक महत्वपूर्ण मानते हैं - रस-प्रतीति में अन्य कोई प्रतीति नहीं हो सकती। यदि अन्य वस्तु की प्रतीति होती है तो रसानुभूति में बाधा होगी। उदाहरण के लिए नायक - नायिका के पर्वत विहार के वर्णन का शृंगारमय प्रसंग है, यदि इस प्रसंग में कवि पर्वत के सौन्दर्य का विस्तारपूर्वक वर्णन करने लग जाय तो रस-प्रतीति में बाधा होगी। मम्मट ने इस को `अंगस्याप्यतिविस्तृति` दोष कहा है। यहां अंग के अंतर्गत, वस्तु और पात्र का भी समावेश है। मम्मट ने इस प्रसंग में `हयग्रीववध` काव्य में हयग्रीव केक्रियाकलापों के वर्णन को उदाहरण रूप में निर्दिष्ट किया है। कविराज विश्वनाथ ने `किरातार्जुनीयम्` के आठवें सर्ग में सुरांगनाओं के विलास वर्णन को इस दोष का उदाहरण कहा है। सच यह है कि अंग रूप में निबद्धनीय रस, वस्तु अथवा पात्र जब अंगी रूप में वर्णन किया जाने लगे या उसका वर्णन ऐसा हो कि अंगी रस उसके समक्ष फीका लगने लगे तो यह वर्णन दोष अथवा रसविरोधी ही कहा जाएगा। परन्तु, यह वर्णन यदि औचित्य की सीमा में हो तो मुख्य रस का उत्कर्ष हेतु होगा।

(३) अनवसर में रस को विच्छिन्न करना अथवा अवसर न होने पर भी विस्तार करना (अकाण्ड एव विच्छित्तिरकाण्डे च प्रकाशनम्)

अनवसर में रस को विच्छिन्न करने का स्पष्टीकरण स्वयं आनंदवर्धन ने इस प्रकार किया है। कवि किसी नायक का ऐसी नायिका से

प्रेम वर्णन करता है जो स्वयं भी उसे चाहती है - प्रेम पुष्ट होता हुआ भी दिखलाया गया है - अब यदि कवि उनके समागम के उपाय का आयोजन करने के स्थान पर किसी अन्य व्यापार का वर्णन करने लगे तो सहृदय को ऐसा प्रतीत होगा जैसे भाव अपनी चरमसीमा तक पहुंचते - पहुंचते रुक कैसे गया ? बाधा क्यों हो गई ?

मम्मट ने इसे `अकाण्डे छेद:` दोष कहा है, तथा महावीर चरित के द्वितीय अंक से, राम-परशुराम संवाद का उदाहरण दिया है, जब राम वीर रस के चरम बिन्दु पर कहते हैं - `मैं कंकन खोलने जा रहा हूं।` तो रस प्रतीति में बाधा होती है। परन्तु इस स्थिति का कलात्मक प्रयोग भी किया जा सकता है जैसा डा० नगेन्द्र[१] ने निर्देश किया है -`काव्य में जहां कवि नाटकीय प्रभाव उत्पन्न करना चाहता है इस प्रकार के प्रयोग प्राय: चमत्कार की वृद्धि करते हैं।` परन्तु कलात्मक प्रयोग का जो उदाहरण रामचरितमानस से दिया गया है, वह कुछ और ही प्रकार का है --

`आइ गये हनुमान ज्यों करुणा में वीर रस`

यह परिस्थिति की अपेक्षा से कहा गया है - करुणा के वातावरण में जैसे एकाएक उत्साह आ जाय वैसे ही लक्ष्मण के वियोग में दुखी श्री राम और बानर समाज में, हनुमान के आने से उत्साह छा गया। यहां `करुणा` और `वीर` लाक्षणिक प्रयोग हैं।

अनवसर में रस प्रकाशन भी रस विरोध की स्थिति है। जैसे, नाना वीरों के विनाशक कल्पप्रलय के समान भीषण संग्राम के प्रारंभ हो जाने पर विप्रलंभ शृंगार के प्रसंग के बिना और बिना किसी उचित कारण के रामचन्द्र सरीखे देवपुरुष का भी शृंगार कथा में पड़ जाने का वर्णन करने में।`[२]

---

१. रस - सिद्धान्त, डा० नगेन्द्र, पृ.२६६

२. ध्व०... आ० वि०, पृ. २१५

मम्मट ने इस प्रसंग में `वेणीसंहार` नाटक के द्वितीय अंक में महाभारत का युद्ध प्रारंभ हो जाने पर दुर्योधन और भानुमती के शृंगार वर्णन का उदाहरण दिया है। लोक में भी इस औचित्य का पालन अपरिहार्य है।

अत: इतिहास - कथाओं के निर्बंधन में भी अंग और अंगी का ध्यान रखना आवश्यक है, ऐसा न करने पर दोष स्वाभाविक है।

(४) परिपुष्ट रस का भी पुन: पुन: उद्दीपन दिखलाना - (परिपोषं गतस्यापि पौन: पुन्येन दीपनम्)

आनंदवर्धन का कथन है कि `अपने विभावादि से परिपुष्ट और उपभुक्त रस, बार-बार स्पर्श करने से मुरझाये हुए पुष्प के समान मलिन हो जाता है।[१] मम्मट ने भी इसे `दीप्ति पुन: पुन:` कहा है। डा० नगेन्द्र ने प्रियप्रवास के कतिपय सर्गों में विप्रलंभ की पुन: पुन: दीप्ति का संकेत किया है। वस्तुत: रसपूर्ण स्थिति का भी पुन: पुन: कथन उसे नीरस बना देता है। परिपुष्ट रस की बार-बार दीप्ति दिखलाने से उसका आकर्षण समाप्त हो जाता है, चमत्कार की हानि होती है।

(५) व्यवहार का अनौचित्य (वृत्यनौचित्यम्)

जैसे नायक के प्रति किसी नायिका का उचित हाव-भाव बिना स्वयं सम्भोगाभिलाषा-कथन। इस प्रकार का कथन अनुचित है, अत: यह व्यवहार का अनौचित्य कहलाता है। इसके अतिरिक्त भारती, कैशिकी आदि वृत्तियों का अविषय में निबन्धन भी रस विरोध का हेतु होता है भरत ने नाट्य शास्त्र में कैशिकी, सात्वती, भारती और आरभटी इन पांच वृत्तियों के लक्षण दिए हैं, इनके प्रयोग की पृथक-पृथक स्थितियां हैं। अनवसर में इनका प्रयोग अनौचित्य का कारण होता है।

---

१. ध्व०, आ० वि०, पृ.२१६

इस प्रकार आनंदवर्धन ने पांच रस-विरोधी स्थितियों का निर्देश किया है। संस्कृत काव्यशास्त्र की रस-विरोध विवेचन परंपरा में यही पांच विस्तृत होकर परिगणित होते रहे। मम्मट ने इन्हें रस-दोष के नाम से स्वीकार किया है --

> व्यभिचारि-रस-स्थायिभावानां शब्दवाच्यता ।
> कष्टकल्पनया व्यक्तिरनुभावविभावयो: ।।
> प्रतिकूलविभावादिग्रहो दीप्ति पुन: पुन: ।
> अकाण्डे प्रथनच्छेदौ अंगस्याप्यतिविस्तृति : ।।
> अंगिनोऽननुसन्धानं प्रकृतीनां विपर्यय: ।
> अंगस्याभिधानं च रसेदोषा: स्युरीदृशा: ।।

मम्मट के इस रस दोष परिगणन में तीन अधिक है -

(१) व्यभिचारि - रस और स्थायिभावों की शब्दवाच्यता । अर्थात् रस भाव आदि स्वशब्द वाच्य नहीं होते, रसादि सदैव व्यंग्य होते हैं। अत: रस आदि का शब्दश: प्रयोग नहीं किया जाना चाहिए जैसे 'एवं वादिनि देवर्षौ' आदि श्लोक में पार्वती की लज्जा उसके अनुभावों से ही प्रकट हो जाती है, लज्जा भाव वहां व्यंग्य है। स्वशब्द से कथित होकर रसादि में भावोत्प्रेरण की सामर्थ्य नहीं रहती। रसादि की प्रतीति तो विभावमूलक ही होती है। डा० नगेन्द्र ने इस दोष के उदाहरण स्वरूप साकेत से कुछ पंक्तियां दी है -

> सीता भी नाता तोड़ गई,
> इस वृद्ध ससुर को छोड़ गई।
> उर्मिला बहू की बड़ी लगन,
> किस भांति करुं मैं शोक सहन ?

इस उद्धरण में 'शोक' का तथ्य कथन मात्र है। सहृदय को भी रसात्मक प्रतीति नहीं होती ।

परन्तु अनेक स्थल ऐसे भी होते हैं जहां रस, भावादि का स्व शब्द कथन दोषपूर्ण नहीं लगता । डा० नगेन्द्र ने कामायनी का यह उदाहरण दिया है -

प्रलय में भी बच रहे हम, फिर मिलन का मोद,
रहा मिलने को बचा सूने जगत की गोद।
ज्योत्सना सी निकल आई ।. पार कर नीहार,
प्रणय-विधु है खड़ा नभ में लिए तारक-हार । (का.प्र.सं.पृ.६२)

'कामायनी' के उपर्युक्त छन्द में 'प्रणय' का स्वशब्द से कथन है, परन्तु इसमें दोष प्रतीत नहीं होता । इन पंक्तियों को रस-हीन नहीं कहा जा सकता । अत: सर्वत्र रस, स्थायी और व्यभिचारी भावों का शब्दश: कथन दोष नहीं होता ।

(२) मम्मट ने विभावों की कष्ट कल्पना को भी दोष कहा है । इसका तात्पर्य यह है कि रसादि के विभावों की स्पष्ट प्रतीति होनी चाहिए । यदि विभावों का वर्णन स्पष्टत: नहीं है तो सहृदय निर्णय ही नहीं कर पाएगा कि विभाव किस स्थिति के द्योतक हैं - जैसे -

उठति गिरति फिर-फिर उठति, उठि-उठि गिरि-गिरि जाति
कहा करौं कासे कहौं, क्यों जीवै यह राति ।।

पंक्तियों में यह ज्ञात नहीं होता कि नायिका की यह दशा किस कारण से है । विरह और साधारण व्याधि दोनों में ही यह स्थिति संभव है । अत: विभावों का निश्चित और स्पष्ट कथन रसादि की प्रतीति के लिए आवश्यकहै ।

(३) अंगी रस का अनुसंधान । अर्थात् कवि को इस बात का सतत प्रयत्न करना चाहिए कि प्रधान रस तिरोहित होता प्रतीत न हो ।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि संस्कृत काव्य शास्त्र में रस-दोष-विवेचन का आधार आनन्दवर्धनकृत रस-विरोध प्रकरण ही है । निष्कर्षत:

आनन्दवर्धन[1] ने कहा है -

१. सुकवियों के व्यापार के मुख्य विषय रसादि हैं, अत: रसादि के निबन्धन में कवियों को प्रमादरहित रहकर प्रयत्न करना चाहिए ।

२. `कविता की नीरसता`, कवि के लिए सबसे बड़ा अपशब्द है । ऐसे कवि को यश नहीं मिलता ।

३. यदि पूर्वकाल में रस-विरोध परिहार के नियमों को भंग कर काव्य-रचना करने वाले कवि हो गए हैं तो उन्हें उदाहरण मानकर भी नियम भंग नहीं करना चाहिए ।

४. जो नीतिनिर्देश ऊपर किए गए हैं, वे महाकवियों के अनुसार ही है ।

४.२ विरोधी रसों के निबन्धन का नियम

काव्य में विरोधी रसों के निरुपण से दोष का कथन इसलिए किया गया है कि इससे प्रधान रस के निर्वाह में बाधा उत्पन्न होती है । यदि प्रधान रस परिपोषण को प्राप्त हो चुका होतो विरोधी रसों के निर्बंधन में भी कोई दोष नहीं है । विरोधी रसोंका यह निर्बंधन दो प्रकार से हो सकता है, (१) बाध्य रूप से अथवा (२) अंग रूप से ।

विवक्षिते रसे लब्धप्रतिष्ठे तु विरोधिनाम् ।
बाध्यानामंगभावं वा प्राप्तानामुक्तिरच्छला ।।

विरोधी रसों का बाध्य रूप में वर्णन प्रधान रस का परिपोषक ही होता है । बाध्य रूप में वर्णन का अर्थ है विरोधी रसों का अभिभव दिखलाना । इसका तात्पर्य यह हुआ कि विरोधी रसों के अंगों का वर्णन इस प्रकार

---

१. ध्व०, आ० वि०, पृ.२१७

किया जाएगा कि वे प्रधान रस से अभिभूत प्रतीत हों ।[१] इस प्रकार निबंधित विरोधी रसों के अंग प्रधान रस के पोषक ही होंगे, उनका विरोध - भाव तिरोहित हो जायेगा ।

१. विरोधी रस को प्रधान (अंगी) रस के अंग रूप में प्रस्तुत किये जाने से कोई हानि नहीं है ।[२] विरोधी रसों का अंग भाव दो प्रकार का हो सकता है -- (१) स्वाभाविक और (२) समारोपित स्वाभाविक अंग भाव वाले रस के वर्णन में विरोध का प्रश्न ही नहीं उठता । जैसे विप्रलंभ शृंगार में व्याधि उसका स्वाभाविक अंगभूत है अत: विप्रलंभ शृंगार में व्याधि का वर्णन दोषपूर्ण नहीं है, परन्तु जो विप्रलंभ के स्वाभाविक अंग नहीं है, उनके निबंधन में दोष होगा । वास्तव में व्याधि करुण का भी अंग है, करुण और शृंगार में विरोध भाव है । परन्तु करुण का अंग होते हुए भी व्याधि वियोग शृंगार का अंग है अत: वियोग शृंगार के अंग रूप में व्याधि का कथन दोषपूर्ण नहीं होगा, परन्तु करुण के अन्य अंग जैसे आलस्य, उग्रता, जुगुप्सा आदि , जो शृंगार के अंग नहीं है, का वियोग शृंगार में अंग रूप में वर्णन दोषपूर्ण ही माना जाएगा । `मरण` यद्यपि विप्रलंभ का अंग हो सकता है, पर उसका वर्णन नहीं करना चाहिए । आश्रय का नाश होने पर तो रस का नाश होगा ही । यह ठीक है कि मरण के वर्णन से करुण का परिपोषण होगा, पर करुण प्रस्तुत अथवा प्रधान रस

---

१. स्वसामग्र्या लब्धपरिपोषे तु विवक्षिते रसे विरोधिनां, विरोधि-रसांगानां, बाध्यानामंगभावं वा प्राप्तानां सतामुक्तिरदोष: । बाध्यत्वं हि विरोधिनां शक्याभिभवत्वे सति, नान्यथा । तथा च तेषामुक्ति: प्रस्तुतरसपरिपोषायैव सम्पद्यते । ध्व०,आ०वि०,पृ.२१८

२. अंगभावं प्राप्तानां च तेषां विरोधित्वमेव निवर्तते । - वही

तो है नहीं अत: उसका पोषण अभीष्ट ही नहीं है । इसलिए मरण का वर्णन करने से अभीष्ट वियोग शृंगार का विच्छेद हो जायेगा । जहां करुण रस ही प्रधान अथवा प्रस्तुत रस हो, वहां `मरण` का वर्णन भी दोषपूर्ण नहीं होगा ।

विरोधी रस के अंगों का बाध्यत्वेन वर्णन करने सेभी रस विरोध नहीं होता । जैसे निम्नलिखित उदाहरण में --

क्वाकार्यं शशलक्ष्मण: क्व च कुलं, भूयोऽपि दृश्येत सा,
(१) (२)
दोषाणां प्रशमाय मे श्रुतमहो, कोपेऽपि कान्तं मुखम् ।
(३) (४)
किं वक्ष्यन्त्यपकल्मषा: कृतधिय:, स्वप्नेऽपि सा दुर्लभा,
(५) (६)
चेत: स्वास्थ्यमुपैहि क: खलु युवा, धन्योऽधरं पास्यति ।।
(७) (८)

उपर्युक्त श्लोक में विरोधी भावों का कथन है, परन्तु इस प्रकार है कि एक भाव द्वितीय के द्वारा बाधित हो जाता है । इसका विश्लेषण निम्न लिखित है -

१. कहां यह अकार्य कहां उज्ज्वल चंद्रवंश ।....... (वितर्क)
२. क्या वह पुन: दिखाई देगी ? .... (औत्सुक्य)
३. मैंने दोषों (कामादि) के प्रशमन हेतु शास्त्रों का श्रवण किया था ।. (मति)
४. क्रोध में भी मुख कैसा सुन्दर था । (स्मरण)
५. पुण्यात्मा मेरे इस कार्य को क्या कहेंगे ? (शंका)
६. स्वप्न में भी दुर्लभ है । (दैन्य)
७. चित्त धैर्य धर । (धृति)
८. न जाने कौन भाग्यशाली उसके अधरामृत का पान करेगा । (चिन्ता)

उपर्युक्त भावों में से वितर्क, मति, शंका, धृति, ये चार शान्त रस के संचारी भाव हैं। शेष चार शृंगार रस के। एक ही आलंबन में शान्त और शृंगार का वर्णन दोष है क्योंकि शृंगार और शान्त में नित्य विरोध है। परन्तु उपर्युक्त वर्णन में शान्त रस के संचारी का बाध शृंगार के संचारी से होता है - वितर्क का औत्सुक्य से, मति का स्मरण से, शंका का दैन्य से और धृति का चिन्ता से बाध्यत्वेन वर्णन है। इसलिए यहाँ दोष नहीं है। इस श्लोक में उर्वशी के स्वर्ग चले जाने के उपरांत राजा पुरुरवा के मन में उठते विचार संघर्ष की अभिव्यक्ति है।

२. परस्पर विरोधी रसांग भी अंगरूप में वर्णित होकर अविरोधी हो जाते हैं। स्वाभाविक अंगरूपता प्राप्ति का उदाहरण निम्नलिखित श्लोक में देखा जा सकता है -

> भ्रमिमरतिमलसहृदयतां प्रलयं मूर्च्छां तमः शरीरसादम्।
> मरणं च जलदभुजगजं प्रसह्य कुरुते विषं वियोगिनीनाम्॥[1]

(मेघरूप सर्प से उत्पन्न विष वियोगिनियों को (जलद भुजगजं विषं वियोगिनीनाम्) चक्कर, बेचैनी, मूर्च्छा, तम, शरीरसन्नता उत्पन्न कर देता है।)

उपर्युक्त श्लोक में भ्रम आदि 'व्याधि' के अनुभाव हैं। व्याधि करुण का भाव है, परन्तु ये वियोग शृंगार में भी संभव हैं, अतः यहाँ व्याधि के अनुभाव स्वाभाविक अंगरूपता को प्राप्त हो गए हैं।

समारोपित अंगरूपता का उदाहरण इस श्लोक में देखा जा सकता है-

> पाण्डुक्षामं वदनं हृदयं सरसं तवालसं च वपुः।
> आवेदयति नितान्तं क्षेत्रियरोगं सखि हृदन्तः॥[2]

---

१. ध्व०, आ० वि०, पृ.१२१

२. वही, पृ.२२३

(हे सखि ! तेरा पीला चेहरा (पाण्डुक्षामं वदनम्), सरसहृदय (सरसं हृदयम्) और तेरी अलस देह (च तव अलसं वपु:), हृदय स्थित असाध्य रोग की सूचना देते हैं (हृदन्त: दौत्रियरोगं आवेदयति))

यहां करुण रसोचित व्याधि का वर्णन है, परन्तु श्लेष से उसका आरोप विप्रलंभ शृंगार में भी कर लिया गया है। इस प्रकार का वर्णन भी दोषपूर्ण नहीं है।

३. यदि काव्य-वाक्य में प्रधान भाव कोई अन्य हो और दो परस्पर विरोधी रस उस प्रधान भाव के अंग रूप में वर्णित हों तो भी रस-विरोध नहीं होता। जैसे `क्षिप्तो हस्तावलग्न:` श्लोक में प्रधान भाव भगवान शिव के प्रभावातिशय के प्रति भक्ति है। ईर्ष्या विप्रलंभ और करुण, दोनों परस्पर विरोधी रस उस प्रधान भाव के अंग हैं। इस प्रकार से दो विरोधियों का, किसी अन्य के अंग रूप में वर्णन भी दोषपूर्ण नहीं होता।

पुन: यह ध्यातव्य है कि दो विरोधी रसों का विधि रूप में निबंधन किया जाय तो दोष होता है, अनुवादरूप निबंधन में नहीं। विधि और अनुवाद का प्रस्तुत प्रसंग में क्रमश: प्रधान तथा `गौण` अर्थ है।

रसों को वाक्यार्थरूप स्वीकार किया जाता है। जब वाच्य रूप वाक्यार्थ में विधि और अनुवादरूपता रह सकती है तो वाच्य से आक्षिप्त रस में भी विधि और अनुवादरूपता रह सकती है। अथवा जैसे किसी तीसरे प्रधान के साथ दो परस्पर विरुद्ध सहकारी मिलकर कार्य करते हैं वैसे ही दो परस्पर विरुद्ध रस किसी तीसरे प्रधान रस के अंगभूत हो सकते हैं। और विरुद्धत्व तब होता है जब एक कारण से, एक साथ, विरुद्ध परिणामों का उत्पादन हो, दो विरोधियों के सहकारित्व में विरोध नहीं है।

काव्य में उपर्युक्त तर्क ठीक है कि दो परस्पर विरोधी रस किसी तीसरे के अंग बन सकते हैं, पर नाटक में इसका अभिनय कैसे होगा ? इसका समाधान 'क्षिप्तो हस्तावलग्नः' आदि के अभिनय को समझाकर किया गया है। इस श्लोक में शिव के प्रताप को प्रकट करने में करुण रस अधिक सहायक है अतः प्रकरण से वही अधिक संबद्ध भी है। विप्रलंभ शृंगार तो उपमा के बल से आभास होता है। अतएव अभिनय करते समय करुणरस को प्रधान मानकर प्रथमतः 'साश्रुनेत्रोत्पलाभिः' तक का अभिनय करना चाहिए, फिर 'कामीवार्द्रापराधः' को जरा प्रणयकोचित अभिनय करके प्रकट करना चाहिए, फिर 'स दहतु दुरितं' को उग्र होकर शिव के प्रभाव को प्रकट करते हुए अभिनय को समाप्त करना चाहिए।

इतना ही नहीं कभी वाक्यार्थरूप करुणरस के विषय को उसी प्रकार के वाक्यार्थरूप शृंगार विषय के साथ चमत्कारपूर्ण ढंग से जोड़ देने पर वह शृंगारविषय करुण का पोषक हो जाता है - जैसे,

अयं स रसनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दनः।
नाभ्यूरुजघनस्पर्शी नीवीविस्रंसनः करः।।

(करधनी को हटानेवाला, पुष्ट स्तनों को मर्दन करने वाला, नाभि, जंघा और नितंब का स्पर्श करने वाला यह वही हाथ है)

इस प्रकार विरोधी रसों का भी निबंधन किया जा सकता है। आनंदवर्धन रसों के इस निबंधन में भी किसी परंपरा से बद्ध नहीं हैं, वे व्यवहार में जो काव्य उपलब्ध हैं, उसी के आधार पर अपनी व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। क्या भाव वर्णन के संदर्भ में दिए गए उपर्युक्त नियमों को किसी भी काल अथवा देश की कविता पर लागू नहीं किया जा सकता। ये नियम सहृदय की रस प्रतीति को ध्यान में रखकर ही कहे गए हैं।

४.३ काव्य में एक ही रस का निबंधन

यद्यपि प्रबन्ध काव्य में अनेक रसों का समावेश होता है, परन्तु प्रधानता किसी एक रस की ही होनी चाहिए। इस प्रधान रस को ही अंगी रस कहते हैं।

प्रसिद्धेऽपि प्रबन्धानां नानारसनिबन्धने।
एको रस: अंगी कर्तव्य: तेषामुत्कर्षमिच्छता।।

क्योंकि अंगीरस स्थायी रूप से समस्त प्रबंध में व्याप्त रहता है, स्थायी रूप से प्रतीत होता है अत: अन्य रसों से इस अंगी रस का विघात नहीं होता।

अंगी रस प्रबन्धकाव्य में अन्य रसों की अपेक्षा प्रथम प्रस्तुत होता है तथा पुन: पुन: उपलब्ध होता रहता है। सम्पूर्ण प्रबंध में वर्तमान अंगी रस इसीलिए किसी एक को बनाना चाहिए। जिस प्रकार प्रबन्ध काव्य में एक प्रधान कार्य होता है और अन्य कार्यव्यापार उसी एक प्रधान कार्य के पोषक होते हैं वैसे ही प्रबंध काव्य में एक प्रधान रस होना चाहिए, अन्य रस उसी के पोषण कार्य का संपादन करते हैं।

सामान्यत: रसों में परस्पर दो प्रकार का विरोध होता है - (१) साहानवस्थान विरोध, अर्थात दो रस समान स्थिति में एक साथ नहीं रह सकते। (२) द्वितीय प्रकार का बध्यघातक विरोध है, अर्थात् एक के उदय होने से दूसरे का अवसान होता हो, जैसे घातक के उदय से (प्रकट होने से) बध्य का बध होता है।

जिन रसों में प्रथम प्रकार का (सहानवस्थान) विरोध है, उनका अंगांगि भाव हो सकता है। जैसे - वीर और शृंगार, शृंगार और हास्य, रौद्र और शृंगार, रौद्र और करुण, शृंगार और अद्भुत, इन रसों का अंगांगि भाव संभव है। परन्तु शृंगार और बीभत्स, वीर और भयानक, शान्त और रौद्र में परस्पर बध्यघातक भाव विरोध है। शृंगार में आलंबन

के प्रति रति होती है, वीभत्स में आलंबन से पलायन का भाव होता है ऐसी स्थिति में वीभत्स के उदय होते ही शृंगार का नाश स्वाभाविक है ।

प्रबंधकाव्य में अंगीरस की अपेक्षा अन्य रसों के परिपोषण के विषय में आनंदवर्धन ने तीन संकेत दिए हैं --

(१) प्रधान रस की अपेक्षा अविरोधी रस का अत्यन्त आधिक्य नहीं करना चाहिए । जैसे -

एकतो रोदिति प्रिया अन्यत: समरतूर्यनिघोंष: ।
स्नेहेन रणरसेन च भटस्य दोलायितं हृदयम् ।।

एक ओर प्रिया रो रही है, दूसरी ओर युद्ध के बाजों का घोष है, स्नेह और रणरस से वीर का हृदय दोलायमान हो रहा है ।

इस श्लोक में सहानवस्थान विरोधी शृंगार और वीर का वर्णन है । दोनों का साम्य है , इसीलिए अविरोध है, अत: इस सीमातक ही दूसरे रस को परिपोषण देना चाहिए, इससे अधिक नहीं ।

(२) या तो अंगी रस के विरुद्ध व्यभिचारी भावों का निवेश ही न किया जाय, अथवा निवेश किया भी जाय तो उन्हें तुरन्त अंगी रस के व्यभिचारी भावों में परिवर्तित कर दिया जाय ।

(३) अंगभूत रस का परिपोषण करने पर भी उसकी अंगरूपता का ध्यान सदैव रखना चाहिए ।

उपर्युक्त संकेतों का सार यह है कि अंगी रस के समान अन्य रस का परिपोषण नहीं किया जाना चाहिए ।

एकाश्रय में विरोधी रसों के विरोध-परिहार की विधि

प्रधान रस और विरोधी रस यदि एकाधिकरण्य विरोधी हों, अर्थात् एक स्थान पर न रह सकते हों , जैसे वीर और भयानक, तो उन्हें भिन्न आश्रयों में कर देना चाहिए । यदि वीर और भयानक का ही प्रसंग हो तो वीर को नायक में दिखलाना चाहिए और भयानक को प्रतिनायक में । ऐसी स्थिति में दोनों ही रस परिपुष्ट हो सकते हैं ।

४.४ नैरन्तर्य विरोधी रसों के विरोध-परिहार की विधि

जब दो रस अव्यवहित रूप से पास-पास न आ सकते हों, अर्थात् एक के तत्काल बाद दूसरा न आ सकता हो तब उनमें नैरन्तर्य विरोध कहा जाता है। ऐसे दो रसों के बीच में एक अविरोधी रस का समावेश कर देना चाहिए।

४.५ शान्त रस

आनंदवर्धन शांतरस स्वीकार करते हैं। भरत ने नाट्य में आठ रसों [१] का ही परिगणन किया है। शांत रस के विषय में अनेक मत मिलते हैं। कतिपय विद्वानों का मत है कि भरत ने शान्त रस के विभावादि का प्रतिपादन नहीं किया, इसलिए शांतरस होता ही नहीं। अन्य लोगों का मत है कि काव्य में शान्त रस हो सकता है, नाटक में वह कथमपि संभव नहीं है, जो लोग 'नागानन्द' नाटक में शान्त रस मानते हैं, वह ठीक नहीं है। नागानंद का मुख्य रस 'दया वीर' है धनंजय-धनिक 'शान्त' में सभी व्यापारों का विलय मानते हुए उसे नाटक के लिए अनुपयुक्त कहते हैं।

आनंदवर्धन ने शांत रस को स्वीकार करते हुए निम्नलिखित तर्क दिए हैं --

(१) तृष्णानाश से उत्पन्न सुख स्वरूप शांत रस है।

(२) संसार के काम-सुख और अन्य अलौकिक महान् सुख संतोषजन्य सुख की सोलहवीं कला के बराबर भी नहीं है।

---

१. शृंगारहास्यकरुणा रौद्रवीरभयानका:।
वीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसा: स्मृता:।। नाट्यशास्त्र ६.१६

(३) यदि शान्त रस सर्वसाधारण के अनुभव का विषय नहीं है तो इससे यह कैसे सिद्ध होता है कि शांत रस है ही नहीं। महापुरुषों की चित्तवृत्ति विशेषरूप शांत रस का निषेध नहीं किया जा सकता।

(४) वीर रस में शांतरस का अंतर्भाव नहीं किया जा सकता। वीररस अहंकारमय रूप में स्थित होता है। शांतरस में अहंकार प्रशम की स्थिति होती है। यदि इस भेद के रहते भी वीर और शांत को एक माना जाय तो वीर और रौद्र को भी एक मानना होगा।

(५) दयावीर आदि में चित्तवृत्ति यदि अहंकारशून्य हो तो उसे शान्तरस का भेद कहा जा सकता है। यदि अहंकार है तो वह वीररस का ही भेद होगा।

(६) अत: शांत रस है[१] तथा काव्य में उसका निबंधन किया जा सकता है, यदि विरोधी रस का प्रसंग हो तो शांत और उस विरोधी रस के बीच अविरोधी रस का समावेश कर देना चाहिए। जैसे नागानन्द में शान्त और मलयवती के प्रेम विषयक शृंगार के बीच अद्भुत का समावेश किया गया है।

शांत रस के संबंध में 'अहं' की स्थिति का तर्क आनंदवर्धन ने ही दिया है। निश्चय ही आनंदवर्धन व्यवस्था पसंद करते थे। डा० नगेन्द्र ने आनंदवर्धन की इस तर्कणा को विस्मृत कर कह दिया है --'उनसे रस-संख्या में वृद्धि की आशा व्यर्थ है - उन्होंने नौ रसों की ही चर्चा की है।'[२] आनंदवर्धन संख्या नहीं, तर्क सम्मत व्यावहारिक व्यवस्था में ही विश्वास रखते थे।

---

१. तदेवमस्ति शान्तो रस:। तस्य चाविरुद्ध-रसव्यवधानेन प्रबन्धे विरोधिरससमावेशे सत्यपि निर्विरोधत्वम्। ध्व०, आ०वि०,पृ.२४०

२. रस-सिद्धान्त, डा० नगेन्द्र, पृ.२४०

रस-विरोध तथा अविरोध का इसी प्रकार निर्बंधन करना चाहिए । शृंगार के प्रसंग में कवि को विशेषत: सावधान रहने की आवश्यकता, क्योंकि शृंगार अति कोमल रस है[1] और उसमें जरा सा भी प्रमाद तुरंत प्रतीत हो जाता है । शृंगार-निर्बंधन में प्रमाद करने वाला कवि शीघ्र ही तिरस्कार का पात्र बनता है ।[2] संसार के सभी व्यक्तियों के अनुभव का विषय होने से शृंगार सौन्दर्य की दृष्टि से श्रेष्ठतम है । अत: महाकवि को रसादि को मुख्यत: काव्य का विषय बनाकर उसके अनुरूप शब्दों और अर्थों की योजना करनी चाहिए ।

४.६ आधुनिक युग में रस-सिद्धान्त की पुन: नूतन व्याख्या करके ऐसे दावे किए गए हैं कि अब वह तथाकथित नूतन व्यापक रस-सिद्धान्त कविता का सार्वभौम सिद्धान्त हो गया है । डा० राकेश गुप्त ने काव्यास्वाद का नया सिद्धान्त स्थापित कर परंपरागत रस-सिद्धान्त की सीमाएं दिखलाई । डा० नगेन्द्र ने भी रस-सिद्धान्त को संकीर्ण परिभाषा से मुक्त कर व्यापक - ऐसा जिसमें समस्त अनुभूति वैभव अथवा भावसंपदा समासके - रूप में प्रतिष्ठित करने का महत् प्रयत्न किया । डा० दीक्षित ने निष्पन्न रस के आग्रह को त्याग कर `भाव फुहार` में ही रस मान कर, रस-सिद्धान्त को सर्वत्र प्रयुक्त करने योग्य मानवीय सिद्धान्त कहा । परन्तु , जैसा पिछले अध्यायों में स्पष्ट किया गया है, रस की व्यंग्यता, अभिनव प्रतिपादित साधारणीकरण, रस, भाव, रसाभास, भावाभास का रसकोटि में परिगणन, रस-दोष, प्रबंध द्वारा रस-व्यंजना, अंगी रस, शांत रस आदि की जो भी कल्पना संस्कृत काव्य-शास्त्र में उपलब्ध है, उसका आधार `ध्वनिसिद्धान्त` में आनंदवर्धन

---

१. विरोधमविरोधं च सर्वत्रेत्थं निरुपयेत् ।
विशेषस्तु शृंगारे सुकुमारतमो हि असौ ।।

२. अवधानातिशयवान् रसे तत्रैव सत्कवि: ।
भवेत् तस्मिन् प्रमादो हि झटित्यैवोपलक्ष्यते ।। ध्व०, आ०वि०,पृ.२४१

प्रतिपादित एतद्विषयक धारणाएं हैं। अतः जिसे रस-शास्त्र कहा जा रहा है, वह आनंदवर्धन का असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य का रस-शास्त्र ही है।

आनन्दवर्धन की रस-विषयक धारणाओं के विषय में शिवप्रसाद भट्टाचार्य ने ठीक ही कहा है, --'रस स्वतंत्र अस्तित्व है अन्य काव्योपादानों का संयोजक तत्व है, स्वयंप्रकाश है, इत्यादि आनंदवर्धन के सिद्धान्त का मुख्य स्वर है जिसे उन्होंने घट-प्रदीप न्याय से स्पष्ट किया है, बाद की विचार परंपरा ने आनंदवर्धन की इस धारणा को धर्म और दार्शनिक आवरण में आवेष्ठित कर प्रस्तुत किया।'[१] ध्वनिसिद्धान्त कविता में व्यक्त मानव की संपूर्ण अनुभूति-संपदा का विवेचन करता है मानवीय भावनाएं किस-किस रूप में कविता में प्रकट हो सकती हैं, सहृदय उनको ग्रहण कर किस प्रक्रिया से आनंदित होता है, ग्रहण की प्रक्रिया क्या होती है ? आदि मौलिक समस्याओं का समाधान ध्वनिसिद्धान्त करता है। कविराज विश्वनाथ ने 'साहित्यदर्पण' में कविता की परिभाषा के प्रसंग में 'अन्य परिभाषाओं का खंडन करते हुए आनंदवर्धन के 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' का भी खंडन किया है। परन्तु, 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' काव्य की परिभाषा नहीं है। यह तो केवल यह बतलाता है कि काव्य का सार तत्व प्रतीयमान अर्थ की श्रेष्ठता है। काव्य का स्वरूप कवि - अनुभूति की प्रतीयमानता रूप है। किसी भी काव्य कही जाने वाली रचना का प्रभाव, उसमें प्रतीयमान रूप में व्यंजित भाव के अतिशय होने के कारण होता है। यह

---

१. That Rasa is an independent entity co-ordinating all other entities and that it is self illuminating is the burden of what Anandvardhan himself has tried to emphasis with the help of the maxim of the jar and the lamp....Later thought served to clothe it only in terms of riligio--philosophical content, page 47. Studies in Indian Poetics.

प्रतीयमान अर्थ अनेक प्रकार का हो सकता है। केवल वस्तु की प्रतीयमानता के ही असंख्य रूप हैं। अलंकार, कवि-कल्पना के विलास ही हैं। कल्पना का यह विलास विविध रूपों में विलसित होता है। नवरस-विभाव, अनुभाव और व्यभिचारियों के पृथक-पृथक परिगणन से सैकड़ों प्रकार के हो सकते हैं। इस प्रकार वस्तु, अलंकार और रसादि में समस्त विश्व समाहित है। अत: ध्वनिसिद्धान्त अपने वास्तविक रूप में किसी भी काल की कविता का निकष बन सकता है, इसमें संदेह नहीं है।

ध्वन्यालोक के तृतीय उद्योत में मुक्तक, मुक्तक के कुलक आदि पांच भेद, प्रबंध, नाटक आदि में रस की व्यंजना पर विचार कर आनंदवर्धन ने इस सिद्धान्त को व्यापकतम स्वरूप प्रदान किया है।

टी.एस.इलियट[१] ने काव्य में तीन प्रकार के स्वर (VOICES) माने हैं - (१) प्रथमत: कवि का वह स्वर जिसमें वह स्वयं से ही वार्तालाप करता है, वह अन्य निरपेक्ष होता है। (२) द्वितीय में कवि जन-मन को अपनी बात कहता है (३) तृतीय में कवि ऐसे नाटकीय पात्र की रचना करता है जो कविता में बात करता है, कवि इसमें स्वयं को नाटकीय पात्र की सीमाओं में ही व्यक्त करता है। प्रथम प्रकार की कविता किसी के भी साथ संप्रेषण की आकांक्षा नहीं करती, यह कवि की आत्माभिव्यक्ति से ही संबद्ध होती है। यदि गीतिकाव्य को व्यापक अर्थों में ग्रहण किया जाय तो संपूर्ण गीति काव्य इस प्रथम प्रकार में रखा जा सकता है। द्वितीय प्रकार प्रबंध काव्यों में देखने को मिलता है। समाज को संदेश देने वाली, नीति निर्देश करने वाली कविता में यही स्वर प्रमुख रहता है।

---

१. 'The first is the voice of the poet talking to himself or no body. The second is the voice of the poet addressing an audience, whether large or small. The third is the voice of the poet when he attempt to create a dramatic character speaking in verse; when he ~~attempt to create~~ is saying, not what he would say in his own person, but only what he can say within the limits of one imaginary character addressing another imaginary character-2

- Essays in Sanskrit Literary Criticism. K.Krishnamoorthy. p.275

तृतीय प्रकार काव्य-नाटक में उपलब्ध होता है। वस्तुत: काव्य-नाटक में ये सभी प्रकार अन्तर्मुक्त होते हैं, इसीलिए नाटक को काव्य की श्रेष्ठतम विधा कहा जाता रहा है (काव्येषु नाटकं रम्यम्)। कृष्णमूर्ति ने इलियट के कथन से निष्कर्ष निकालते हुए ठीक कहा है कि 'इस माध्यम से आलोचक काव्य के विभिन्न स्तरों को पहचान सकता है। यदि उसे कवि की अनुभूति के केन्द्र तक पहुंचना है तो उसे गीत, प्रबंध और नाटक में उपर्युक्त तथ्यों का ध्यान रखना होगा।

प्राचीन संस्कृत काव्यशास्त्र ने काव्य के सामाजिक और नीतिपरक रूप को इतना महत्व दिया कि केवल महाकाव्य ही काव्य का श्रेष्ठ रूप समझा जाने लगा। गीतकाव्य को उसी सीमा तक महत्व दिया गया जिस सीमा तक वह सामाजिक और नीतिपरक उद्देश्यों को पूर्ण कर सकता था। कवि का संप्रेषण से कोई मतलब नहीं है और यदि वह प्रचलित प्रयोगों से भिन्न प्रयोग करता है तो निश्चय ही आत्माभिव्यक्ति की इच्छा से प्रेरित होकर। प्राचीन काव्यशास्त्रियों ने इस मूलभूत तथ्य को विस्मृत कर, कवि के प्रयोगों को अलंकारों के नाम से विविध रूपों में वर्गीकृत करने का प्रयत्न किया।

आनंदवर्धन ने इन पारंपरिक विधानों को स्वीकार नहीं किया। कवि की अनुभूति, उसकी सृजनात्मक कल्पना (प्रतिभा) ध्वनिसिद्धान्त का मूलभूत आधार हैं। ध्वन्यालोक के चतुर्थ उद्योत में कवि-प्रतिभा के संबंध में आनंदवर्धन ने विस्तार से कहा है। इलियट प्रतिपादित द्वितीय स्वर (VOICE) प्रकार भी प्रथम के अभाव में, अर्थात् अनुभूति और सृजनात्मक कल्पना के अभाव में प्राणहीन है। प्रथम प्रकार में कवि की प्रतिभा ही सबकुछ है - इसके अभाव में कविता, शायद कविता ही न कही जा सके। कवि की अनुभूति प्रतीयमान रसादि में परिणत होती है। अत: आनंदवर्धन न् प्रबंध आदि में भी इसकी प्रामाणिकता की चर्चा कर

प्रबंधकाव्यों को परखने की नूतन दृष्टि दी है। कृष्णमूर्ति ने इलियट के वाइस को आनंदवर्धन की `ध्वनि` का समानधर्मी कहा है।[1] आनंदवर्धन ने भी ध्वनि तीन प्रकार की मानी है तथा ध्वनि के अभाव में काव्यत्व का अनस्तित्व प्रतिपादित किया है। इलियट की प्रथम वाइस (VOICE) कविता का मूल है - यह रस-ध्वनि की समानधर्मी है। मुक्तकों में यह प्रथम वाइस ही प्रभावकारी होती है। द्वितीय वाइस का विलास प्रबंध काव्यों में देखा जा सकता है। आनंदवर्धन के अनुसार मुक्तक में एक भाव अथवा रस व्यंजित होता है, महाकाव्य में अनेक भाव और अनेक रस रह सकते हैं।

अत: ध्वनि केवल रसादि से संबद्ध नहीं है - वस्तु और अलंकार, अन्य शब्दों में संप्रेषित वस्तु और संप्रेषण विधि तक ध्वनि का विस्तार है। रसादि का प्रभाव तत्क्षण होता है, जबकि अर्थशक्त्युत्द्भव में क्रम स्पष्ट रहता है। अर्थशक्त्युदभव ध्वनि के तीन प्रकार कहे गए हैं - (१) स्वत: संभवी, जो लोक में संभव है, (२) कविप्रौढोक्ति सिद्ध, जो कवि कल्पना में संभव है,(३) कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध - कवि-कल्पना निर्मित पात्र द्वारा कथित प्रौढोक्ति है।

उपर्युक्त में से प्रथम में, प्रबंध अथवा मुक्तक में वर्णित सभी लोक-संभव विषय वस्तु का समावेश हो जाता है। द्वितीय में कवि-कल्पना के सभी संभव छाया रूप आ जाते हैं। तृतीय में नाटक के पात्रों का विधान पूर्ण होता है। वस्तु और अलंकार अनेक रूपों में व्यक्त हो सकते हैं। इस प्रकार `ध्वनि` में सबका समावेश होता है - अत: पृथक से `भावफुहार` का विश्लेषण करने वाले अथवा अनुभूति संपदा को समेट लेने वाले पुराने अथवा नए रस-सिद्धान्त की आवश्यकता नहीं रह जाती।

---

१. एसेज इन संस्कृत लिटरेरी क्रिटीसिज्म , पृ.२७७

`हे` ने भारतीय काव्य शास्त्र को तैयार कविता का विश्लेषक माना है। उनके अनुसार पारंपरिक काव्यशास्त्र काव्य की सृजन-प्रक्रिया का विवेचन नहीं करता। हे की यह धारणा भ्रामक है। ध्वनि सिद्धान्त काव्यप्रक्रिया का पूर्ण विवेचन प्रस्तुत करता है, जैसा कि पूर्व पृष्ठों में स्पष्ट किया जा चुका है।

ध्वनिसिद्धान्त के रसादि रूप विषयक अंश का विवेचन किया जा चुका है। अत: संलक्ष्यक्रमव्यंग्य का स्वरूप सृजन-प्रक्रिया के संदर्भ में यहां प्रस्तुत किया जा रहा है।

४.७ संलक्ष्यक्रमव्यंग्य विवेचन

संलक्ष्यक्रम में वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ तक पहुंचने का क्रम प्रतीत होता है। सहृदय पहले वाच्यार्थ का अवगम करता है तदनन्तर वाक्यार्थीभूत प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति करता है। ध्वनि के इस प्रकार में शब्द स्वयं अपने अर्थ को और अर्थ स्वयं को व्यंग्यार्थ के लिए उपसर्जनीकृत कर देते हैं। संलक्ष्यक्रम प्रतीति में बुद्धि का व्यापार सिद्ध है। सहृदय पहले वाच्यार्थ का ज्ञान प्राप्त करता है फिर विमर्शपूर्वक व्यंग्यार्थ का ज्ञान प्राप्त करता है। इस कविता में जो आनंद आता है वह निश्चय ही शैवदर्शन के `शिव` के समकक्षी `रस` का डुबो देने वाला आनंद नहीं है - यहां तो निहित अर्थ के ज्ञान से उत्पन्न चमत्कार का आनंद ही प्राप्त होता है। उदाहरण के लिए `भ्रम धार्मिक...` आदि श्लोक का यह अनुवाद प्रस्तुत है -

पूजक निर्मय तोड़िये गोदाकुन्ज ते फूल।
हन्यौ वहीं से सिंह ने कूकुर तव भय मूल ।।

इस श्लोक में नायिका के मन्तव्य तक विमर्श पूर्वक पहुंचा जाता है। कोई मूर्ख तो सोच भी नहीं सकता कि नायिका वस्तुत: सिंह का भय दिखाकर भ्रमण निषेध कर रही है। जब नायिका के आशय का ज्ञान होता है तो सहृदय निहित अर्थ का उद्घाटन कर चमत्कृत होता है।

बिहारी के अधिकांश दोहे इसी क्रम से पाठकों को चमत्कृत करते हैं, इसीलिए वे 'गागर में सागर' कहे भी जाते हैं। जब इन दोहों के अनेक अनेक अर्थ किए जाते हैं तो आनंद निहित के उद्‌घाटन का आनंद ही होता है।

सृजन की दृष्टि से संलक्ष्यक्रम व्यंग्य में काव्यात्मक आवेग और नियंत्रण का द्वन्द्व स्पष्ट है। कवि अपनी अनुभूति को इस द्वन्द्व के कारण कलात्मक रूप देता है। कवि का कथ्य आवरण में होता है, सजेस्टेड होता है, उसतक पहुंचने में सहृदय को बुद्धि का प्रयोग करना ही होता है। अत: संलक्ष्यक्रमव्यंग्य इसी प्रकार की कविता के चमत्कार का विधान है। धर्मवीर भारती की निम्न लिखित कविता का इस दृष्टि से परीक्षण करें -

मैं रथ का टूटा पहिया हूं
लेकिन मुझे फेंको मत
क्या जाने कब
इस दुरुह चक्रव्यूह में
अक्षौहिणी सेनाओं को चुनौती देता हुआ
कोई दुस्साहसी अभिमन्यु आकर घिर जाय
बड़े बड़े महारथी
अपने पक्ष को असत्य जानते हुए भी
अकेली निहत्थी आवाज को
अपने ब्रह्मास्त्र से कुचल देना चाहें
तब मैं रथ का टूटा हुआ पहिया
उसके हाथों में रक्षा की ढाल बन सकता हूं'

इस कविता में वाच्यार्थ स्पष्ट है, परन्तु पाठक सोचता है कि आधुनिक युग में क्या भारती उसे अभिमन्यु की कथा सुनाना चाहता है? वह इस

कविता पर विचार करता है और आठवीं पंक्ति संकेत देती है --
`अपने पक्ष को असत्य जानते हुए भी, अकेली निहत्थी आवाज़ को
अपनी शक्ति से कुचल देने वाले लोग` - मानस में उभरने लगते हैं ।
सहृदय पाठक कविता में व्यक्त शोषण और - दमन - शक्तिसम्पन्न
लोगों के द्वारा व्यक्ति, निस्सहाय व्यक्ति के दमन के सत्य तक पहुंच
जाता है । यही सत्य इस कविता का प्रधान अर्थ है । कवि ने प्रतीक
के द्वारा, कलात्मकता से अपनी अनुभूति को व्यक्त किया है ।
क्योंकि यही प्रतीयमान अर्थ इस कविता की आत्मा है - इसीलिए
सामान्यत: कहा गया है --` काव्यस्यात्मा ध्वनि:` । इस कविता
में व्यक्त विचार आज जन मानस का भी अनुभूत सत्य है, सत्य को
स्वीकार वह मुक्ति का आनंद प्राप्त करता है ।

अत: यह सिद्ध होता है कि अधिकांश आधुनिक कविता का आनंद
संलक्ष्यक्रमव्यंग्य की प्रतीति से उत्पन्न चमत्कार का आनंद है । इस प्रतीति
को `बोध` भी कहा गया है । अनुभूति जहां चित की द्रुति, दीप्ति और
विस्ताररूपा होती है, बोध में बुद्धि की प्रक्रिया जाग्रत रहती है -
ज्ञान का विस्तार इसमें आवश्यक रूप से रहता है ।

आनंदवर्धन ने संलक्ष्यक्रमव्यंग्य के तीन भेद प्रतिपादित किए हैं -
(१) शब्दशक्त्युत्थ, (२) अर्थशक्त्युत्थ, (३) उभयशक्त्युत्थ ।

४.८ शब्दशक्त्युत्थ ध्वनि में शब्द से अनुक्त आक्षेप सामर्थ्य से शब्द
शक्ति द्वारा अलंकार की प्रतीति होती है --

आक्षिप्त एवालंकार: शब्दशक्त्या प्रकाशते ।
यस्मिन्ननुक्त: शब्देन शब्दशक्त्युद्भवो हि स: ।।

इसमें शब्द की शक्ति से अलंकार के आक्षेप की बात कही गई है, जहां
केवल वस्तु की प्रतीति हो वहां शब्दशक्त्युत्थ ध्वनि नहीं होगी । जहां
अभिधा से दो वस्तुएं प्रकाशित हों, वहां श्लेष अलंकार होता है । श्लेष

में वस्तुद्वय की प्रतीति वाच्य रूप में होती है और शब्दशक्त्युत्थ ध्वनि में अलंकार वाच्य रूप में प्रतीत नहीं होता, वह शब्द की शक्ति से आक्षिप्त होता है।

शब्दशक्त्युत्थ ध्वनि अनेकार्थक शब्द के प्रयोग पर निर्भर है। अनेकार्थक शब्द एकाधिक वाच्यार्थ प्रकट करता है जिसमें व्यंग्यार्थ प्राप्त किया जाता है। यदि शब्दों का क्रम बदल दिया जाय, अथवा शब्द के स्थान पर संदर्भ के अनुकूल अन्य शब्द रख दिया जाय तो एकाधिक वाच्यार्थों का आधार ही समाप्त हो जाएगा और व्यंग्यार्थ की प्रतीति भी असंभव होगी। क्योंकि इसमें शब्द का परिवर्तन संभव नहीं है, तथा शब्द ही मुख्यत: व्यंग्यार्थ के प्रति उत्तरदायी है, इसलिए इसे शब्दशक्त्युत्थ कहा जाता है। इसमें व्यंग्यार्थ शब्द की एकाधिक अर्थ प्रकट कर सकने की सामर्थ्य पर निर्भर है। और व्यंग्यार्थ की प्रतीति में शब्द के दोनों वाच्यार्थों का सहकारित्व भी है।

पुन: शब्दशक्त्युत्थ में प्रतीत होने वाला व्यंग्यार्थ प्राकरणिक नहीं होता। सहृदय प्राकरणिक और अप्राकरणिक अर्थ में संबंध ढूंढता है। यह संबंध वाच्यतया कथित नहीं होता - प्रतीयमान होता है। जब प्राकरणिक और अप्राकरणिक में सादृश्य संबंध प्रतीयमान होता है तो उपमा अलंकार व्यंग्य कहा जाता है, जब तद्रूप संबंध होता है तो रूपक व्यंग्य होता है। इस प्रकार शब्दशक्ति उत्थित ध्वनि में अलंकार व्यंग्य होता है।

यदि प्रतीयमान अलंकार किसी शब्द द्वारा उक्त हो जाता है तब वह शब्दशक्त्युत्थ ध्वनि का उदाहरण नहीं कहा जा सकता। मम्मट आदि परवर्ती आचार्यों ने शब्दशक्त्युत्थ में वस्तु का भी समावेश कर लिया है। शब्द की शक्ति से आक्षिप्त अलंकार (शब्दशक्त्युत्थ) का एक उदाहरण यहाँ दिया जा रहा है --

जाको कर सब दिसन में सोम लहै द्विजराज ।

रहै विष्णु यह में सुरुचि सुबहादुर महाराज ।।

यहां प्राकरणिक अर्थ बहादुर सिंह महाराज की प्रशंसा है, परन्तु, `कर` `द्विजराज` आदि द्वयर्थक पदों से सूर्यविषयक अप्राकरणिक अर्थ भी व्यक्त होता है । राजा और सूर्य विषयक अर्थों में उपमानोपमेय भाव है । यह उपमानोपमेय भाव प्रतीयमानत: ही प्रतीत होता है अत: यह शब्दशक्त्युत्थ ध्वनि का उदाहरण है । ऐसे सभी उदाहरणों में कवि की सहृदय को चमत्कृत करने की प्रवृत्ति रहती है । इस प्रकार का साहित्य प्रभूत मात्रा में मिलता है, उस सबका समावेश इस कोटि में हो जाएगा ।

शब्दशक्तिमूला के उदाहरण

अत्रान्तरेकुसुमसमययुगमुपसंहरन्नजृम्भत ग्रीष्माभिधान: फुल्लमल्लिका -धवलाट्टहासो महाकाल:

उपर्युक्त उदाहरण के दो अंश हैं (१) विशेष्य अंश - महाकाल: और विशेषण अंश - `कुसुमसमय....आदि` । महाकाल का तात्पर्य ग्रीष्म है, परन्तु इसका तात्पर्य शिव भी हो सकता है । इसीप्रकार विशेषण भाग के भी दो अर्थ हैं जो महाकाल ग्रीष्म और शिव के साथ संगत हैं । `येन ध्वस्त मनोभवं... ` आदि श्लोक में भी माधव और उमाधव दो अर्थ हैं । यहां सभी शब्द द्वयर्थक हैं और स्वतन्त्र रूप से दो अर्थ निष्पन्न हो सकते हैं । अब श्लेष और शब्दशक्तिमूला ध्वनि में भेद दिखलाया जा सकता है । श्लेष में दोनों अर्थ प्राकरणिक होते हैं । `येन ध्वस्त....` आदि श्लोक मंगलाचरण श्लोक है अत: विष्णु और शिव दोनों के लिए प्रयुक्त हो सकता है । परन्तु `अत्रान्तरे.....` आदि उदाहरण में ग्रीष्म का वर्णन ही अभिप्रेत है, शिव से संबद्ध अर्थ

प्राकरणिक नहीं है। श्लेष में द्वयर्थक शब्दों के दोनों अर्थों को स्वीकार कर लिया जाता है पर शब्दशक्तिमूला में प्राकरणिक और अप्राकरणिक अर्थ में एक संबंध की अपेक्षा प्रतीत होती है। इस प्रकार शब्द शक्तिमूला में अलंकार प्रतीयमान होता है। उपर्युक्त उदाहरण में प्रकरणादि से अभिधा के नियन्त्रित हो जाने से द्वितीय बार पद की उपस्थिति अभिधा से न होकर ध्वनन व्यापार से होती है।

यदि अलंकार किसी शब्द द्वारा अभिहित हो जाय तो वहां शब्दशक्त्युद्भव अनुरणन रूप ध्वनि का व्यपदेश नहीं किया जा सकता।[१] निम्नलिखित उदाहरण का परीक्षण करें -

दृष्ट्या केशव गोपरागहृतया किंचिन्न दृष्टं मया,
तेनैव स्खलितास्मि नाथ पतितां किन्नाम नालम्बसे।
एकस्त्वं विषमेषु खिन्नमनसां सर्वाबलानां गति-
र्गोप्यैवं गदितः सलेशमवताद् गोष्ठे हरिर्वश्चिरम्॥[२]

यह किसी गोपी का कथन है, वह गोशाला में कृष्ण से द्वयर्थक शब्दों के प्रयोग द्वारा अपनी वेदना प्रकट कर रही है - 'हे कृष्ण गायों के खुरों से उड़ाई गई धूल से अन्धी सी हो गई हूं, मुझे कुछ दिखलाई नहीं पड़ा इसीलिए मेरे द्वारा कुछ देखा नहीं गया, इस लिए मुझ गिरी हुई को हे नाथ। क्यों नहीं आश्रय देते हैं, विषम मार्ग में गिरे हुए निर्बलों का एकमात्र सहारा आप ही हैं। गायों के गोशाल में इस प्रकार गोपी द्वारा सलेश कहे गए हरि आपकी रक्षा करें।'

---

१. स चाक्षिप्तोऽलंकारो यत्र पुनः शब्दान्तरेणाभिहितस्वरूपस्तत्र न शब्दशक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यंग्यध्वनिव्यवहारः। तत्र वक्रोक्त्यादि-वाच्यालंकार व्यवहार एव। - ध्वन्यालोक : पृ.२४०

२. ध्वन्यालोकः, आ० वि०, पृ.१२४

यदि इस श्लोक में `सलेशं` पद न होता तो `केशव गोप रागहृतया` पतितां आदि पद एक अर्थ का बोधन करते , पर सलेशं ने उनके एक अर्थ में नियमित होने को कुण्ठित कर दिया, परिणामत: दोनों अर्थ वाच्यत: द्योतित होते हैं - अत: यहां ध्वनि का अवसर नहीं है ।

शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि का एक और उदाहरण :-

उन्नत: प्रोल्लसद्धार: कालागुरुमलीमस: ।

पयोधरभरस्तन्व्या: कं न चक्रेऽभिलाषिणम् ।।[१]

(काले अगर के समान कृष्ण वर्ण (कालागुरुमलीमस:), विद्युत-धार अथवा जलधार से सुशोभित (प्रोल्लसत् धार:), उमड़ते हुए (उन्नत:) मेघ (पयोधरभर:) ने किस को (कम्) तन्वी का (तन्व्या:) अभिलाषी नहीं बनाया ।)

(खूब उठे हुए (उन्नत:), हार से उल्लसित (प्रोल्लसद्धार:) काले अगर के लेप से श्याम बने तन्वी के पयोधर किस को उनकी प्राप्ति के लिए अभिलाषी नहीं बनाते ।)

यहां वर्षा विषयक अर्थ प्राकरणिक है और तन्वी विषयक अप्राकरणिक इन दोनों अर्थों में सादृश्य प्रतीयमान है जो ध्वनन व्यापार से व्यक्त होता है । तब दोनों अर्थों का संबंध इस प्रकार स्थापित होगा -` काले अगर के लेप से श्याम वर्ण उन्नत स्तनों के समान मेघ किसको तन्वी का अभिलाषी नहीं बनाता । यह शब्दशक्तिमूला ध्वनि का विषय है ।

उपर्युक्त दोनों उदाहरणों में शब्दशक्ति से अप्राकरणिक दूसरा अर्थ प्रकाशित होता है । प्राकरणिक और अप्राकरणिक दोनों अर्थों के कारण वाक्य में असंबद्धार्थबोधकता न हो इसलिए प्राकरणिक और अप्राकरणिक अर्थों में उपमानोपमेय भाव कल्पित किया जाता है ।[२]

---

१. ध्वन्यालोक:, आ० वि०, पृ.१२५

२. `एषु उदाहरणेषु शब्दशक्त्या प्रकाशमाने सति अप्राकरणिके अर्थान्तरे, वाक्यस्यासम्बद्धार्थाभिधायित्वं मा प्रसांक्षीदित्यप्राकरणिक प्राकरणिकार्थयोरुपमानोपमेयभाव: कल्पयितव्य:` . पृ.१२७,आ०वि०

शब्दशक्तिमूल अनुस्वानसन्निभ ध्वनि में अन्य अलंकार भी संभव हैं। शब्दशक्तिमूल संलक्ष्यक्रम व्यंग्य विरोध के भी उदाहरण मिलते हैं। अपने कथन के प्रमाणस्वरूप आलोककार ने हर्षचरित के थानेश्वर नगर-वर्णन के प्रसंग का अंश दिया है --

`यत्र च मातंगगामिन्य: शीलवत्यश्च, गौर्यो विभवरताश्च, श्यामा पद्मरागिण्यश्च, धवलद्विजशुचिवदना मदिरामोदश्वसनाश्च प्रमदा: ।`

इस उदाहरण में दो - दो पदों के युग्म हैं, जिनमें से एक द्विअर्थक है। एक अर्थ से विरोध प्रतीत होता है दूसरे से नहीं। जैसे मातंगगामिन्य: शीलवत्यश्च` मातंग का अर्थ चाण्डाल भी है और हाथी भी। चांडाल-गामिनी, शीलवती कैसे हो सकती है ? परन्तु मातंग का अर्थ हाथी करने से गजगामिनि अर्थ होगा तब विरोध नहीं रहेगा।

मम्मट ने इस भेद को स्पष्ट किया है। शब्दशक्तिमूला में विशेष्य भी द्वयर्थक शब्द द्वारा व्यक्त किया जाता है जैसे `अत्रान्तरे...` आदि उदाहरण में `शिव` `महाकाल` का ही दूसरा अर्थ है। परन्तु समासोक्ति में केवल विशेषण भाग ही द्वयर्थक होता है। जैसे `उपोढरागेण विलोलतारकं` आदि उदाहरण में `निशा` और `शशि` के दो अर्थ नहीं हैं केवल विशेषण भाग के हैं।

शब्दशक्तिमूला में आनंदवर्धन के अनुसार केवल अलंकार ही प्रतीयमान होता है। प्रतिहारेन्दुराज[1] भी शब्दशक्तिमूला में केवल अलंकार ही प्रतीयमान मानते हैं। कालान्तर में मम्मट,[2] विश्वनाथ[3] और जगन्नाथ[4] ने शब्दशक्त्युद्भव में वस्तु को भी स्वीकार किया है। काव्य के उदाहरणों

---

१. तत्र वाचकशक्त्याश्रया अयमलंकारानामेव व्यंग्यत्वात् एकप्रकारम्। तत्र हि अलंकारा एव व्यंज्यन्त न तु वस्तुमात्रम् नापि रसादय:
-काव्यालंकारसारसंग्रह

२. काव्यप्रकाश:, आ० वि०, पृ.१४६

३. साहित्यदर्पण: , चौखंबा शशिकला व्याख्या, पृ.२८६

४. काव्यप्रकाश:, पंचम उल्लास, पृ.२१८

को देखते हुए यह ठीक भी लगता है कि प्रतीयमान वस्तु को भी शब्दशक्त्युद्भव के अंतर्गत रखा जाय। मम्मट और विश्वनाथ ने शब्द-शक्त्युत्थ के वस्तु मात्र भेद का निम्नलिखित उदाहरण दिया है -

पथिक नात्र स्रस्तरमस्ति मनाक् प्रस्तरस्थले ग्रामे।
उन्नत पयोधरं प्रेक्ष्य यदि वससि तद् वस्।।

मम्मट ने इसमें `यदि उपभोग काम है तो ठहर` अर्थ को प्रतीयमान माना है। `उन्नत पयोधर` की श्लिष्टता के कारण ही इसमें प्रतीयमान अर्थ संभव हुआ है। शब्द की शक्ति के कारण होने से इस उदाहरण को शब्दशक्त्युद्भव के अंतर्गत रखना होगा।

४.१० शब्दशक्तिमूला ध्वनि और अभिधाविमर्श :-

`अत्रान्तरे.....` आदि उदाहरण में तीन अर्थ हैं। प्राकरणिक ग्रीष्म विषयक, अप्राकरणिक शिव विषयक और प्रतीयमान अलंकार विषयक। ग्रीष्मपरक अर्थ अभिधेय ही है, अलंकार प्रतीयमान है अत: व्यंग्य है। किन्तु `शिव परक` अर्थ के विषय में मत भेद हैं। यह अर्थ अभिधागम्य है या व्यंजनालब्ध इस संबंध में आचार्यों में एक मत नहीं है। मम्मट और विश्वनाथ के अनुसार यह अप्राकरणिक अर्थ भी व्यंग्य है। मम्मटादि का तर्क यह है कि अनेकार्थक शब्द के एक अर्थ बोधन में अभिधा के नियंत्रित हो जाने पर अभिधा से ही अन्य अर्थ की प्रतीति नहीं हो सकती। क्योंकि `शब्दबुद्धिकर्माणां विरम्य व्यापाराभावा:` सूत्र यही कहता है।

परन्तु, आनंदवर्धन प्राकरणिक और अप्राकरणिक दोनों अर्थों की प्रतीति अभिधा से मानते हैं।[१] `शब्द बुद्धिकर्माणाम्.... ।`

---

१. ध्वन्यालोक: आ.वि., पृ.२४४

आदि सूत्र का संदर्भ अभिनव के लोचन में दिया है। यह संभव है कि मम्मट और विश्वनाथ आदि को यह तर्क-प्रेरणा यहीं से मिली हो ? आनंदवर्धन और अभिनव के बीच अनेक आचार्य हुए होंगे, अभिनव ने लोचन में उनके मत दिए हैं। स्वयं अभिनव का स्पष्ट मत है कि केवल प्राकरणिक अर्थ ही अभिधेय है और इसी अर्थ में अभिधा के विरमित हो जाने से अन्य अर्थ की प्रतीति व्यंजनागम्य अर्थात् व्यंग्य ही माननी होगी (लोचन पृ.२४९)

आनंदवर्धन प्राकरणिक-अप्राकरणिक दोनों अर्थों को अभिधेय और केवल अलंकार को व्यंग्य मानते हैं - यह निम्नलिखित पंक्तियों से भी प्रकट होता है - पदप्रकाश शब्दशक्तिमूला ध्वनि के प्रसंग में आनंदवर्धन ने लिखा है --

'पदप्रकाशशब्दशक्तिमूलानुरणनरूपव्यंग्येऽपि ध्वनौ विशेषणपदस्यो--भयार्थसम्बन्धयोग्यस्य योजकं पदमन्तरेण योजनमशाब्दमप्यर्थादवस्थि--तमित्यत्रापि पूर्ववदभिधेयतत्सामर्थ्याक्षिप्तालंकारमात्रप्रतीत्यो: सुस्थि--तमेव पौर्वापर्यम्। (४१०-४११)

४.११ महिमभट्ट और शब्दशक्तिमूल ध्वनि :-

महिमभट्ट ने शब्दशक्तिमूला को श्लेष के समकक्ष ही रखा है। अप्राकरणिक अर्थ को महिमभट्ट अभिधेय नहीं मानते। उनके अनुसार सही अर्थ में कोई भी शब्द अनेकार्थक नहीं हो सकता अत: अभिधा से दो अर्थों की प्रतीति का अवसर ही नहीं है। ऐसी स्थिति में अप्राकरणिक अर्थ की अभिधाजन्य प्रतीति का प्रश्न ही नहीं उठता। महिमभट्ट के मतानुसार जैसे एक दीपक दो वस्तुओं को प्रकाशित करता है वैसे एक शब्द एक ही समय में दो अर्थों को प्रकाशित नहीं कर सकता। प्रकरण की अपेक्षा के अनुकूल शब्द एक ही अर्थ देगा। तन्त्र अथवा प्रसंग के अनुकूल दीपक फिर भी दो वस्तुओं को प्रकाशित कर सकता है पर शब्द प्रमाता के परामर्श के अभाव

में अन्य अर्थ व्यक्त नहीं कर सकता ।

इस प्रकार जब भी अन्य अर्थ की प्रतीति होगी हेतु पूर्वक होगी । और तब उसका अनुमान में अंतर्भाव होगा । इसलिए अर्थान्तर की प्रतीति में शब्द की अनेकार्थता को कारण मानना असंगत है, शब्द की अतिरिक्त शक्ति मानना भी निरर्थक है । जब वाच्य से भिन्न प्रतीति होती ही नहीं तब अप्रस्तुत अर्थ की कल्पनामात्र से उनके उपमानोपमेयभाव का कथन निराधार है ।

> केवलमन्यतस्तत्प्रतिभोद्भेदाभ्युपगमेऽनुमानान्तर्भाव: स्फुट एवतस्यैव लिंगतापत्तेरिति शब्दस्यानेकार्थतावगममात्रमूला यमथापि कवीनाम-र्थान्तरप्रतीतिभ्रम इति व्यर्थ: शब्दशक्तिपरिकल्पनप्रयास: एवं वास्य...... निर्मूलमेवेत्यवगन्तव्यम्[1]

श्लिष्ट शब्द अन्य अर्थ तभी देगा जब पर्याप्त रूप में कोई लिंग हो । यदि महिमभट्ट की उपर्युक्त तर्कणा को स्वीकार किया जाय तो अप्राकरणिक अर्थ अनुमानजन्य होगा । 'भिन्न विशेषणत्वानुमेय एवासौ न शब्दशक्ति-मूल:'[2] जहां अनेक अर्थ वाले शब्द से एकाधिक अर्थ की प्रतीति होती भी है वहां दोनों अर्थों का कारण एक ही शब्द को मानना उचित नहीं है क्योंकि दोनों अर्थों को यदि एक ही शब्द से निष्पन्न माना गया तो यह प्रश्न स्वाभाविक है कि इन दोनों अर्थों में से प्रथमत: कौनसा अर्थ प्रतीत हुआ । वैयाकरणों के अनुसार भी प्रत्येक अर्थ के लिए पृथक शब्द होता है । दो अर्थों के लिए दो पृथक शब्द स्पष्ट हेतु रूप में होने चाहिए । अत: दो अर्थों के लिए या तो शब्द को दो बार उच्चारण किया जाय। अथवा उसे भिन्न प्रसंगों से संबद्ध किया जाय । इस प्रकार महिमभट्ट

---

१. व्य० वि०, डॉ. द्विवेदी, पृ.१७६

२. व्यक्तिविवेक ।।, रे० प्र०, पृ.४२२-४२३

का मत है कि अप्राकरणिक अर्थ शब्द की मूलभूत प्रकृति के कारण उपलब्ध नहीं होता वरन् अतिरिक्त संदर्भों के कारण होता है अत: उसे अनुमेय ही मानना होगा ।[१] `अत्रान्तरे.....` इत्यादि उदाहरण में महिम भट्ट उपमालंकार को प्रतीयमान नहीं मानते । वे शिव विषयक भाव को अनुमान लब्ध मानते हैं तथा इस अर्थ का हेतु `अट्टहास` और `युगसंहार` आदि पदों को मानते हैं । अत: `अत्रान्तरे` में शिव विषयक अर्थ `महाकाल` पद की पुनरावृत्ति से उपलब्ध होता है । `फुल्लमल्लिका-धवलअट्टहास` में अनेकार्थकता नहीं है वरन् ग्रीष्म और शिव के साथ उन्हें भिन्न शब्द ही मानना होगा । ग्रीष्म के संदर्भ में `फुल्लमल्लिका एव धवलअट्टहास` होगा । शिव के संदर्भ में `फुल्लमल्लिकाइव अट्टहास:` मात्र होगा ।

`अत्रान्तरे....` इत्यादि उदाहरण में महाकाल नामक देवता विषयक प्रतीति साध्य है । अट्टहास संबंध और युग-संहार को इस साध्य (कार्य) के प्रति हेतु मानना होगा । इस शास्त्र सम्मत कार्य-कारण भाव रूप हेतु और व्याप्ति से , समासोक्ति के क्रम से अप्राकरणिक अर्थ की सिद्धि होती है अत: महाकाल शब्द की दो अर्थों में अभिधा नहीं मानी जा सकती ।

`इत्यत्राप्राकरणिकमहाकालाख्यदेवताविशेषविषयाप्रतीतिस्साध्या । तस्याश्चाट्टहाससम्बन्धो युगसंहारव्यापारश्चेत्युभयं साधनं तस्य कार्यत्वात् । कार्यकारणभावावसायश्चानयोरागमप्रमाणमूल इति तत एव समासोक्तिक्रमे-णाप्राकरणिकार्थान्तरप्रतीतिसिद्धि: न तूभयार्थवृत्तेर्महाकालशब्दस्य सा शक्तिरित्येतदुक्तं वक्ष्यते च ।`[२]

---

१. व्य० वि० , पृ.४१८-४१६

२. व्यक्ति वि०, डा० द्विवेदी, पृ.४७८

परन्तु महिम के इस विवेचन की सार्थकता भी 'महाकाल' पद के दो अर्थ जानने में है अत: 'महाकाल' को द्वयर्थक मानना ही होगा । महिम इस मूल तथ्य को अस्वीकारते हैं जो तर्क सम्मत नहीं हैं ।

महिम ने वैयाकरणों के 'अर्थभेदे शब्दभेद' सूत्र को यथावत् स्वीकार किया है । आनंद इसे न मानते हों ऐसा नहीं है । वैयाकरण शब्द की अनेकार्थकता को स्वीकार करते हैं, भर्तृहरी ने 'संयोग... वियोग । आदि सूत्र द्वारा इसी का प्रतिपादन किया है । नागेश ने भी परमलघुमंजूषा में अनेकार्थकता को स्वीकार किया है । समानरूप के रहते विभिन्न अर्थ देने वाले शब्दों को ही अनेकार्थक कहा गया है । पतंजलि का भी यही मत रहा है ।

इस प्रकार श्लेष में अनेकार्थक शब्द की पुनरावृत्ति होती है । इस पुनरावृत्ति के कारण विभिन्न संरचनाओं में प्रयुक्त शब्द भिन्न अर्थ देता है (कम से कम मानस में यह संरचना भेद रहता ही) अत: अभिधा से इन अर्थों की प्रतीति मानने में कोई असंगतता नहीं है । पुनरावर्तन के कारण वे दो शब्द होते हैं अत: दोनों में दो बार अभिधा मानने में असंगति नहीं है । पतंजलि ने इसे ही 'यत्न' कहा है । इसी प्रकार आनंद के भी अप्राकरणिक अर्थ को अभिधेय माना है । अर्थ में शब्द भेद के सिद्धान्त को उद्भट ने भी स्वीकारा है । संभव है आनंद ने भी इसे वहीं से ग्रहण किया हो ? महिम के अनुसार पुनरावर्तन का निर्धारण अन्य तथ्यों से होता है इसलिए द्वितीय अर्थ अनुमेय है । महिम भट्ट की इस मान्यता के विपरीत कहा जा सकता है कि जिसे वे अभिधेयार्थ कहते हैं वह भी संयोग वियोगादि से निर्धारित होता है तब उसे भी अनुमेयार्थ क्यों न मानें ? यदि उसे अनुमेय न मानकर अभिधेयार्थ कहा जाता है तो द्वितीय अर्थ को भी अभिधेयार्थ मानने में कोई हानि नहीं है । अत: आनंदवर्धन द्वारा प्राकरणिक-अप्राकरणिक दोनों अर्थों को अभिधेय मानने में कोई असंगति प्रतीत नहीं होती ।

वृत्तिवार्तिक में अप्पयदीक्षित ने शब्दशक्तिमूला के अप्राकरणिक अर्थ को अभिधेय ही माना है। अप्पय के अनुसार प्राकरणिक की प्रतीति तो संदर्भ के कारण होती है और अप्राकरणिक अर्थ शब्दों के अन्य अर्थों के सह-अस्तित्व के कारण व्यक्त होता है (शब्दस्यन्यस्यसन्निधि:)। श्लेष मेंदोनों के प्राकरणिक होने के कारण दोनो अर्थों का भेद प्रकरण नहीं बतला सकता। वस्तुत: श्लेष के दोनों अर्थों का भेद 'शब्दस्यान्यस्य-सन्निधि:' के कारण होता है। शब्दशक्त्युद्भव में प्राकरणिक अर्थ मानस में प्रथमत: उद्बुद्ध होता है। परन्तु इस से अप्राकरणिक अर्थ की अभिव्यक्ति में अभिधा का निषेध नहीं समझना चाहिए। श्लेष में भी दोनों अर्थ एक साथ उद्बुद्ध नहीं होते।

शब्दशक्त्युद्भव और अनुमान

आनंदवर्धन ने 'कल्पयितव्य:' कहा है। 'कल्पना' का अर्थ अनुमान भी है। मीमांसा में कल्पना का अर्थ अर्थापत्ति भी है। आनंदवर्धन की शब्दशक्त्युद्भव में प्रतीयमान अर्थ तक पहुंचने की प्रक्रिया श्रुतार्थापत्ति कही जा सकती है। नैयायिक अर्थापत्ति का अंतर्भाव अनुमान में करते हैं। तब क्या अनुमान भी शब्दशक्तिमूला में संदर्भ्य है ? इस प्रसंग में मम्मट और विश्वनाथ ने भी 'कल्पनीया:' पद-प्रयोग किया है।

४.१२ अर्थशक्त्युद्भव

अर्थशक्त्युद्भव में अपरिवर्तनीय शब्दों की अपेक्षा नहीं होती, वाच्यार्थ ही प्रतीयमान वस्तु को व्यक्त करने में सक्षम होता है। इस प्रतीयमान अर्थ का वाचक कोई शब्द नहीं होता। वाच्यार्थ अपने तात्पर्य के रूप में प्रतीयमान अर्थ को व्यक्त करता है।[१] अभिनव ने

१. अर्थशक्त्युद्भवस्त्वन्यो यत्रार्थ: स प्रकाशते।
यस्तात्पर्येण वस्त्वन्यद् व्यनक्त्युक्तिं विना स्वत:।। २।२२

'स्वतस्तात्पर्येण इति' की व्याख्यामें लिखा है कि इस पद के द्वारा आनंदवर्धन अभिधाव्यापार का निराकरण करना चाहते हैं। आनंदवर्धन का मन्तव्य ध्वनन व्यापार से, तात्पर्य शक्ति से नहीं। यहां तात्पर्य का अर्थ है कि कवि का मन्तव्य वाच्यार्थ पर नहीं रहता वरन् उस वाच्यार्थ का अन्तर्निहित मन्तव्य वह प्रतीयमान अर्थ ही होता है। आनंदवर्धन ने जो उदाहरण दिया है, उससे यह तथ्य और भी स्पष्ट हो जाता है -

एवं वादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी।
लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती।।

(देवर्षि के ऐसा कहने पर पिता के पार्श्व में नीचा मुख किए खड़ी पार्वती क्रीड़ा - कमल की पंखुड़ियों को गिनने लगी।)

इस वाच्यार्थ का तात्पर्य पार्वती की लज्जा रूप अर्थ को व्यक्त करना है। कवि का मन्तव्य, कमलपुष्प के पत्रों की गणना का वर्णन करना नहीं है। इस वर्णन का तात्पर्य लज्जा की अभिव्यक्ति में है। 'स्वतात्पर्येण' का यही अर्थ है। आनंदवर्धन ने स्वयं लिखा है -
'अत्र हि लीलाकमलपत्रगणनमुपसर्जनीकृतस्वरूपं शब्दव्यापारं विनैवार्थान्तरं व्यभिचारिभावलक्षणं प्रकाशयति।'[1]

इस उदाहरण को आनंदवर्धन ने केवल अलक्ष्यक्रम व्यंग्य का ही विषय नहीं माना। क्योंकि जहां साक्षात् शब्द से वर्णित विभाव, अनुभाव और व्यभिचारि भावों से रसादि की प्रतीति होती है वहीं केवल असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि का अवसर होता है। उपर्युक्त उदाहरण में व्यभिचारि भाव का चर्वण करते हैं तो रसानुभव होता है। यहां गणना रूप वाच्यार्थ और प्रतीयमान व्यभिचारि भाव में तो क्रम है, पर प्रतीयमान लज्जा के उपरांत रस की प्रतीति में क्रम नहीं रहता। अभिनव

---

१. ध्व०, पृ.२४८

ने यही स्थिति स्वीकारी है --`रसस्त्वत्रापि द्रुत एव व्यभिचारिस्वरूपे पर्यालोच्यमाने भातीति तदापेक्षायाप्रलक्ष्यक्रमत्वेव लज्जापेक्षाया तु तत्र लक्ष्यक्रमत्वम्`[१]

यहां एक शंका होती है जहां कोई व्यभिचारि भाव मुख्यता प्रतीयमान होता है वहां भाव ध्वनि होती है। और भाव ध्वनि को आनंदवर्धन ने असंलक्ष्यक्रम के अंतर्गत स्वयं रखा है तब प्रतीयमान व्यभिचारि भाव के उपर्युक्त उदाहरण को संलक्ष्यक्रम के अंतर्गत रखने का क्या तात्पर्य है ? मुकुन्द माधवशर्मा ने व्यभिचारि की द्विविध प्रतीयमानता पर एक अच्छा संकेत दिया है कि असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि का भाव ऐसी अनुभूति है जो पात्र और सहृदय दोनों के द्वारा अनुभव की जाती है। इससे भिन्न संलक्ष्यक्रम में प्रतीयमान व्यभिचारि भाव केवल सूचना ही रहता है। उपर्युक्त उद्धरण का परीक्षण करने पर यह स्थिति स्पष्ट की जा सकती है। `एवं वादिनि देवर्षौ` आदि उदाहरण में सहृदय लज्जा व्यभिचारि का अनुभव नहीं करता, यह पात्र की मन: स्थिति की सूचना ग्रहण करता है। अधिक से अधिक कवि की कथनशैली से पार्वती की लज्जा का अवगम कर चमत्कृत होता है। इस प्रसंग को अभिनव ने लोचन में स्पष्ट किया है -

`साक्षात् शब्द से निवेदित (साक्षाच्छब्द निवेदितत्वं) अपने विभावादि के बल से (स्वविभावादिबलातत्र) व्यभिचारिभावों (व्यभिचारिणां) जहां अलक्ष्यक्रमतया (यत्रालक्ष्यक्रमतया) बिना किसी बाधा के (व्यवधिबन्धेव) प्रतीति होती है वहां (प्रतिपत्ति:) और आनंदवर्धन के उपर्युक्त कथन में पूर्वापर विरोध न नहीं है (न पूर्वापरविरोध:)। पहले कहा गया है (पूर्वं हि उक्तम्) कि व्यभिचारियों की भी (व्यभिचारिणामपि) भाव होने से (भावत्वात्), स्वशब्द से (स्वशब्दै:) प्रतीति नहीं होती (न प्रतिपत्ति:) इसका समाधान यह है कि यद्यपि

रसभावादि रूप अर्थ कदापि वाच्य नहीं होते फिर भी वे सब सदा असंलक्ष्यक्रम के ही विषय नहीं होते (तथापि न सर्वोऽलक्ष्यक्रमस्य विषय:)। जहां स्थायिगत पूर्ण व्यभिचारियों से, विभावादि से तुरंत रसाभिव्यक्ति होती है (यत्र हि विभावानुभावेभ्य: स्थायिगतेभ्यो व्यभिचारिगतेभ्यश्च पूर्णेभ्यो झटित्येव रसव्यक्ति:) वही असंलक्ष्यक्रम होता है (तत्र तु असंलक्ष्यक्रम:)। यहां तो पद्मपत्रगणना, अधोमुख होना (इह तु पद्मदलगणनमधोमुखत्वं), कुमारियों में अन्य कारण से भी संभव है (कुमारीणां चान्यथापि सम्भाव्यत इति) अत: हृदय तत्काल लज्जा में विश्रमित नहीं होता (हृदयं न झटिति लज्जायां विश्रमयति।) वरन तपश्चर्या आदि पूर्ववृतांत का स्मरण करने से (अपि तु प्राग्वृततपश्चर्यादिवृत्तान्तानुस्मरणेन) उसकी प्रतीति क्रमपूर्वक ही करता है (तत्र प्रतिपत्तिं करोतीति क्रमव्यंग्यतैव।) व्यभिचारिरूप के पर्यालोचन से (व्यभिचारिस्वरूपे पर्यालोच्यमाने) रस तो यहां भी उसकी अपेक्षा असंलक्ष्यक्रम से ही व्यक्त होता है (रस: तु अत्रापि दूरत एव तदपेक्षाया लक्ष्यक्रमतैव भातीति।), लज्जा की अपेक्षा से यहां लक्ष्यक्रम है ही (लज्जापेक्षाया तु तत्र लक्ष्यक्रमत्वम्) यही भाव 'केवल' शब्द से सूचित होता है (अमुमेव भावमेवशब्द: केवलशब्दश्च सूचयति)।[1]

इसका स्पष्ट अर्थ है कि यद्यपि सर्वत्र रसभावादि असंलक्ष्यक्रम रूप में प्रतीयमान होते हैं तब भी कुछ स्थितियां ऐसी होती हैं जहां कुछ व्यभिचारिभाव संलक्ष्यक्रमतया व्यक्त होकर किसी सूचना को प्रकट करें। इस स्थिति में हृदय लज्जादि व्यभिचारि भाव में तत्काल विश्रान्त नहीं होता। हृदय असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य की भांति तत्काल लज्जा में मग्न नहीं होता। वहां लज्जा के एक वस्तु के रूप में व्यक्त होती है, भावक इस पर विचार करता है, मग्न नहीं होता।

---

१. ध्वन्यालोक:, बालप्रिया टीका, पृष्ठ २४६-२५१

आनंदवर्धन भी यह नहीं कहते कि व्यभिचारिभाव यहां प्रतीयमान है, वे यही कहते हैं कि पद्मपत्रगणनारूप अर्थ अन्य व्यभिचारिरूप अर्थ को प्रकट करता है। आनंदवर्धन की अर्थशक्त्युत्थ ध्वनि विषयक कारिका स्पष्टत: कहती है कि इस प्रकार में अन्यअर्थ प्रतीयमान होता है- 'वस्त्वन्यत् व्यनक्ति'। यह व्यंजित वस्तु अलंकार रूप भी हो सकती है जैसा कि अर्थशक्त्युद्भव के भेदों में कहा ही गया है।

अभिनव ने इसी तथ्य को २।२ कारिका की व्याख्या में भी स्पष्ट किया है। जो रसादिरूप अर्थ है, वह अक्रम (यो रसादिरर्थ: स एवाक्रमो) है (न त्वक्रम एव स:), उसका कभी क्रमत्व भी होता है (क्रमत्वमपि हि तस्य कदाचिद्भवति।)

संलक्ष्यक्रम को भाव वस्तु रूप होता है, असंलक्ष्यक्रम का भाव सहृदय की मानसिक स्थिति रूप। अभिनव ने लिखा है, जब विभाव और अनुभाव व्यंग्य होते हैं (यदा तु विभावानुभाववपि व्यंग्यौ भवत:) तब वस्तु- ध्वनि ही इष्ट है (तदा वस्तुध्वनिरपि किं न सह्यते।)

स्वशब्दनिवेदित विभावानुभावादि से रसाभिव्यक्ति का उदाहरण आनंदवर्धन ने कुमारसंभव के मधुप्रसंग से दिया है। वसंत पुष्पों के आभरण धारण किए हुए देवी पार्वती के आगमन से कामशरसंधान पर्यन्त, और शिव की चेष्टाविशेष आदि साक्षातशब्द निवेदित हैं, इनसे रस व्यंजित होता है। परन्तु 'लीलाकमलपत्राणि....' आदि श्लोक में तो कमलपत्र गणना रूप अर्थ की सामर्थ्य से व्यभिचारिभाव द्वारा रस की प्रतीति होती है - अत: यह असंलक्ष्यक्रम से भिन्न ध्वनि का प्रकार है -

'इह तु सामर्थ्यादिाप्तव्यभिचारिमुखेन रस प्रतीति:। तस्माद-यमन्यो ध्वने: प्रकार:।'[१]

---

१. ध्वन्यालोक:, बालप्रिया टीका, पृ.२४६

जहाँ शब्दव्यापार की सहायता से वाच्यार्थ अन्य को व्यक्त करता है वहाँ अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि का स्थल नहीं होता ।[1] उदाहरण के लिए निम्नलिखित श्लोक देखें -

संकेतकालमनसं विटं ज्ञात्वा विदग्धया ।
हसन्नेत्रार्पिताकूतं लीलापद्मनिमीलितम् ।।

उपर्युक्त उदाहरण में 'लीलाकमलनिमीलन' से जो संकेतकाल की व्यंजना होती है वह 'नेत्रार्पिताकूतं' पद से ही सूचित हो जाती है, अत: यह अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि का स्थल नहीं कहा जा सकता । अभिनव ने लिखा है कि यद्यपि 'लीलापद्मनिमीलितम्' में व्यंजकत्व विघटित नहीं है तब भी इसमें व्यंजित अर्थ शब्द से ही उक्त हो गया है - 'यद्यपि चात्र शब्दान्तर-सन्निधानेऽपि प्रदोषार्थं प्रति न कस्यचिदभिधाशक्ति: पदस्येति व्यंजकत्वं न विघटितं, तथापि शब्देनैवोक्तमयमर्थोऽर्थान्तरस्य व्यंजक इति ।'[2] इसलिए ध्वनि में जो गोप्यमान के उदित करने का चारुत्व था वह निरस्त हो गया है ।

उन स्थलों में भी जहाँ शब्दशक्ति, अर्थशक्ति अथवा शब्दार्थशक्ति से व्यंग्य अर्थ स्वयं कवि की उक्ति से प्रकट हो जाता है वहाँ भी अर्थशक्त्युत्थ ध्वनि का स्थल नहीं होता ।[3] वहाँ ध्वनि से भिन्न श्लेषादि अलंकार हो सकता है ।

शब्दशक्ति से आक्षिप्त अर्थ की गुणीभूतता का उदाहरण :-

वत्से मा गा विषादं, श्वसनमुरुजवं सन्त्यजोर्ध्वप्रवृत्तम् ,
कम्प: को वा गुरुस्ते, भवतु बलभिदा जृम्भितेनात्र याहि ।
प्रत्याख्यानं सुराणामिति भयशमनच्छद्मना कारयित्वा,
यस्मै लक्ष्मीमदाद् व: स दहतु दुरितं मन्थमूढां पयोधि: ।।

---

१. यत्र च शब्दव्यापारसहायोऽर्थोऽर्थान्तरस्य व्यंजकत्वेनोपादीयते स नास्य ध्वनेर्विषय: , पृ २५०

२. ध्वन्यालोक:, पृ.२५०

३. ध्वन्यालोक:, २।२३

समुद्र के मन्थन से भीत लक्ष्मी को (पयोधि: मन्थमूढां लक्ष्मीम्) समुद्र ने भय दूर करने के बहाने (भयशमनछद्मना) देवताओं का प्रत्याख्यान कराया। बेटी घबराओ नहीं (वत्से मा गा विषादं, व्यंग्यार्थ है विष को भक्षण करने वाले शिव के पास मत जाना, विषाद: का अर्थ 'विषं अत्ति इति विषाद:' से शिव भी है।), तीव्रगति से चलने वाली दीर्घ उच्छ्वासों को बन्द करो (श्वसनमुरुजवं सन्त्यजोर्ध्वप्रवृत्तम, व्यंग्यार्थ है तीव्रगति वाले वायु और ऊर्ध्वज्वलन स्वभाव वाले अग्नि को छोड़ो।) यह कांप क्यों रही हो, बल को नष्ट करने वाली जंभाइयों को छोड़ो (कम्प: को वा गुरुस्ते भवतु बलभिदा जृम्भितेनात्र याहि, व्यंग्यार्थ है कं जलं पातीति कम्प: वरुण:। क: प्रजापति: ब्रह्मा कम्प अर्थात् वरुण और ब्रह्मा तो तुम्हारे गुरु सदृश हैं, उन्हें छोड़ो।) ऐश्वर्य मदमत्त इन्द्र को भी छोड़ो। इस प्रकार भयशमन करने के बहाने अन्य सब देवताओं का प्रत्याख्यान कराकर जिन विष्णु को अपनी पुत्री समुद्र ने दी वे विष्णु तुम्हारे दु:खों को दूर करें।

उपर्युक्त उदाहरण में शब्द की शक्ति से व्यंग्यार्थ प्रतीत होता है पर वह कवि ने अपने शब्दों (तृतीय चरण में) द्वारा ही कह दिया है अत: यह अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि का स्थल नहीं है।

अर्थशक्ति से आक्षिप्त अर्थ की गुणीभूतता -

अम्बाशेतेऽत्र वृद्धा परिणतवयसामग्रणीरत्रतात:,
नि:शेषागारकर्मश्रमशिथिलतनु?कुम्भदासी तथात्र
अस्मिन् पापाहमेका कतिपयदिवसप्रोषितप्राणनाथा,
पान्थायेत्थं तरुण्या कथितमवसर व्याहृतिव्याजपूर्वम ॥

(वृद्धा मां यहां सोती हैं, वृद्धों में अग्रणी पिता यहां सोते हैं। गृहकार्य से शिथिल शरीर वाली दासी यहां सोती है, इसमें मैं-कुछ दिनों से-पतित्यक्ता - अकेली सोती हूं, इस प्रकार बहाने से तरुणी के द्वारा

पथिक को मिलन का अवसर कहा गया ।)[1]

उपर्युक्त उदाहरण में तरुणी के कथन से प्रतीयमान अर्थ व्यक्त तो होता है पर 'व्याजपूर्वम्', 'कथितमवसर' आदि से कवि के अपने शब्दों में ही कह दिया जाने से अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि का अवसर नहीं रहता ।

वस्तुत: उपर्युक्त धारणा का कारण आनंदवर्धन की काव्यानंद विषयक मान्यता है । प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति में निहित अर्थ तक पहुंचने से उपलब्ध चमत्कृति का आनंद रहता है । इस प्रक्रिया में बुद्धि का व्यापार स्पष्ट है अत: कवि के स्वयं ही सब कुछ कह देने से सहृदय इस प्रक्रिया और अन्तत: चमत्कृति से वंचित रह जाता है, कल्पना का अवसर भी नहीं रहता । इसीलिए काव्य-प्रक्रिया की दृष्टि से आनंदवर्धन ने यह व्यवस्था दी है । यह व्यवस्था व्यवहार पर आधृत है । उदाहरण के लिए प्रसाद की कामायनी का यह उद्धरण प्रस्तुत है -

कुसुम कानन अंचल में मन्द
पवन प्रेरित सौरभ साकार,
रचित परमाणु पराग शरीर
खड़ा हो, ले मधु का आधार ।[2]

यह श्रद्धा के शरीर का वर्णन है, कहीं वाच्यतया श्रद्धा के शरीर की कोमलता, सुगंध और माधुर्य को नहीं कहा गया है । पुष्पों से संभरित उपवन के कोने में जैसे सुगंध साकार हो गई हो, पराग के कणों को मधु में सान कर जैसे शरीर बना हो । सहृदय की कल्पना इन उपादानों से एक शरीर का निर्माण करती है और तब उस शरीर की मसृणता, सुगंध और मधुरता की अनुभूति भी साकार होती है। यह अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि

---

१. ध्वन्यालोक: , पृ.२५३
२. कामायनी, । श्रद्धा सर्ग, पृ.५६

का बहुत अच्छा उदाहरण है । उदाहरण में वर्णित वस्तु से श्रद्धा के शरीर की कोमलता, मधुरता और मसृणता व्यंजित होती है । आनंदवर्धन कृत संपूर्ण विवेचन काव्य के व्यावहारिक तथ्यों पर आधृत है । इसीलिए कहा गया है कि कविता परोक्ष (प्रतीयमान) अर्थ में होती है । कविता केवल वाच्यार्थ में नहीं है, वाच्यार्थ से अधिक व्यक्त करती है,सहृदय को वाच्यार्थ से आगे जाना पड़ता है, इसके अंतर्निहित अर्थ तक पहुंचना पड़ता है ।[१] यदि कवि प्रतीयमान अर्थ को अपने शब्दों से ही प्रकट कर देता है तो सहृदय को उसमें अज्ञात कोप्राप्त करने का आनंद नहीं मिल सकता ।

४.१३ कथ्य को व्यक्त करने की विधियां : प्रतीयमान अर्थ के प्रकार

कवि अनेक प्रकार से अपनी अनुभूति को व्यक्त कर सकता है । कभी वह ऐसी वस्तु की रचना करता है जो लोक में संभव हो और इस वस्तु में अपनी अनुभूति को प्रतीयमानत: व्यक्त करता है । कभी ऐसी वस्तु का चयन करता है जो लोक में संभव न हो, कवि कल्पना में उभर कर काव्य-जगत का सत्य बने । कभी कवि किसी पात्र के द्वारा अपनी कल्पना जन्य रचना को प्रस्तुत करता है और भी अनेक प्रकार हो सकते हैं । कभी वाच्यार्थ से कवि अलंकार रूप में अपनी अनुभूति को व्यक्त करता है, कभी वस्तु के रूप में ।

इस दृष्टि से आनंदवर्धन ने प्रतीयमान अर्थ के प्रति उत्तरदायी वाच्यार्थ को मूलत: दो प्रकार का माना है - (१) प्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्न शरीर अर्थात् जो केवल कवियों की कल्पना में संभव है तथा (२) स्वत:संभवी, अर्थात् जो लोकजीवन में भी संभव है । आनंदवर्धन की एतद्विषयक कारिका निम्नलिखित है -

---

१. Poetry From Statement to Meaning, Beaty and Matchett. p.81.

प्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीर: सम्भवीस्वत: ।

अर्थोऽपि द्विविधो ज्ञेय वस्तुनो न्यस्य दीपक: ।।[१]

कविप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीर -

सज्जयति सुरभिमासो न तावदर्पयति युवतिजनलक्ष्य मुखान् ।

अभिनवसहकारमुखान् नवपल्लवपत्रलाननंगस्य शरान् ।।

(बसंत मास युवतिजनों को लक्ष्य बनाने वाले अग्रभाग से युक्त, नव पल्लवों के पत्र (पृष्ठभाग) से युक्त , नए सहकार आदि कामदेव के बाणों को सजाता है किन्तु अभी प्रहारार्थ देता नहीं है (न तावदर्पयति))

उपर्युक्त उदाहरण में कामदेव धन्वी है, बसन्त बाण बनाने वाला है, सहकार मंजरी आदि बाण हैं, युवतियाँ लक्ष्य हैं । यह संपूर्ण अर्थ कवि प्रौढोक्तिसिद्ध है क्योंकि, लोक में न तो इस प्रकार का धन्वी होता, न ऐसे बाण और न ऐसे लक्ष्य ही । इस कवि प्रौढोक्ति सिद्ध वाच्यार्थ से 'मदनोन्मथन का प्रारंभ और उत्तरोत्तर उसका विजृंभण रूप वस्तु व्यंग्य है ।' अभिनव ने लिखा है - 'ध्वन्यमानं मन्मथोन्माथस्मरंभं क्रमेण गाढगाढीभविष्यन्तं व्यनक्ति । अन्यथा रसन्ते सपल्लव सहकारोद्गम इति वस्तुमात्रं न व्यंजकं स्यात् । एषा च कवेरेवोक्ति: प्रौढा ।'[२]

---

१. ध्वन्यालोक: २।२४

२. ध्वन्यालोक: पृ.२५५

अज्ञेय की 'बावरा अहेरी' [१] कविता का निम्नलिखित अंश भी कविप्रौढोक्तिसिद्ध है -

मोर का बावरा अहेरी
पहले बिछाता है आलोक की -
लाल-लाल कलियां
पर जब खींचता है जाल को -
बांध लेता है सभी को साथ :
छोटी छोटी चिड़ियां
मंझोले पंखे
बड़े-बड़े पंखी
डैनों वाले डील वाले
डौल के बेडौल
उड़ते जहाज
कलस-तिसूल वाले मंदिर-शिखर से ले
तार घर की नाटी मोटी चिपटी गोल घुस्सों वाली
उपयोग - सुन्दरी
बेपनाह काया को :
- - - - - - ---
बावरे अहेरी रे
कुछ भी अवध्य नहीं तुझे , सब आखेट है :
- - - - - - ---
ले मैं खोल देता हूं कपाट सारे
मेरे इस खंडहर की शिरा-शिरा छेद दे
- - - - - -

---

१. बावरा अहेरी, अज्ञेय

लोक में ऐसा अहेरी नहीं देखा गया जो सारे विश्व को एक साथ समेट ले, जड़-चेतन सबको । न अहेरी मन की `कालौंस` ही दूर करता है, न आंखों को आंजता है । अज्ञेय ने भोर को अहेरी कहा है इसलिए कि जैसे अहेरी बलपूर्वक - छलपूर्वक आखेट को पकड़ लेता है, वैसे भोर का प्रकाश उसके मन-विवर में छाए अंधेरे को दूर कर दे । वैसे तो यह अंधेरा जाएगा नहीं, अहेरी की छल बुद्धि से यदि भोर ऐसा करे तो संभव है । परिस्थितियों में उत्पन्न व्यक्ति मन की पीड़ा और उस पीड़ा से मुक्ति पाकर पुन: प्रकाश पाने की आकांक्षा इस का व्यंग्य है । आधी कविता में भोर की सामर्थ्य और शेष आधी में अपनी आकांक्षा है । संभवत: जब हम किसी से कुछ मांगते हैं तो प्रथमत: उसे उसकी सामर्थ्य का स्मरण कराते हैं । सभी भक्त कवियों ने ऐसा ही किया है । यह इस स्थिति में मन की अनिवार्य प्रक्रिया है । अज्ञेय आस्थावान कवि है, जीवन के प्रति, प्रकाश के प्रति उनकी अटूट आस्था है । अंधेरे को स्वीकार कर प्रकाश के प्रति आस्थावान होने में ही महत्ता है । `बावरा अहेरी` पद भी व्यंजक है या आधुनिक शब्दावली में यह प्रयोग फोरगाउन्डेड है, व्याज स्तुति की इस प्रक्रिया का पूरी कविता में निर्वाह है ।

इस प्रकार के कविप्रौढ़ोक्तिसिद्ध कथनों में ही कवि कल्पना का विलास व्यक्त हो पाता है स्वभावत: इसका संबंध कवि की सृजन - प्रतिभा के वैशिष्ट्य से है । कविप्रौढ़ोक्तिसिद्ध कथनों में कथ्य प्रतीयमानत: ही रहता है ।

कविप्रौढ़ोक्ति सिद्ध कथन कवि द्वारा चित्रित पात्र की उक्ति हो सकता है । कवि निबद्ध पात्र और स्वयं कवि की उक्ति के संदर्भ में कल्पना का अवसर अधिक रहता है । मानस की विभिन्न भाव छायाओं को अभिव्यक्ति मिलती है । परिणामत: जो कुछ सामान्य जगत में असंभव लगता है, इसप्रकार की उक्तियों में सहज हो जाता है, ग्राह्य लगता है । कविनिबद्ध पात्र भी

कवि की अनुभूतियों का वाहक होता है, पर शिल्प की दृष्टि से कवि पात्र-कथित उक्तियों में जैसे तटस्थ हो जाता है, कृति-उक्ति स्वतंत्र हो जाती है, कला बन जाती है। और कला के इस निर्दोष में सभी असंगतताओं का समाधान हो जाता है। आनंदवर्धन ने कविनिबद्धवक्ता की प्रौढोक्ति का निम्नलिखित उदाहरण दिया है -

सादरवितीर्णयौवनहस्तावलम्बं समुन्नमद्भ्याम्।
अभ्युत्थानमिव मन्मथस्य दत्तं तव स्तनाभ्याम्।।[१]

(आदरपूर्वक सहारा देते हुए यौवन के सहारे उठते हुए तुम्हारे स्तन कामदेव को अभ्युत्थान सा प्रदान कर रहे हैं।)

उपर्युक्त कथन में उक्ति वैचित्र्य का चमत्कार स्पष्ट है - यह कथन कवि ने पात्र द्वारा कहलाया है।

कुछ ऐसे कथन होते हैं जिनका विषय लोक में भी संगत होता है। 'एवं वादिनि' आदि उदाहरण इसी प्रकार के हैं। मुक्ति बोध की 'चौराहा' कविता का विषय इसी प्रकार का है

मुझे कदम - कदम पर
चौराहे मिलते हैं
बाँहें फैलाये।।
एक पैर रखता हूं
कि सौ राहें फूटतीं,
व मैं उन सब पर से गुजरना चाहता हूं
बहुत अच्छे लगते हैं
उनके तजुर्बे और अपने सपने....
सब सच्चे लगते हैं।[२]

---

१. ध्वन्यालोक: पृ.२५६

२. चाँद का मुंह टेढ़ा है - मुक्तिबोध

प्रतीयमान वस्तु के अतिरिक्त अलंकार भी प्रतीयमान हो सकता है, यह संलक्ष्यक्रम भेद का अन्य प्रकार है --

अर्थशक्तेः अलंकारः यत्रापि अन्यः प्रतीयते ।

अनुस्वानोपमव्यंग्यः स प्रकारोऽपरो ध्वनेः ।[१]

(जहां अर्थशक्ति से (वाच्यार्थ अलंकार से भिन्न) अन्य अलंकार प्रतीत होता है, वह संलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि का अन्य प्रकार है।)

अर्थशक्ति से भी अलंकार प्रतीयमान होता है, केवल शब्दशक्ति से ही नहीं, इसी तत्व को स्पष्ट करने के लिए यह कारिका कही गई है । इसकी व्याख्या में अभिनव ने लिखा है - 'न केवलं शब्दशक्तेः अलंकारः प्रतीयते पूर्वोक्तनीत्या यावदर्थशक्तेरपि । यदि वा न केवलं यत्र वस्तुमात्रं प्रतीयते यावदलंकारोऽपीत्यपिशब्दार्थः ।'[२]

यह आशंका संभव है कि शब्दशक्ति से तो श्लेषादि अलंकार संभव होते हैं, अर्थशक्ति से कौन से अलंकार संभव होंगे । उद्भट आदि ने दीपक इत्यादि में अन्य अलंकार की प्रतीति स्वीकारी है । आनंदवर्धन के अनुसार जहां प्रतीयमान अलंकार वाच्यालंकार की अपेक्षा प्रधान चमत्कारक होता है वहां ध्वनि होती है । काव्यप्रकाशकार ने इसी दृष्टि का अनुसरण कर अर्थशक्त्युद्भव के बारह भेद किए हैं । क्योंकि वाच्य वस्तु से वस्तु अथवा अथवा अलंकार प्रतीयमान हो सकता है । वाच्य अलंकार से भी वस्तु अथवा अलंकार प्रतीयमान हो सकता है । अतः वाच्यरूप में स्थित अलंकार से अन्य अलंकार की प्रतीयमानता में संदेह का अवसर नहीं है । रूपकादि अलंकार जो वाच्य रूप में रहते हैं अनेक उदाहरणों में उनका प्रतीयमानत्व होता है -

---

१. ध्वन्यालोकः, २।२५

२. ध्वन्यालोकः, २५७

रूपकादिरलंकारवर्गो यो वाच्यतां श्रित: ।

स सर्वो गम्यमानत्वं बिभ्रद् भूम्ना प्रदर्शित: ।।[१]

परन्तु अलंकार ध्वनि का स्थल वहीं है जहां वाच्याश्रित अलंकार प्रतीयमान अलंकार के प्रति `तत्पर` होता है । जहां ऐसा नहीं है वहां ध्वनि का मार्ग नहीं है --

अलंकारान्तरस्यापि प्रतीतौ यत्र भासते ।

तत्परत्वं न वाच्यस्य नासौ मार्गो ध्वनेर्मत: ।।[२]

दीपक आदि अलंकार में उपमा प्रतीयमान रहती है, पर उपमा की प्रधानता न होने से वहां ध्वनि का व्यवहार नहीं किया जा सकता ।

चंद्रमयूखैर्निशा नलिनी कमलै: । कुसुमगुच्छैर्लता ।

हंसैश्शारद शोभा, काव्यकथा सज्जनै: क्रियते गुर्वी ।।

(चन्द्रमा की किरणों से रात्रि, कमलपुष्पों से नलिनी, पुष्पगुच्छों से लता, हंसों से शरद की शोभा और सज्जनों के काव्यकथा की गौरववृद्धि होती है ।)

उपर्युक्त उदाहरण में दीपक अलंकार है तथा गुरुकरण रूप एक धर्म के संबंध सादृश्य के कारण उपमा के मध्यपतित होने पर भी वाच्यरूप से स्थित दीपक के कारण चारुत्व प्रतीत होता है इसलिए यहां वाच्य अलंकार दीपक के नाम से ही व्यपदेश किया जाता है, गम्यमान उपमा का नहीं । जहां वाच्य अलंकार की स्थिति व्यंग्यपरतया ही हो वहां व्यंग्य अलंकार के अनुसार व्यवहार किया जाता है । इसे स्पष्ट करने के लिए आनंदवर्धन ने ग्यारह उदाहरण दिए हैं, कतिपय यहां दिए जा रहे हैं --

---

१. ध्वन्यालोक, २।२६

२. ध्वन्यालोक, २।२७

प्राप्तश्रीरेष कस्मात् पुनरपि मयि तं मन्थखेदं विदध्या-
न्निद्रामप्यस्य पूर्वामनलसमनसो नैव सम्भावयामि ।
सेतुं बध्नाति भूय: किमिति च सकलद्वीपनाथानुयात-
स्त्वय्याते वितर्कानिति दधत इवाभाति कम्प: पयोधि: ।।

(इसको लक्ष्मी प्राप्त है फिर मुझे यह पूर्वानुभूत मन्थन-दु:ख क्यों देगा । आलस्यरहित मन के कारण इसकी पहले जैसी निद्रा की भी संभावना नहीं है । समस्त द्वीपों के राजा इसके अनुचर हो रहे हैं फिर यह दुबारा सेतुबन्धन क्यों करेगा । हे राजन तुम्हारे आने से मानों इस प्रकार के सन्देहों के धारण करने से ही समुन्द्र कांप रहा है ।)

उपर्युक्त उदाहरण में समुद्र के स्वाभाविक जल चांचल्य का निमित्त विशाल सेना सहित समुद्रतट पर आए हुए राजा को देखकर मन्थन अथवा सेतुबन्धादि सन्देह के कारण उत्पन्न भय की उत्प्रेक्षा की गई है । इसलिए यहां कवि प्रौढोक्ति सिद्ध संदेह और उत्प्रेक्षा का संकर अलंकार वाच्यतया है । राजा में वासुदेव का रूपक व्यंग्य है । चमत्कारपूर्ण उत्कर्ष इस प्रतीयमान रूपक के कारण ही है अत: यह अलंकार से रूपक अलंकार ध्वनि का उदाहरण है । उमाध्वनि का उदाहरण निम्नलिखित है -

वीराणां रमते घुसृणारुणे न तथा प्रियास्तनोत्संगे ।
दृष्टी रिपुराजकुम्भस्थले यथा बहल सिन्दूरे ।।

वीरों की दृष्टि प्रियतमा के कुंकुम रंजित उरोजों में उतनी नहीं रमती जितनी सिन्दूर से पुते हुए शत्रुओं के हाथियों के कुंभस्थलों में ।

इस उदाहरण में व्यतिरेक अलंकार वाच्यतया है क्योंकि सिन्दूर पुते गजकुंभों में वीरों के लिए कुंकुम रंजित उरोजों से अधिक आकर्षण कहा गया है और प्रतीयमानत: उपमा है क्योंकि सिन्दूर रंजित गजकुंभों और कुंकुम रंजित उरोजों का सादृश्य व्यंजित है । यह स्वत:संभवी अलंकार से अलंकार ध्वनि का उदाहरण है ।

आक्षेप अलंकार ध्वनि का उदाहरण -

स वक्तुमखिलान् शक्तो हयग्रीवाश्रितान् गुणान् ।
योऽम्बुकुम्भै: परिच्छेदं ज्ञातुं शक्तो महोदधे : ।।[1]

जो पानी के घड़ों से (य: अम्बुकुम्भै:) समुद्र के परिमाण को (महोदधे: परिच्छेदं) जानने में समर्थ है (ज्ञातुं शक्त:) वही हयग्रीव के समस्त गुणों को (सहयग्रीवाश्रितान् अखिलान् गुणान्) कहने में समर्थ है (वक्तुं शक्त:) ।

इस उदाहरण में अतिशयोक्ति वाच्यालंकार है । हयग्रीव की गुणरूप विशेषताओं का उद्घाटनपरक आक्षेप अलंकार प्रतीयमान है । यह कवि प्रौढोक्ति सिद्ध अलंकार से अलंकार की व्यंग्यता का उदाहरण है । आनंदवर्धन की यह धारणा काव्य को कला सिद्ध करती है । कविता सामान्य कथन से भिन्न होती है । कविता मात्र कथन नहीं है, कलापूर्ण कथन है । यदि यह मान भी लें कि रस सिद्धान्त भावपक्ष पर अधिक बल देता है तो यह भी स्वीकारना होगा कि रस-सिद्धान्त अपूर्ण सिद्धान्त है क्योंकि वह केवल सहृदयगत अनुभूति की चर्चा को आधार बना कर चला है । ध्वनिसिद्धान्त कविता के सृजन का व्याख्यान है, कविता को मूर्त कृति मानता है और सहृदय को भी सन्निहित किए है । ध्वनिसिद्धान्त कविता के आस्वादन के क्रम को स्पष्ट करता है, अत: यथार्थपरक है ।

अर्थान्तरन्यास अलंकार ध्वनि का उदाहरण --

दैवायत्ते फले किं क्रियतामेतावत् पुनर्भणाम: ।
रक्ताशोकपल्लवा: पल्लवानमन्येषां न सदृशा: ।।[2]

---

१. ध्वन्यालोक: , पृ.२६५
२. ,, ,,२६६

फल दैव के अधीन है (दैवायत्ते फले), क्या करें (किं क्रियताम्) फिर भी इतना कहते हैं (एतावत् पुन: भणाम:) रक्ताशोक के पल्लव, अन्य पल्लवों से भिन्न होते हैं सदृश नहीं (रक्ताशोकपल्लवा: पल्लवानमन्येषां न सदृशा:)।

आनंदवर्धन ने व्यतिरेक, उत्प्रेक्षा, श्लेष, यथासंख्य आदि के उदाहरण देकर अलंकार ध्वनि को स्पष्ट किया है।

अलंकार ध्वनि का प्रयोजन :-

सामान्यत: अलंकार आभूषणवत् हैं, वे शरीर नहीं हो सकते। पर प्रतीयमान होकर अलंकार चारुत्वसंवलित हो जाते हैं। अलंकार व्यंजकरूप होकर भी व्यंग्यमुखेन ध्वनि के अंग बनते हैं, यह तभी संभव है जब अलंकार (प्रतीयमान) का प्राधान्य विवक्षित हो।[१]

यह स्पष्ट है कि प्रतीयमान अलंकार की स्थिति में काव्य प्रतीयमान अलंकार जन्य ही होता है। अत: उसकी प्रधानता विवादास्पद नहीं होती। काव्य संरचना और कवि का उद्देश्य भी प्रतीयमान अलंकार व्यंजित वस्तु में होता है। आनंदवर्धन के शब्दों में काव्य का व्यापार ही इस प्रतीयमान अलंकार के आश्रित होता है --

व्यज्यन्ते वस्तुमात्रेण यदालंकृतयस्तदा।
ध्रुवं ध्वन्यंगता तासां, काव्यवृत्तेस्तदाश्रयात्॥

इस प्रकार वस्तु से प्राधान्यपूर्वक प्रतीयमान अलंकार की ध्वन्यंगता तो है ही, पर प्राधान्यपूर्वक यदि अलंकार से अलंकार भी प्रतीयमान होता है तो भी वह ध्वन्यंगता को प्राप्त होता है --

---

१. ध्वन्यालोक, पृ.२७६

अलंकारान्तरव्यंग्यभावे, ध्वन्यंगता भवेत् ।

चारुत्वोत्कर्षतो व्यंग्यप्राधान्यं यदि लक्ष्यते ।।

इसी आधार पर मम्मट आदि बाद के आचार्यों ने अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के द्वादश भेद किए हैं। वस्तु से वस्तु, वस्तुसे अलंकार, अलंकार से वस्तु, अलंकार से अलंकार। इन चार का स्वत: संभवी, कविप्रौढोक्तिसिद्ध और कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्ति सिद्ध वस्तु की दृष्टि से विचार करने पर द्वादश भेद सिद्ध होते हैं।

४.१४ शब्दार्थशक्त्युद्भव

ऐसा भी संभव है कि शब्द और अर्थ दोनों समवेत रूप से प्रतीयमान अर्थ के व्यंजक हों वहां शब्दार्थशक्त्युद्भव ध्वनि कही जाती है। आनंदवर्धन ने इस कोटि का उदाहरण नहीं दिया है। मम्मट ने भी जो उदाहरण दिया है, वह शब्दशक्त्युत्थ का ही है।

...

अध्याय - ५

ध्वनिसिद्धान्त और शैली

५.१ 'शैली, संदर्भों और भाषातात्विक रूपों को जोड़ने वाली कड़ी है।' शैली की यह परिभाषा एक ओर उसे सूक्ष्म मानसिक प्रक्रिया से संबद्ध करती है - दूसरी ओर भाषिक इकाईयों से। भाषिक इकाईयों का अध्ययन भाषाशास्त्र करता है। इसी धारणा को लेकर कि भाषा शास्त्र की सहायता से किसी काव्यात्मक रचना के सत्य तक अधिक विश्वस्तता से पहुंचा जा सकता है - आधुनिक शैलीशास्त्र का विकास हुआ। अपने वर्तमान रूप में शैलीशास्त्र नया ही है और अभी भी इसके अंतर्गत किए जाने वाले विश्लेषण की रूपरेखा एकदम स्पष्ट नहीं है। भारत की काव्यशास्त्र परंपरा में कतिपय ऐसे सिद्धान्त हैं जो कविता की शैली (संघटना) पर तथ्यपरक विचार करते हैं। अपनी-अपनी सीमा में वे विचारणाएं कविता की विशेषताओं का उद्घाटन करने में पूर्ण समर्थ हैं। आनंदवर्धन प्रतिपादित ध्वनिसिद्धान्त ऐसा ही सिद्धान्त है। यह सिद्धांत संघटना के स्वरूप और विश्लेषण की समुचित विधि प्रस्तुत करता है। प्रस्तुत प्रकरण में पहले आधुनिक शैलीशास्त्र की रूपरेखा को प्रस्तुत किया जाएगा तदनन्तर ध्वनिसिद्धान्त की तत्सदृश धारणाओं से उनकी तुलना कर शैलीशास्त्रीय विश्लेषण की एक सामान्य रूपरेखा तक पहुंचने का प्रयत्न किया जाएगा।

५.२ आधुनिक भाषातात्त्विक शैलीविज्ञान के अंतर्गत किए गए अध्ययन को तीन प्रकारों के अंतर्गत रखा जा सकता है -

१) वे अध्ययन जो शैली को प्रतिमान से विपथन (Deviation) मानते हैं ।

२) वे अध्ययन जो किसी संरचना में भाषिक इकाईयों के आवृत्यांक के समुच्चय (Set) को शैली मानते हैं । शैली को भाषिक इकाईयों के आवृत्यांक का समुच्चय इस अर्थ में कहा गया है कि शैली एकाधिक भाषिक इकाईयों का परिणाम है तथा किसी रचनाखंड के किसी शब्द का शैलीगत महत्व अन्य शब्दों के सान्निध्य में ही संभव है । किसी भी रचना प्रतिमान में एक पंक्ति से अधिक की रचनाएं ही आती हैं ।

३) वे अध्ययन जो शक्यता के व्याकरण (Grammer of Probabilities) के विशिष्ट उपयोग को शैली मानते हैं । अर्थात् जो प्रयोग कवि कर सकता है - जो भी प्रयोग कवि के लिए संभव है -संभावित हैं, जो शक्य हैं, उनके विशिष्ट उपयोग का समुच्चय शैली है ।

प्रथम प्रकार के शैलीशास्त्रीय अध्ययन में प्रतिमान का निर्धारण सर्वाधिक विवादास्पद प्रश्न बन गया है ।

शैली को विपथन मानने वाले संप्रदाय के अध्ययन का आधार निम्नलिखित प्रश्न हैं -

(१) काव्य की भाषा सूचना के अतिरिक्त और क्या व्यक्त करती है ?

(२) किसी रचयिता की भाषा व्याकरणिक अपेक्षाओं के अतिरिक्त और क्या करती है ?

(३) रचयिता के ऐच्छिक वाक्य और शब्दगत रुचियों के ढांचों का वैशिष्ट्य क्या है ?

प्राग स्कूल के अध्येताओं ने अपने शैलीशास्त्रीय अध्ययन में उपर्युक्त प्रश्नों का समाधान प्राप्त करने का प्रयत्न किया है। मुकारोव्सकी ने उन सभी विरूपणों को काव्य-भाषा की विशेषता माना है जो सौन्दर्यात्मक उद्देश्य से किए गए हों। कविता की भाषा में कवि जान-बूझ कर नियमों को तोड़ता है। कविता स्वचालित, रूढ़ प्रयोगों को स्वीकार नहीं करती, अत: कवि नए प्रयोग करता है। ये नए प्रयोग फिर रूढ़ हो जाते हैं। फिर भाषिक इकाईयों का फोर-ग्राऊंडिंग होता है, अर्थात् वे स्वीकृत मार्ग से भिन्न रूप में प्रयुक्त की जाती है। इस प्रकार नूतन प्रयोगों का रूढ़ीकरण और फिर नए प्रयोगों का चक्र निरंतर गतिशील रहता है।

नव - फर्थ संप्रदाय के विद्वानों ने प्रतिमान (नोर्म) और विपथन (डेविएशन) की दूसरी ही व्याख्या की। इस दृष्टिकोण के अनुसार भाषा को संदर्भ से काट कर नहीं समझा जा सकता। प्रयोग और प्रयोक्ता के संदर्भ में ही भाषा की मूल्यवत्ता है। इस दृष्टि से शैली-शास्त्रीय अध्ययन में शब्द समुच्चय और विन्यास की धारणा का समावेश हुआ। शब्द समुच्चय विन्यास के समान क्षेत्र और समान अर्थ-स्थितियों में प्रयुक्त होने वाले शब्दों का समुच्चय है। इस धारणा के परिणामस्वरूप यह माना जाने लगा कि कविता की एक सूक्ष्म भाषा का अनुमान किया जाना चाहिए, इस सूक्ष्म भाषा का एक सूक्ष्म व्याकरण हो तथा यह सूक्ष्म व्याकरण, सूक्ष्म भाषा के सभी स्तरों -स्वनिम शास्त्र, वाक्य, शब्द समूह आदि के विश्लेषण में समर्थ होना चाहिए।

संरचना के पैटर्न के आवर्तन को शैली मानने की धारणा का विकास रोमन जेकबसन के इस कथन से हुआ है कि - 'काव्यात्मक कार्यफलन चयन के अक्ष से संगठन के अक्ष में संतुलन के सिद्धान्त को प्रस्तुत करता है।' कविता की भाषा के संयोजन - संबंधों में वही वैशिष्ट्य होता है जो पारस्परिक रुचि रखने वाले - सदस्यों के निकट संबंध में होता है। कवि अपनी भाषा में विशेष रूप से, शृंखला में अलंकारों का प्रयोग करता है और रुचि के अनुसार उसे भंग कर देता है। निश्चय ही यह प्रणाली यह मानती है कि कवि काव्य उपादानों का चयन करता है, फिर चयित उपादानों का संगठन करता है, तथा प्रयुक्त होकर ये उपादान घनिष्ठता से संबद्ध होते हैं।

हैलीडे ने पैटर्न के अभिसरण (कन्वरजेन्स) और सामंजस्य (कोहेरेन्स) को शैली माना है। इसका तात्पर्य यह है कि कवि की रचना में विशेष पैटर्न होता है, उसी पैटर्न का अभिसरण पूरी संरचना में होता है। इसके अतिरिक्त सांजस्य शैली का अनिवार्य तत्व है। सामंजस्य के अंतर्गत सभी कुछ आ जाता है। शब्दों का, मात्रा का, अलंकारों, सबका सामंजस्य अभिप्रेत है। हैलिडे के अनुसार सामंजस्य का तात्पर्य है - शब्दसमूह और व्याकरणिक नियमों के चतुर्दिक वर्णनात्मक कोटियों (डिस्क्रीप्टीव कटैगरीज) का प्रस्तुतीकरण (ग्रुपिंग)। भाषिक संरचना में सामंजस्य विभिन्न स्तरों पर होता है। सामंजस्य शृंखलागत संबंध है। यह शब्द संबंधी भी हो सकता है और व्याकरणिक भी।

शैली विषयक चतुर्थ धारणा के अनुसार कवि अपनी भाषा में अभिव्यक्तिपरक कुछ विशिष्ट प्रयोग करता है। इस धारणा के अनुसार कविता की भाषा में दो स्तर होते हैं - प्रत्यक्ष और गहन। अर्थ-विषयक व्याख्याएं इस द्वितीय स्तर से ही उद्भूत होती हैं। स्वनिम संबंधी

विश्लेषण प्रथम स्तर से ही किया जा सकता है । ये दोनों स्तर अर्थ को निश्चित रखने वाले एक ओर्डर्ड सेट ओफ ट्रान्सफोरमेशन से संबद्ध होते हैं ।

शैलीशास्त्र विषयक उपर्युक्त धारणाओं के निष्कर्ष निम्नलिखित हैं -

१.कवि की भाषा वाच्यार्थ के अतिरिक्त और क्या कहने में कितनी समर्थ है ?

२.व्याकरण से कितनी नियमित है तथा अन्य प्रयोग कर उसने क्या विशेषताएं अर्जित की है ?

३.अर्थ की समान स्थितियों और समान विन्यास में प्रयुक्त शब्द समुच्चय का संदर्भगत वैशिष्ट्य ।

४.चयन के अक्ष और संगठन के अक्ष में संतुलन ।

५.भाषा की वर्णनात्मक कोटियों के सामंजस्य और संरचना पैटर्न के अभिसरण का अध्ययन ।

६.कविता भाषा के विशिष्ट प्रयोग और प्रत्यक्ष तथा गहन स्तरों का अध्ययन ।

उपर्युक्त में से पांचवें को छोड़कर शेष किसी न किसी सीमा तक अर्थ से जुड़े हैं । वस्तुत: काव्य का अंतिम सत्य उसका अर्थ ही है । इस अर्थ को समग्रता की सीमा तक उन्मीलित करने में भाषाशास्त्र योग देता है । यदि शैलीशास्त्रीय अध्ययन केवल संज्ञा, क्रिया, सर्वनाम आदि की गणना, अक्षर-रचना, बंद अथवा उन्मुक्त उपवाक्य तक ही स्वयं को सीमित रखता है तो उसके उपयोग में संदेह ही रहेगा ।

५.३ कविता के शैलीशास्त्रीय अध्ययन की एक प्रविधि जिओफ्रे लीच ने दी है - मैं समझता हूं यह प्रविधि काफी संगत और पूर्ण है । इस विधि के प्रमुख सूत्र निम्नलिखित हैं :-

(१) सामंजस्य - इसका तात्पर्य यह है कि काव्य भाषा के आनुक्रमिक संबंधों के योजनातंत्र में विभिन्न स्थानों में प्रयुक्त विभिन्न स्वतंत्र चयन (इकाई) परस्पर कितने संगत हैं तथा किसी सीमा तक एक दूसरे को स्वीकार करते हैं । इसके अन्तर्गत (i) क्रिया पैटर्न का सामंजस्य तथा इस सामंजस्य से उत्पन्न वैशिष्ट्य, (ii) वितरण का समंजस्य, (iii) शब्द समूह का सामंजस्य है। सामंजस्य के अध्ययन में, पूरी कविता में परिव्याप्त, अर्थ के कुछ ऐसे पैटर्न उपलब्ध होंगे जिनसे कविता के कथ्य का भाषातात्त्विक विवरण दिया जा सके । परन्तु यह विवरण पल्लवग्राही ही होगा, क्योंकि यह सामान्य भाषा में उपलब्ध इकाईयों का चयन कैसे किया गया है, इसी तथ्य पर आधारित है जबकि कविता सामान्य प्रयोग की रूढ़ियों को तोड़ती है । कविता भाषिक प्रयोगधर्मिता का उपयोग करती है । कविता की भाषा का महत्व उद्घाटन करने के लिए, कविता में प्रयुक्त उन चयनों का विश्लेषण करना होगा, जिनकी सामान्य-भाषा - प्रयोग में आशा भी नहीं की जा सकती ।

(२) असामान्य प्रयोग - कविता में, भाषा के सामान्य प्रतिमानों से भिन्न प्रयोगों को, सौन्दर्यात्मक संप्रेषण की दृष्टि से महत्वपूर्ण माना जाता है । भाषा के सामान्य प्रतिमानों की पृष्ठभूमि में ऐसे मुख्य प्रयोगों को केन्द्रीभूत कर उनकी असमान्यता का विश्लेषण किया जाता है । शब्द के सामान्य और आलंकारिक अर्थ-वैपरीत्य में यह प्रयोग-असामान्यता परिलक्षित की जा सकती है । एक काव्य-रूपक अर्थ की दृष्टि से विचित्र होता है, अत: रूपक में प्रयुक्त भाषिक रूपिम की व्याख्या सामान्य से भिन्न करनी होगी । रूपक में शब्द इकाईयों का विन्यास अत्यधिक नूतन भी हो सकता है ।

असामान्य प्रयोगों के स्थलों में सामान्य प्रयोग करके भी कवि यह स्थिति उत्पन्न कर सकता है क्योंकि उन विशेष स्थलों पर असामान्य

प्रयोग ही अपेक्षित है, अपेक्षा के विपरीत प्रयोग पाठक की दृष्टि को आकृष्ट करेंगे - इस प्रकार सामान्य प्रयोग ही दीप्त हो उठेंगे । शैली शास्त्रीय अध्ययन में असामान्य या असामान्य बने सामान्य प्रयोगों का भी विश्लेषण किया जाना चाहिए ।

(३) असामान्य प्रयोगों का सामंजस्य - यह भी शैलीशास्त्रीय विवरण की एक दिशा है । इसके अंतर्गत असामान्य प्रयोगों का परस्पर, और पूरी कविता के संदर्भ में भी, सामंजस्य देखा जा सकता है । कविता में अन्य योजनाओं का भी सामंजस्य होता है । छंद, मात्रा विषयक योजना का विश्लेषणकर उनके सामंजस्योदभूत वैशिष्ट्य को प्रकाशित किया जाना चाहिए ।

(४) स्वनिम योजना के विशिष्ट प्रयोग, अक्षर-संरचना का महत्व तथा इनसे उत्पन्न सौन्दर्य का विश्लेषण भी आवश्यक है ।

परन्तु उपर्युक्त विश्लेषण सूत्रों के अतिरिक्त कविता के अर्थ तक पहुंचने के लिए व्याख्या तत्व की भी अपेक्षा है । इस व्याख्या के लिए आलोचक को भाषेतर संदर्भों की आवश्यकता होती है ।

(५) जिआफ्रे लीच शैलीशास्त्रीय अध्ययन को भाषिक इकाईयों के केवल भाषातात्त्विक विवरण और विशिष्ट स्थल पर उनके कार्यफलन के विश्लेषण को ही पर्याप्त नहीं मानते । इस विश्लेषण से प्राप्त अर्थ को वे आभासिक कहते हैं तथा उन अन्य तत्वों की अपेक्षा स्वीकार करते हैं जिनसे कविता के तथ्य तक पहुंचा जा सके । इसी दृष्टि से लीच `संदर्भ की विवक्षा` को भी विश्लेषण में आवश्यक समझते हैं । कविता में संदर्भ का निर्माण , कविता से ही अनुमानित करना होता है ।

(६) द्वयर्थकता - जब कवि जान-बूझ कर द्वयर्थकता उत्पन्न करता है तो यह समझा जा सकता है कि वह स्वयं एकाधिक अर्थों की सहस्थिति चाहता है ।

जिओफ्रे लीच ने 'दिस ब्रेड आइ ब्रेक' कविता का इन सूत्रों के आधार पर शैलीशास्त्रीय अध्ययन किया है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि शैलीशास्त्रीय अध्ययन, किसी काव्यात्मक रचना की ध्वनियां, व्याकरणिक इकाईयों, वाक्य, शब्दसमूह आदि का भाषातात्विक विश्लेषण प्रस्तुत करता है। भाषिक इकाईयों प्रयोगों के सामंजस्य - विपथन आदि के अध्ययन द्वारा उस कविता की विशिष्टताओं का उद्घाटन किया जाता है। यह विश्लेषण अर्थ की परिसीमाओं तक पहुंचता है। 'स्टाईल' स्वयं किसी अन्य का साधन है, उस साध्य को अनदेखा कर केवल भाषिक इकाईयों का विवरण कोई महत्व नहीं रखता।

५.४ ध्वनिसिद्धान्त में काव्य के प्राण तत्व, प्रतीयमान अर्थ की व्यंजना के प्रसंग में संघटना अर्थात् शैली का सूक्ष्म विवेचन किया गया है। आनंदवर्धन ने संघटना को गुणों के आश्रित मानकर उसे चिवृत्तियों से जोड़ा है। इस प्रकार प्रसिद्ध भाषाशास्त्रीय चौमस्की ने - 'मस्तिष्क के सहजात वैशिष्ट्य और भाषिक संरचना के गहन संबंध' के जिस सत्य को इस शताब्दी में स्वीकार है, आनंदवर्धन ने विक्रम कीनवम् शती में उसका विवेचन किया था।

संघटना को गुणों से संबद्ध कर उसमें विशेष स्वनिमों की योजना का निर्देश किया गया है, चित को द्रवित करने वाले माधुर्य गुण के आश्रित संघटना में कठोर /ट/ वर्ग, /ष/ · /श/ आदि स्वनिमों का प्रयोग नहीं होता।

माधुर्याश्रित संघटना में अल्पप्राण अघोष, अथवा घोष अल्पप्राण स्वनिमों का ही प्रयोग होता है।

अतएव आनंदवर्धन के अनुसार संघटना विश्लेषण का प्रारंभ-बिन्दु स्वनिम योजना विश्लेषण है।

संघटना के व्याकरणिक अवयव हैं - सुबन्त (संज्ञा, विशेषणादि), क्रिया (तिङ्न्त), वचन, कारक, कृदन्त, तद्धित और समास । आनंदवर्धन कविता के गहन स्तर में निहित अर्थ के उद्घाटन में इन सब अवयवों का व्याकरणिक विश्लेषण प्रतिपादित करते हैं। किस संरचना में कौनसा प्रत्यय है, यह प्रत्यय किन-किन अर्थों में हो सकता है, प्रस्तुत प्रसंग में कौनसा अर्थ संगत है, चमत्कारक है, आदि का विश्लेषण किया जाता है, इतना ही नहीं पद, पदांश, वर्ण और वाक्य की खंडश: और समग्रत: भी व्याख्या अपेक्षित मानी गई है। वस्तुत: संस्कृत टीकाओं में भी विश्लेषण प्रणाली व्याकरणिक संहीकरण पर आधृत है।

इसके अतिरिक्त औचित्य को आनंदवर्धन ने संघटना का नियामक तत्त्व माना है। प्रयोग औचित्य, वक्ता का औचित्य और विषय का भी औचित्य। औचित्य सामंजस्य का चरम परिणाम है, इसमें सभी प्रकार के सामंजस्य समाहित हैं। अत: नीचे कथित सामंजस्य का विवरण औचित्य के अंतर्गत आ जाता है।

विचित्र प्रयोग, व्याकरण विरुद्ध प्रयोगों की व्याख्या, काव्य के संदर्भ विशेष में सदोष प्रयोगों को भी सुन्दर मानकर नित्य और अनित्य दोनों की व्यवस्था भी इस विश्लेषण के अन्तर्गत है।

५.५ यहाँ एक उदाहरण देकर इस विषय को स्पष्ट किया जा रहा है। आनंदवर्धन ने यह उदाहरण, सुप्, तिङ् वचन् आदि व्याकरणिक इकाईयों के विश्लेषण द्वारा अर्थ तक पहुँचने के प्रसंग में दिया है।

न्यक्कारो हि अयमेव मे यदरयस्तत्राप्यसौ तापस:,
सोऽपि अत्रैव, निहन्ति राक्षसकुलं, जीवत्यहो रावण: ।
धिग-धिक् शक्रजितं प्रबोधितवता किं कुंभकर्णेन वा ,
स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनवृथोच्छूनै: किं एभि: भुजै: ।।

विश्लेषण -

(क) संज्ञाशब्द -

१. अरय:- संज्ञा शब्द है, `अरि` का बहुवचनत्व रावण और शत्रुओं के संबंध का अनौचित्य व्यक्त करता है। क्योंकि देवताओं को कंपित करने वाले रावण के शत्रु हों यह असंभव है।

२. तापस:- अरय: का विशेषण जो विशेष अर्थच्छटा उत्पन्न करता है, इसका अरय: से संदर्भ सामंजस्य द्रष्टव्य है। शत्रु भी तपस्वी, तापस: में मत्वर्थीय अण् प्रत्यय है। मत्वर्थीय तद्धित अण् प्रत्यय प्रशंसा, निंदा आदि अर्थों में होता है। यहां यह प्रत्यय निंदासूचक है। अर्थ होगा - बेचारे, पौरुषहीन, क्षीण देह तपस्वी मेरे (रावणके) शत्रु हैं, आश्चर्य है।

३. राक्षसकुलं- राक्षसकुल को (नष्ट करते हैं)। मानव तो राक्षसों को भोज्य है, वही मानव राक्षसकुल को नष्ट कर रहे हैं।

४. ग्रामटिका- में तद्धित प्रत्यय `क` है इस प्रयोग से स्वर्ग की तुच्छता, लघुता द्योत्य है।

५. शक्रजितम् - विशेष सार्थक प्रयोग, शक्र (इन्द्र) को जीतने वाला अर्थात् मेघनाद भी धिक्कार के योग्य है जो इन्द्रजित् कहलाता है पर तपस्वी शत्रुओं को न जीत सका ? मेघनाद के प्रति अनास्था की व्यंजना हुई है।

(ख) क्रियापद -

१. निहन्ति - यह क्रिया पद अरय:,तापस: के सामंजस्य में है तथा अतीव नाश करने के अर्थ को व्यक्त करता है, यह तिङ् प्रत्यय की घोतकता का उदाहरण है ।

२. जीवति - यह भी तिङ् प्रत्यय का प्रयोग है 'जीता है' अर्थात् रावण के जीवित रहते रावण कुल का नाश, घोर आश्चर्य ।

(ग) सर्वनाम -

(१) 'मे' - अस्मद् शब्द के षष्ठी एकवचन का यह रूप रावण और शत्रु के संबंध के अनौचित्य को व्यक्त करता है ।

(२) असौ - सर्वनाम भी तापस:,अरय: के प्रभाव को घनीभूत करता है ।

एभि:, वृथा, उच्चै: आदि पद व्यर्थता की अनुभूति के व्यंजक हैं तत्र, अपि आदि निपात समुदाय भी विशेष अर्थों की व्यंजना करते हैं ।

इस श्लोक में संज्ञा और विशेषणों के पारस्परिक सामंजस्य के अतिरिक्त, व्याकरण विरुद्ध, विधेयाविमर्श दोष से अभिहित 'न्यक्कारो हि अयमेव' प्रयोग भी विशेषत: व्यंजक हैं, इसमें धिक्कार पर ही विशेष बल दिया गया है । रावणत्व को व्यर्थ समझने की अनुभूति है ।

इस प्रकार शब्द को उसके मूल धातु और प्रत्यय तक विभक्त कर, वाक्य में उसके कार्यफलन को स्पष्ट करते हुए , अर्थघटाओं के प्रकाशन की व्यवस्था ध्वनिसिद्धान्त देता है । सूत्रबद्ध रूप में इन्हें इस प्रकार निबद्ध किया जा सकता है -

१. ध्वनिसिद्धान्त में भाषातात्विक विश्लेषण का प्रयोग कविता के प्रतीयमान अर्थ - जिसे आधुनिक भाषाशास्त्र डीप लेवल के उद्‌भूत मानता है - के प्रकाशन के लिए किया जाता है।

२. संघटना की लघुतम व्याकरणिक इकाई प्रत्यय से प्रारंभ कर धातु, उसके संयोग, विभक्ति, पद, वाक्य तक का विश्लेषण इसमें किये जाने का निर्देश है।

३. संघटना में प्रयुक्त स्वनिमों (वर्णों) को गुणों के आश्रित मानकर उसका विश्लेषण चित्तवृत्यात्मक प्रभाव की दृष्टि से करणीय है।

४. औचित्य को संघटना का नियामक तत्व माना गया है, इस औचित्य की सीमा में सभी प्रकार के सामंजस्य आ जाते हैं। अलंकार, गुणादि का औचित्य विशेषत: प्रतिपादित किया गया है।

५. ध्वनिसिद्धान्त चयन और यत्नपूर्वक प्रयोग की व्यवस्था भी देता है।

५.६ भारतीय काव्यशास्त्र के अन्तर्गत ध्वनिसिद्धान्त प्रतिपादित उपर्युक्त संघटना विश्लेषण सूत्रों और इस निबंध के प्रथम खंड में उद्‌धृत आधुनिक शैलीशास्त्रीय अध्ययन के बिन्दुओं के योग से कविता के लिए एक लगभग पूर्ण शैलीशास्त्रीय निकष बनाया जा सकता है। इस प्रयत्न के फलस्वरूप निम्नांकित शीर्षकों के अन्तर्गत कविता का शैलीशास्त्रीय अध्ययन किया जा सकता है - यहां उदाहरणार्थ 'विवशता' कविता को लिया जा रहा है :

कितना चौड़ा पाट नदी का, कितनी भारी शाम
कितने खोए - खोए से हम कितना तट निष्काम
कितनी बहकी बहकी सी दूरागत वंशी-टेर
कितनी टूटी टूटी सी नभ पर विहगी की फेर
कितनी सहमी - सहमी सी क्षिति की सुरमई पिपासा
कितनी सिमटी-सिमटी सी जलपर तट तरु अभिलाषा
कितनी चुप-चुप गई रोशनी छिप-छिप आयी रात
कितनी सिहर-सिहर कर अधरों से फूटी दो बात
चार नयन मुसकाये, खोये, भीगे फिर पथराए
कितनी बड़ी विवशता जीवन की कितनी कह्याए ।

१- स्वनिम विश्लेषण -

विवशता कविता में -

अल्पप्राण अघोष	-	।क्। (२१), ।च। (४), (ट। (६)।प्। (५) ।त्। (२०)
म. प्रा. अघोष	-	।ख्। (३), ।घ्। (२), ।थ्। (१), ।फ्। (१)
महाप्राण घोष	-	।भ्। (४), ।घ्। (१)
अल्पप्राण घोष	-	।ग्। (४), ।ज्। (१), ।द्। (२), ।ब्। (३)
ऊष्म -		।स्। (१५), ।श्। (३), ।ष्। (२)
अंतस्थ -		।य्। (७), ।व। (१), ।र्। (११), ।ल्। (१)
नासिक्य -		।न्। ।म्।

उपर्युक्त परिगणना से स्पष्ट है कि महाप्राण वर्णों (स्वनिमों) का प्रयोग अल्पतम किया गया है । अधिकांश स्वनिम अघोष अल्पप्राण हैं । घोष भी है तो अल्पप्राण । अनुनासिक दो ही प्रयुक्त हुए हैं । न् और ।म्। ऊष्मों में ।स्। सर्वाधिक प्रयुक्त हुआ है । इन कोमल

वर्णों से माधुर्य गुण की द्रुतिमूलक प्रतीति संभव हुई है । `स्` का अधिक प्रयोग आकांक्षा और अवसाद की - अभिव्यक्ति में सहायक है । ह् का एक बार प्रयोग हुआ है, पर वह `च्` के साथ होने से कटु नहीं लगता ।

२- शब्द संघटना - की दृष्टि से समासों का विवेचन अपेक्षित है - विवशता कविता में दो पदों के पांच और तीन पदों के भी (५) समास हैं , पर ये इतने सरल हैं कि इसे अल्पसमासा अथवा असमासा रचना कहा जा सकता है ।

दो पद के समास
१- बेशी - टेर
२. लट - लट
३. चुप - चुप
४. छिप - छिप
५. सिहर - सिहर

तीन पद के समास -
१. सोये - सोये - से
२. बहकी - बहकी - सी
३. टूटी - टूटी - सी
४. सहमी - सहमी - सी
५. सिमटी - सिमटी - सी

३- सामंजस्य - सामंजस्य को विविध स्तरों पर परखा जा सकता है -

(क) व्याकरणिक संगति -

१- विवशता कविता में पद-प्रयोग में व्याकरणिक संगति का पूर्ण निर्वाह है (एक प्रयोग के अतिरिक्त `पाट नदी का`) `कितना` पद का विशेष चयनपूर्वक प्रयोग किया गया है । कितना में तीन प्रत्ययों के योग से तीन रूप प्रयुक्त हुए हैं - `आ` प्रत्यय युक्त एक वचन पुल्लिंग

रूप, प्रथम पंक्ति में, (कितना चौड़ा पाट नदी का) यहां कितना मात्रा सूचक है। `ए` प्रत्यय युक्त `कितने` , दो व्यक्तियों की उपस्थिति और `खोये होने` की सघनता व्यक्त करता है ।`ई` `प्रत्यय युक्त `कितनी` उन संज्ञाओं के सामंजस्य में है जिनकी `विवशता` से अन्विति है। प्रकृति के उपादानों के साथ एक-वचन स्त्रीलिंग कितनी का प्रयोग , उनके अकेलेपन और उदासी को प्रकट करता है । तृतीय से लेकर आठवीं पंक्ति तक में प्रयुक्त `कितनी` का (अन्वय) अंतिम पंक्ति की `कितनी` से है। दसवीं पंक्ति में द्वितीय बार प्रयुक्त `कितनी का अर्थ `कुछ नहीं` है।

२- क्रिया का सामंजस्य भी द्रष्टव्य है - विवशता कविता में काल के दो प्रयोग हैं - १.वर्तमान और २.असत्यार्थसूचक । कविता के पैटर्न को देखते हुए ये पूर्ण संगत है ।

३- लिंग सामंजस्य, `कितनी `की आवृत्ति में तो है ही,साथ ही अन्य जैसे शाम, घड़ी-देर, बिल्ली की फेर , रोशनी, रात, बात आदि भी स्त्रीलिंग में हैं, इनका सामंजस्य विवशता से है।

४- वाक्य-विन्यास के पैटर्न में आवर्तन का सामंजस्य देखा जा सकता है, ३,४,५,६ पंक्तियों की संरचना लगभग एकसी है। प्रथम और द्वितीय पंक्ति की संरचना भी समान है।

(ख) अक्षर-योजना -का सामंजस्य भी विवेचनीय है। यदि शब्द ऐसे हैं जो समान स्वरों (गुण और संख्या दोनों) से बने हैं तो वे संगीतात्मक प्रभाव उत्पन्न करने में सक्षम होते हैं। विवशता कविता में शब्द चार अथवा तीन अक्षरों के ही अधिक हैं। प्रत्येक पंक्ति का प्रारंभ समान अक्षर योजना से हुआ है - `कितनी ` (सी वी सी वी सी वी)

(ग) अनुप्रास - अनुप्रास भी सामंजस्य का एक प्रकार है । - इस दृष्टि से इस कविता में १ और २ (शाम, निष्काम) , ३ और ४ (टेर,फेर) ५ और ६ (पिपासा, अभिलाषा,) ७ और ८ (रात, बात), ६ और १०(पथराये, पाये), पंक्तियों के प्रयोग द्रष्टव्य हैं । इस प्रकार के प्रयोग से भी संगीतात्मक प्रभाव उत्पन्न होता है ।

पैटर्न का सामंजस्य २,३,४,५,६ पंक्तियों के मध्य में देखा जा सकता है । विशेषण उपवाक्य की रचना पूर्णत: समान है ।

४- असामान्य प्रयोग :-

सामान्य , स्वीकृत प्रयोगों से विलक्षण प्रयोगों को सौन्दर्यात्मक दृष्टि से महत्वपूर्ण माना जाता है । इस प्रकार के प्रयोगों का शैली-शास्त्रीय अध्ययन के अन्तर्गत विश्लेषण किया जाना चाहिए । व्याकरण विरुद्ध प्रयोगों के चमत्कार का उद्घाटन भी आवश्यक है । विवशता कविता के ऐसे प्रयोग निम्नलिखित है -

१- भारी शाम, २- बहकी - बहकी टेर, ३- टूटी-टूटी सी विहगी की फेर, ४- सहमी-सहमी सी पिपासा, ५- सिमटी-सिमटी अभिलाषा, ६- चुप-चुप गयी रोशनी, ७- छिप-छिप आयी रात, ८- सिहर-सिहर कर फूटी बात ।

उपर्युक्त सभी प्रयोग भाषा के सामान्य प्रतिमान की पृष्ठभूमि में नूतन लगेंगे । यदि 'सिमटी-सिमटी ....' संरचना बनाई जाय तो सिमटी के आगे भरने को अनेक शब्द मिल जाएंगे, जैसे साड़ी, लड़की आदि पर अभिलाषा नहीं मिलेगी । ये पद विशेष रूप से व्यंजक अत: काव्यात्मक होते हैं ।

५- बिम्ब - कविता की शैली में बिम्ब विशेष प्रभाव उत्पन्न करते हैं, कविता को जीवंत बना देते हैं । (क) कुछ बिम्ब दृश्य होते हैं लगता है

हम आँखों से देख रहे हों । विवशता कविता की छठी पंक्ति में 'सिमटी-सिमटी सी जल पर तट-तरु अभिलाषा में दृश्य बिम्ब है - अभिलाषा के मूर्तिकरण के साथ-साथ उसका सिमटना भी प्रत्यक्ष हो जाता है । चतुर्थ पंक्ति का बिम्ब भी दृश्य है ।

(ख) कुछ बिम्ब श्रव्य होते हैं - हम उन्हें सुनते हैं जैसे इस कविता की 'बहकी-बहकी - सी दूरागत बंशी-टेर' पंक्ति का बिम्ब ।

(ग) स्पर्श्य बिम्ब में हम स्पर्श की सिहरन का अनुभव करते हैं । इस कविता की ८ वीं पंक्ति का बिम्ब स्पर्श्य कोटि का है ।

अन्य बिम्बों का भी इसी प्रकार विश्लेषण किया जा सकता है ।

६- अलंकरण -

मूर्तिकरण भी अलंकार है । अमूर्त और सूक्ष्म वस्तुओं के साथ मूर्त और जीवंत प्राणियों की क्रियाओं का प्रयोग कर उन्हें मूर्त और जीवंत सदृश्य प्रस्तुत किया जाता है । टेर, फेर, पिपासा, अभिलाषा आदि अमूर्त हैं, इन्हें अनुभव किया जा सकता है । इनके साथ विशिष्ट क्रिया विशेषणों का प्रयोग कर मूर्त किया गया है ।

७- छंद - मात्राओं का पैटर्न भी विचारणीय बिन्दु है । विवशता कविता में सत्ताईस मात्राओं की योजना सात बार प्रयुक्त हुई है । शेष २, ५, ६ पंक्तियां भी इसी योजना के निकट हैं । इस सामंजस्य से भी लयात्मक प्रभाव उत्पन्न होता है ।

ध्वनिसिद्धान्त की दृष्टि से दसवीं पंक्ति की आवश्यकता न थी 'चार नयन मुसकाये, खोये, भीगे फिर पथराये' ही विवशता की व्यंजना के लिए पर्याप्त है । इस पंक्ति से अनुभाव मुखेन विवशता व्यंजित हो ही रही है । 'नयन पथराये' से अन्य पदों की सन्निधि के कारण 'कुछ न कह पाने' का अर्थ व्यक्त होता है ।

ध्वनिसिद्धान्त की शब्दावली में `विवशता` कविता की संघटना माधुर्य - प्रसाद गुण युक्त, अल्पसमासा अथवा असमासा है। तीव्रघुटन, न कह पाने की नियति की स्वीकृति और अतृप्त प्रेम इसका व्यंग्य है। विवशता स्वशब्दवाच्य है, पर बुरी नहीं लगती।

इस प्रकार काव्यशास्त्र और भाषाशास्त्र के योग से शैलीशास्त्र विषयक धारणाओं का विकास होता है।

काव्यशास्त्र केवल विधि-निषेध परक शास्त्र नहीं है, उसमें विश्लेषण - प्रविधियों के स्पष्ट संकेत हैं।

५.७ जर्मन विद्वान मनफ्रेड बीअरविश (Manfred Bierwish) ने काव्य वैज्ञानिक विश्लेषण विषयक दो अतिमार्गों का उल्लेख किया है। एक है हरमेन्यूटिक संप्रदाय (Hermeneutic school) जो कविता की संरचना से ही उसका मूल्यांकन करना समुचित मानता है। इस संप्रदाय के अनुसार कविता पर पूर्वनिर्धारित नियमों को लादने की आवश्यकता नहीं है। प्रत्येक वस्तु अन्य वस्तु से भिन्न है, अद्वितीय है अत: एक वस्तु से संबद्ध नियमों का शासन दूसरी वस्तु पर प्रवृत नहीं किया जा सकता। दूसरे प्रकार का अतिमार्ग वह है जिसमें काव्य के विशिष्ट गुणों का उद्घाटन करने के लिए सांख्यिकीय प्रणालियों का उपयोग किया जाता है - जैसे छंद की पंक्तियां, पंक्तियों के अक्षर, प्रघट्टक में पंक्तियों की लंबाई आदि का परिमापन। इस प्रकार गणना कर कुछ सूत्र बनाए जाते हैं। हमारी दृढ़ धारणा है इस प्रकार की गणितीय सूत्ररचना काव्य के संदर्भ में विशेष उपयोगी नहीं है। प्रथम दृष्टि में ऐसा प्रतीत होता है कि काव्यशास्त्र का उद्देश्य साहित्यिक ग्रंथ हैं। परन्तु थोड़ा विचार करने पर यह स्पष्ट होता है कि वस्तुत: काव्यशास्त्र का प्रतिपाद्य उन कतिपय नियमितताओं का वर्णन है जिनकी उपस्थिति से काव्य के विशिष्ट प्रभाव निर्धारित होते हैं, रचना काव्यपद की अधिकारिणी होती है। बीअरविश ने काव्यशास्त्र

और भाषाशास्त्र के संबंध को स्पष्ट करते हुए कतिपय निष्कर्ष प्रस्तुत किए हैं। भाषाशास्त्र के ट्रांसफार्मेशनल दृष्टिकोण का उद्देश्य व्यक्ति को उसके सीमित शब्द ध्वनि आदि विषयक कोश से ही असंख्य वाक्य बना लेने की क्षमता प्रदान करना है। प्रत्येक भाषा में संयोजन संबंधी कतिपय नियम होते हैं। इन नियमों की सहायता से, अपने सीमित भाषा तत्वों के कोश से ही मनुष्य अनेक वाक्यों का निर्माण तथा प्रयोग करता है। वाक्यों की निरन्तर वर्धमान संख्या प्रयोक्ता की इच्छा पर निर्भर करती है। वाणी की प्रत्येक क्रिया के मूल में निहित इस योग्यता को कुछ व्यवस्थित नियमों द्वारा व्यक्त किया जा सकता है, इसे नियमों की व्यवस्था भी (System) कहा जाता है। इस व्यवस्था का निवेश (Input) आरंभिक प्रतीक वाक्य होगा तथा भाषा के वे सभी वाक्य --जिनका संदर्भ यहां हैं -- उत्पाद्य होंगे। इस प्रकार यह व्यवस्था गणित की प्रविधि के समान वाक्यों को उत्पन्न करेगी। इस प्रक्रम की रूपरेखा निम्नलिखित विधि से प्रस्तुत की जा सकती है।

प्रथम सूत्र :-

वाक्य -------- [G] ------ s_1. s_2 . . s_3

G व्युत्पादक (Generative) व्यवस्था है, इसका निवेश आरंभिक वाक्य है। s_1. s_2. s_3 . . . . s_n भाषा के पृथक - पृथक वाक्य हैं। यह व्यवस्था (G) केवल शब्दों अथवा ध्वनियों के अनुक्रम ही उत्पन्न नहीं करती वरन् इन अवयवों में संबंध भी स्थापित करती है, तभी वाक्य निष्पन्न होता है। इसका तात्पर्य यह है कि व्यवस्था G यह भी निर्धारित करेगी कि वाक्य ठीक है, संदिग्ध है अथवा द्वयर्थक है। और क्रियाविशेषणात्मक विशेषक भी प्रतीत हो तो संदिग्धता की स्थिति ही रहेगी। वाक्य में प्रयुक्त संज्ञा-निपातादि का वर्णन और उनके

पारस्परिक संबंध का विवेचन संरचनात्मक विवरण (SD) कहलाते हैं । व्यवस्था G शब्दों के संयोजनों के अतिरिक्त संरचना विवरणों (Structural Descriptions) - SD_2 को भी उत्पन्न करता है । इस व्यवस्था G के अनेक अवयव हैं --

वाक्य
G ----------- अर्थ
ध्वनि

इन अवयवों का संबंध ऐसा है कि अर्थविज्ञान अर्थ का विवरण देता है, स्वनिमशास्त्र स्वनिम संरचना की व्याख्या करता है । इन दोनों की व्याख्याओं का आधार वाक्य संरचना (Syntactic structure, SS) होती है । इस दृष्टि से सूत्र की रूपरेखा निम्नलिखित होगी-

द्वितीय सूत्र :-

P के अंतर्गत किसी वाक्य की सभी नियमित औच्चारणिक विविधताएं सन्निहित हैं । M में वाक्य की सभी वाक्यविहित और अर्थविहित विविधताएं हैं । सूत्र २ से स्पष्ट है कि प्रथम सूत्र के प्रत्येक S_n का विवरण एक M तथा एक P के द्वारा दिया जा सकेगा । इस व्याख्या में भाषिक निहन की द्विविधता स्वीकार की गई है । जिन अवयवों की चर्चा यहां की गई है, उनके अनेक उपअवयव होते हैं ।

प्रत्येक वाक्य का पारिणामिक संरचना विवरण (SD) अनेक स्तरों से निर्मित होता है - इन स्तरों में अनेक संरचनात्मक पदा विभूत होते हैं ।

इस प्रकार प्रक्रम की व्यवस्था से, सिद्धान्तत: प्रकृत भाषा के असंख्य वाक्यों के वैशिष्ट्य को प्रकट किया जा सकता है। इस सीमित व्यवस्थायंत्र द्वारा संरचनात्मक विशेषताएं (Structural Chara- -cteristics) भी स्पष्ट की जा सकती हैं। इस दृष्टि से भाषा उत्पादक व्यवस्था (Generative System) द्वारा उत्पन्न वाक्यों का समुच्चय (Set) होगी। यदि भाषा को L से व्यक्त करें, s_1, s_2, s_3 .... आदि G व्यवस्था द्वारा उत्पन्न वाक्य हों तो -

$$L \in (s_1, s_2, s_3 \ldots\ldots s_n)$$

होगा। यदि इस व्यवस्था को स्वनिमयोजना और वाक्य तक ही सीमित न रखा जाय, इसमें अर्थ भी समाहित किया जाय तो यह व्याकरण महान विश्वसनीय व्याख्या हो सकेगी, इसमें संदेह नहीं है। पाणिनीय व्याकरण ऐसी ही महान व्यवस्था है। यहां एक और महत्वपूर्ण प्रयोग-सिद्ध तथ्य व्याख्या की अपेक्षा रखता है।

काव्य में व्याकरण विरुद्ध (deviations) वाक्य भी काव्यात्मक प्रभाव उत्पन्न करते हैं, सामान्य व्यवहार में भी ऐसे प्रयोग देखे जाते हैं। अत: व्यवस्था (System) में यह सामर्थ्य भी होनी चाहिए कि वह सामान्य से भिन्न वाक्यों की भिन्नता के स्तरों तथा प्रकारों का भेद व्यक्त कर सके।

उपर्युक्त व्याकरणिक सिद्धान्त में यह क्षमता है। यदि यह माना जाय कि व्याकरणिक व्यवस्था केवल उन्हीं वाक्यों और संबंधी को निष्पन्न करती है जो साधारणत: व्याकरणसम्मत माने जाते हैं। तथा सभी विपथित (Deviant) वाक्य संबंधों की गौण व्यवस्था द्वारा निष्पन्न हैं। यह गौण व्यवस्था इन वाक्यों को G द्वारा उत्पन्न संरचनात्मक विवरणों (SDs) से भी जोड़ती है। तब इसका तात्पर्य होगा कि विपथित वाक्य सदोष संरचनात्मक विवरणों (SDs)

वाले होंगे। इस प्रकार इस प्रकार के और सामान्य संरचनात्मक विवरण वाले वाक्यों के अंतर को स्पष्ट कर वाक्यों के असामान्य अंशों और प्रकारों का आख्यान किया जा सकेगा। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि विपथित वाक्य (Deviant sentences) G व्यवस्था के नियमों के अतिक्रमण से उत्पन्न होते हैं।

सामान्य वाक्य प्रयोग द्वारा परीक्षणीय - ज्ञेय सामग्री है। यद्यपि इन्हें प्राप्त करना व्यावहारिक दृष्टि से सरल नहीं है। यह भ्रम नहीं करना चाहिए कि G व्यवस्था सामान्य और असामान्य वाक्यों के औचित्य का कथन भी करेगी। G केवल यह बतलाती है कि किन गुणों और किन नियमितताओं से सामान्यता उत्पन्न होती है, अथवा असामान्यता कैसे उत्पन्न होती है। यह व्यवस्था G असामान्यता उत्पन्न करने वाली रुचियों के कारणों के विषय में कुछ नहीं कह सकती। वक्ता और श्रोता के बीच घटित प्रक्रिया के संबंध में भी यह मौन है।

व्यवस्था के विस्तार में यह भी माना जाएगा कि यह व्यवस्था केवल वाक्य ही उत्पन्न नहीं करती, वाक्यों के अनुक्रम -- पूर्ण कथन भी उत्पन्न करती है।

जकोबसन तथा लौत्स् ने छंद व्यवस्था की कल्पना करते हुए कहा है कि यह व्यवस्था छंद के आधारभूत अवयवों तथा उनके संबंधों की सटीक व्याख्या करती है। यह व्याख्या इस बात को बतलाने में समर्थ होनी चाहिए कि कौनसा छंद उस व्यवस्था में उपयुक्त है, कौनसा नहीं, सभी संभव छंदरूप निरुपित सिद्धान्त व्यवस्था से व्युत्पन्न किये जा सकने चाहिए।

छंद सूत्रों का समुच्चय, एक प्रकार से, उपरिकथित व्याकरणिक व्यवस्था का समानधर्मी है। यह वह छंद व्यवस्था है जो सभी छंदों को उत्पन्न करती है तथा आकस्मिक अथवा जानबूझ कर किये गये सभी विपथनों को स्पष्ट करती है।

व्याकरण और छंद व्यवस्था में अंतर यह है कि छंद व्यवस्था व्याकरण द्वारा प्रस्तुत तत्वों से ही निर्मित है किन्तु व्याकरण-व्यवस्था भाषेतर किसी अन्य वस्तु पर आधारित न होकर पूर्ण स्वतंत्र है। काव्यात्मक संरचनाएं जैसे छंद, अंत्यानुप्रास, सानुप्रासिकता आदि परजीवी संरचनाएं हैं, इनका मूलआधार भाषिक संरचनाएं ही हैं।

उत्पादक व्याकरण (Generative Grammer) के उपर्युक्त परिभाषात्मक विवरण के अनंतर काव्यात्मक संरचना (Poetic Structure) को व्याकरण से संबद्ध किया जा सकता है। माना PS' एक काव्यात्मक व्यवस्था है। यह व्यवस्था चयनधर्मी प्रक्रम है। इस प्रक्रम (Mechanism) की आधारभूत सामग्री उपर्युक्त G व्यवस्था द्वारा निष्पन्न संरचना-विवरण हैं। काव्यात्मक व्यवस्था से दो प्रकार की सामग्री निर्गत होती है। SD_1 और SD_2। इनमें SD_1 वह संरचना विवरण है जो काव्यात्मक नियमों के अनुकूल है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि PS' वाक्य की काव्यात्मकता - अकाव्यात्मकता का निर्धारण करने वाली विवेकक्षम प्रणाली है। यह व्यवस्था एक प्रकार से मान्यताप्रदायी व्याकरण के समकक्ष होगी। इसमें शब्दों के अनुक्रम ग्रहण किए जाएंगे और यह निर्णय निर्गत होगा कि अनुक्रम पूर्णतः व्याकरणसम्मत था या नहीं। जैसे मान्यताप्रदायी व्याकरण में व्याकरणसम्मत सामान्य वाक्यों और विपथित वाक्यों में भेद करने वाले नियम होते हैं वैसे ही PS' काव्यात्मक व्यवस्था में नियमों की ऐसी सुनिश्चित व्यवस्था होगी जो काव्यात्मक संरचनाओं और काव्येतर संरचनाओं में भेद करेगी।

उपर्युक्त प्रक्रम PS' की अपेक्षा किंचित व्यापक प्रक्रम PS की कल्पना अधिक उपादेय होगी। यह प्रक्रम PS यह बतलाएगा कि दो संरचना विवरणों (SD_s.) में से कौन सा कतिपय काव्यात्मक

नियमितताओं के अधिक निकट है। अर्थात् PS प्रक्रम कुछ संरचना विवरणों को काव्यात्मकता के मानदण्ड में अनुक्रमित करेगा। इस स्थिति में व्याकरण की दृष्टि से विपथित वाक्यों के संरचना विवरणों पर भी विचार करना चाहिए। क्योंकि अनेक व्याकरण विरुद्ध कथनों की प्रेरणा काव्यात्मक संरचना PS के नियमों से होती है।

काव्यात्मक संरचना व्यवस्था का निवेश (Input) संरचना विवरण SD है। इस संरचना विवरण को PS एक मूल्यवत्ता देता है। नियमों का अतिक्रमण भी इस व्यवस्था द्वारा ज्ञेय है।

जैकोबसन के अनुसार काव्यात्मक प्रक्रम चयन के अक्ष से संयोजन के अक्ष में समतुल्यन के सिद्धान्त को प्रक्षेपित करता है। उपर्युक्त विवरण के प्रकाश में इसका तात्पर्य होगा कि किसी संरचना विवरण (SD) के दिए हुए अनुक्रम (Sequence) में ऐसे सत्व होते हैं जिनका वैशिष्ट्य समान वाक्यविन्यासमूलक, अर्थमूलक अथवा ध्वनिमूलक अनुगुणों द्वारा निरूपित किया जा सकता है। ये सत्व विशिष्ट होते हैं तथा काव्यात्मकता (Poeticality) के निकष में विशिष्ट मूल्य नियुक्ति का आधार प्रस्तुत करते हैं। इसी बात को और भी संक्षिप्त तथा सटीक रूप में निम्नलिखित प्रकार से कहा जा सकता है -

C तथा C′ दो संश्लिष्ट रचनाएं हैं, G व्यवस्था द्वारा इनकी व्याख्या की गई है। C तथा C′ दोनों में m सत्व (entities) हैं, इनमें n समान हैं, $n \leq m$ अर्थात् n या तो m के बराबर है अथवा m से कम। $n = m$ की स्थिति में दोनों रचनाएं समान होंगी। तब m की तुलना में n कितना हो कि C और C′ में काव्यात्मक संबंध है, यह स्थापित हो सके। जैकोबसन के अनुसार काव्यात्मक संरचना में व्याख्या करने वाले नियम निम्नलिखित रूप में प्रकट होने चाहिए

SD (C C′) ---------- SD (R (CC′))

R (cc') दोनों संरचनाओं का संबंध है। इस सूत्र को समुच्चय सिद्धान्त के अनुसार लिखा गया है, ⟶ चिह्न का तात्पर्य है SD (cc') को SD (R (cc')) लिखो। अर्थात् c और c' के संरचना विवरण के स्थान पर c और c' के संबंध का संरचना विवरण लिखा जाना चाहिए। उपर्युक्त विवरण के आधार पर निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त किए जा सकते हैं --

१. काव्यात्मक व्यवस्था PS, व्याकरणिक व्यवस्था G द्वारा व्युत्पन्न संरचना विवरणों पर क्रियाशील होती है।

२. इस काव्यात्मक व्यवस्था PS के नियम भाषिक संरचनाओं पर प्रवृत्त होते हैं पर स्वयं अति भाषिक (extralinguistic) होते हैं।

३. यह व्यवस्था स्वत: और स्पष्टत: यह बतलाती है कि किन नियमितताओं में काव्यात्मक प्रभाव का आधार है।

४. यह काव्यात्मक व्यवस्था इस प्रकार सूत्रबद्ध होनी चाहिए कि प्रत्येक निवेशित भाषा और प्रत्येक विशिष्ट काव्यात्मक प्रभाव का निकष बन सके।

५. विशेष काव्यात्मक व्यवस्थाओं की विशेष समस्याओं के अध्ययन से काव्यात्मक व्यवस्था के विशिष्ट परिप्रेक्ष्यों की गवेषणा की जा सकती है। जैसे भाषिक सिद्धान्तों में सामान्यरूप का अध्ययन किया जा सकता है, ठीक उसीप्रकार काव्यात्मक व्यवस्था के सामान्य स्वरूप का अध्ययन किया जा सकता है।

६. अंतत: काव्यात्मक व्यवस्था के भाषेतर सौन्दर्यशास्त्रीय पक्ष को भी समुचित रूप से समझा जा सकता है।

७. यह माना जाता है कि जानबूझ कर किए गए व्याकरण विरुद्ध प्रयोगों से काव्यात्मक प्रभाव उत्पन्न होते हैं, पर प्रत्येक व्याकरण विरुद्ध प्रयोग से काव्यात्मक प्रभाव उत्पन्न नहीं होता।

५.८ ध्वनिसिद्धान्त, वस्तुत: एक काव्यात्मक व्यवस्था का सिद्धान्त है। इसके निश्चित नियमों की व्यवस्था काव्यात्मकता अथवा अकाव्यात्मकता का निकष प्रस्तुत करती है। इस सिद्धान्त द्वारा प्रस्तुत व्यवस्था के निवेश (Input) व्याकरण द्वारा व्युत्पन्न संरचनाएं हैं। ध्वनिसिद्धान्त की व्यवस्था शब्द और अर्थ पर प्रवृत होती है। यह व्यवस्था चयनधर्मी भी है -

सो अर्थ: तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन ।
यत्नत: प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवे : ।।

ध्वनिसिद्धान्तीय काव्यात्मक व्यवस्था निवेशित संरचनाओं में से कतिपय को काव्यात्मक मानती है, अन्य को नहीं।

ध्वनिसिद्धान्त प्रतिपादित काव्य व्यवस्था के नियम भाषिक संरचनाओं पर प्रवृत होते हैं, परन्तु ये नियम स्वयं में भाषाशास्त्रेतर हैं। ध्वनिसिद्धान्त स्वत: उन नियमितताओं की व्याख्या करता है जिनसे काव्यात्मकता उत्पन्न होती है। इस व्यवस्था के नियमों द्वारा भाषा के प्रत्येक निवेश तथा विशिष्ट काव्यात्मक प्रभाव की व्याख्या संभव है। इस काव्य व्यवस्था के भाषाशास्त्रेतर सौन्दर्य पक्ष की व्याख्या इस ग्रन्थ के तृतीय खंड में की गई है।

ध्वनिसिद्धान्त, व्युत्पत्तिमूलक व्याकरण के सदृश एक ऐसी व्यवस्था है जो वाक्य की काव्यात्मकता का निर्णय करती है। यह प्रतीयमान अर्थ की व्यवस्था है। यदि इस व्यवस्था को प्र. व्य संकेत से व्यक्त करें तो शब्द और अर्थ संरचनाएं इसकी प्रारंभिक निवेश सामग्री होगी होगी। यह व्यवस्था इस निवेशित सामग्री को तीन रूपों में विभक्त करती है। प्रथम वे संरचना विवरण जिनमें प्रतीयमान अर्थ वाच्यातिशायी है, जिन्हें यह व्यवस्था 'ध्वनि' कहती है। दूसरे वे संरचना विवरण (SD₅)

जिनमें प्रतीयमान अर्थ वाच्यार्थ के समान अथवा कम महत्वपूर्ण हैं, ऐसे संरचना विवरणों को यह व्यवस्था गुणीभूत व्यंग्य कहती है। तृतीय वे संरचना विवरण जिनमें व्यंग्य का स्पर्श नहीं है अथवा कवि की विवक्षा वैसी नहीं है, इस व्यवस्था के अनुसार चित्रकाव्य है।

```
                                              --------ध्वनि
शब्द और अर्थ          [--------]
-------- -----------  [ प्र.व्य ]  ------------ गुणीभूत व्यंग्य
संरचनाएं              [--------]
                                              -------- चित्र
```
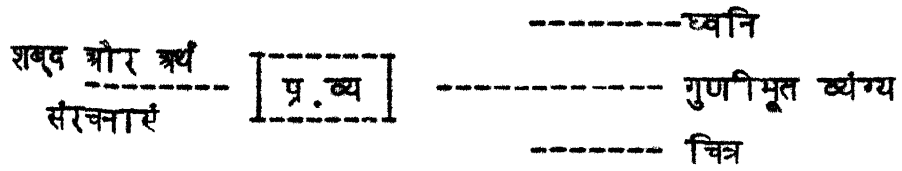
इस प्रकार यह व्यवस्था शब्द और अर्थ की संरचनाओं को काव्यात्मक मूल्यवत्ता प्रदान करती है। इसके अनुसार काव्यत्व विविध शब्द-अर्थ संरचनाओं द्वारा उत्पन्न वाच्यातिशायी प्रतीयमान अर्थों का समुच्चय (Set) है।

ध्वनिसिद्धान्त की इस काव्यात्मक व्यवस्था के नियमों को दो रूपों में रखा जा सकता है --

१. जहाँ अर्थ स्वयं को, शब्द अपने अर्थ को प्रतीयमान अर्थ के प्रति उपसर्जन करदे, वहाँ विद्वानों ने ध्वनि व्यपदेश किया है। अत: ध्वनिसिद्धान्त, शब्द और अर्थ की प्रतीयमान अर्थ के प्रति स्वोपसर्जन की व्यवस्था है। यह व्यवस्था व्यंग्य - व्यंजक भाव पर आधृत है। यही वह प्रधान निकष है जो शब्द और अर्थ की काव्यत्व विषयक मूल्यवत्ता का निर्णय करता है।

२. इस व्यवस्था का द्वितीय महत्वपूर्ण नियम यह है कि वाच्य-वचक पर आधृत चारुत्व हेतुओं का भी प्रतीयमान रस के प्रति तत्परता का भाव होना चाहिए।

३.प्रतीयमान रस के आश्रित रहने वाले गुण कहलाते हैं।

४. रसादिप्त अलंकार ही ग्राह्य हैं ।

५. औचित्य का परिपालन सर्वत्र वांछित है ।

अत: यह निष्पन्न होता है कि आनंदवर्धन ने ध्वनि की प्रेरणा ही वैयाकरणों से ग्रहण नहीं की वरन् भारत की प्रसिद्ध व्युत्पत्तिमूलक व्याकरण-परंपरा के स्वरूप के आधार पर ही इस सिद्धान्त व्यवस्था को विकसित भी किया है ।

...

अ ध्या य - ६

ध्वनिसिद्धान्त और सौन्दर्यशास्त्रीय संदर्भ

६.१ भारतीय चिन्तन-परम्परा में ललित-कलाओं के अन्तर्गत स्थापत्य संगीत तथा काव्य, इन तीन कलाओं का विधान है। इन्हीं तीन कलाओं का स्वतंत्र अस्तित्व स्वीकार किया गया है, मूर्ति और चित्रकला का गौण स्थान है। इसलिए भारतीय सौन्दर्यशास्त्र विषयक अवधारणाएं उपर्युक्त तीनों कलाओं , रस-ब्रह्मवाद, नाद-ब्रह्मवाद तथा वस्तु-ब्रह्मवाद का निरूपण करती हैं।[१] पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्री हेगेल ने ललितकलाओं की सूची में मूर्ति और चित्रकला को भी सम्मिलित किया है।

काव्य, काव्य-सौन्दर्य एवं उसकी अनुभूति के विषय में भारतीय काव्यशास्त्र में अत्यन्त प्रौढ़ विचार उपलब्ध हैं। काव्य-कला के इस विस्तृत एवं गंभीर वर्णन का कारण इस कला का सर्वश्रेष्ठ माना जाना है। काव्यकला में भी नाट्य को सर्वोच्च स्थान दिया गया है। नाट्य में सभी कलाएं अंतर्निहित हैं।[२] अत: नाट्य के संदर्भ में ही संगीत, मूर्ति आदि कलाओं का विवेचन भी किया गया है।

१- कम्पेरेटिव एस्थेटिक्स, वाल्यूम १, डा० के०सी० पाण्डेय, पृ.१

२- न तज्ज्ञानं नतच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
नासौ योगो न तत्कर्म नाट्ये स्मिन् यन्न दृश्यते।।

नाट्यशास्त्र १-११७

भारतीय काव्य चिन्तन की इस परंपरा में - ज्ञान की इस शाखा को आरंभ में `अलंकारशास्त्र` कहा गया था । आचार्य वामन[१] ने अलंकार को सौन्दर्य प्रतिपादित किया है, अत: अलंकारशास्त्र सौन्दर्यशास्त्र ही है । परन्तु यह सौन्दर्यशास्त्र केवल काव्य के सौन्दर्य से ही संबद्ध है । आज हिन्दी में `सौन्दर्यशास्त्र` शब्द `एस्थेटिक्स` के पर्याय रूप में प्रयुक्त हो रहा है । अत: इस `सौन्दर्यशास्त्र` में जो अर्थ है उसका समाहार निश्चय ही भारतीय `अलंकारशास्त्र` में नहीं होता । संस्कृत काव्यशास्त्र में प्रयुक्त `अलंकारशास्त्र` काव्य से ही संबद्ध है, अत: उसे काव्यशास्त्र ही कहा जाना चाहिए । तब भी , भारतीय काव्यशास्त्र में ललितकलाओं के सौन्दर्य का विधान और विश्लेषण करने वाले तत्वों का आख्यान है । कतिपय काव्यशास्त्रीय सिद्धान्त तो ऐसे हैं जिन्हें सामान्यत: सभी कलाओं के सौन्दर्य का निकष बनाया जा सकता है ।

६.२ सौन्दर्यशास्त्र और काव्यशास्त्र

आधुनिक सौन्दर्यशास्त्र के अंतर्गत ललितकलाओं के सौन्दर्यविधायी तत्वों का गंभीर विवेचन किया जाता है । कौन से तत्व ललितकलाओं के सौन्दर्य का विधान करते हैं ? उन तत्वों का कितना और कैसे समायोजन होता है ? कला-सौन्दर्य-विषयक उपर्युक्त जिज्ञासाओं का समाधान करने का प्रयत्न सौन्दर्यशास्त्र करता है । अधुनातन रूप में सौन्दर्यशास्त्र का विकास पाश्चात्य चिन्तन में हुआ है । बाउमगार्तेन से सेंट्सबरी तक सौंदर्य-शास्त्रीय चिन्तन की एक दीर्घ परंपरा वहां विद्यमान रही है । सौन्दर्यशास्त्र की उपर्युक्त परिभाषा इसी परंपरा का सुचिंतित परिणाम है । इस परिभाषा के अनंतर यह कहा जा सकता है कि सभी ललितकलाओं के सौन्दर्य से संबद्ध होने के कारण सौन्दर्यशास्त्र का क्षेत्र व्यापक है । इसकी तुलना में काव्यशास्त्र का क्षेत्र सीमित है, उसमें केवल काव्य-सौन्दर्य से

---

१. काव्यालंकारसूत्र, १-१२ - `सौन्दर्यमलंकार:`

संबद्ध तत्वों का सूक्ष्म विवेचन किया जाता है ।

सौन्दर्यशास्त्र विषयक हिन्दी ग्रंथों में प्रत्यक्षत: और काव्यशास्त्रीय ग्रंथों में प्रसंगत: काव्यशास्त्र और सौन्दर्यशास्त्र का अंतर बतलाया गया है । 'सौन्दर्यशास्त्र के तत्व' पुस्तक में काव्यशास्त्र और सौन्दर्यशास्त्र में एक 'ध्यातव्य अंतर' यह कहा गया है कि 'सूक्ष्म तात्विक सिद्धान्त परिकल्पन' का समावेश काव्यशास्त्र में किन्हीं स्थलों में ही होता है जब कि सौन्दर्यशास्त्र तो इस सूक्ष्म तात्विक सिद्धान्त परिकल्पन पर ही आधृत है ।[१] परन्तु यह भेदक लक्षण ग्राह्य नहीं है । संस्कृत काव्यशास्त्र को दर्शन-व्याकरणादि के समायोग ने तत्वदर्शी बनाया है - रस-व्यंजना-गुण और दोषों का सूक्ष्म विवेचन संस्कृत काव्यशास्त्र की अनन्य विशेषता है अतएव उसमें तात्विक-सिद्धान्त-परिकल्पन' का अभाव कहना प्रमाणसम्मत नहीं है ।

श्री डे[२] ने संस्कृत काव्यशास्त्र और सौन्दर्यशास्त्र में निम्नलिखित अंतर बतलाये हैं :-

१- काव्यशास्त्र का संबंध व्याकरण से है जब कि सौन्दर्यशास्त्र का व्याकरण से कोई संबंध नहीं है ।

२- काव्यशास्त्र में कल्पना की प्रक्रिया पर कोई चर्चा नहीं मिलती, हां प्रतिभा के प्रसंग में अवश्य कुछ कहा गया है जब कि आधुनिक सौन्दर्यशास्त्र में कल्पना-विश्लेषण उसका अपरिहार्य अंग है ।

उपर्युक्त भेदों में से प्रथम के संदर्भ में यह विचारणीय है कि यद्यपि सौन्दर्यशास्त्र का व्याकरण से प्रत्यक्ष संबंध नहीं है किन्तु काव्यसौन्दर्य की चर्चा के प्रसंग में सौन्दर्यशास्त्र में भी व्याकरण सम्मत आधार ग्रहण किए जाएंगे । जब सौन्दर्यशास्त्र काव्येतर कलाओं पर चर्चा प्रवृत्त होगा तो

---

१. सौन्दर्यशास्त्र के तत्व, डा० कुमार विमल , संस्करण १९६६, पृ.११
२. सम प्राब्लेम्स आव संस्कृत पोयटिक्स, एस० के० डे, सं०१९५९, पृ.५३

ललितकला संदर्भीय आधारों का विवेचन करेगा । व्याकरण से संबद्ध-असंबद्ध आदि भेद कथन वैसा ही है जैसे यह कहना कि चित्रकला का रंगों से संबंध है अथवा मूर्तिकला का पत्थरों से, पर सौन्दर्यशास्त्र का न तो रंग से न पत्थरों से । अत: यह भेद स्थापन विवेकपूर्ण नहीं कहा जा सकता । स्थापत्य, चित्रकला, संगीतकला आदि से संबद्ध जैसे पृथक-पृथक शास्त्र हैं, वे सब अपने-अपने विषय के सौन्दर्यविधायी तत्वों का, विधियों का सांगोपांग विवेचन करते हैं । वैसे ही काव्यशास्त्र-काव्यसौन्दर्य का विवेचन करता है -- सौन्दर्यशास्त्र इन सबका विवेचन करता है । जब चित्र कला का विवेचन किया जाता है तो उसकी आधारभूत सामग्री रंग, पट आदि का भी विश्लेषण होता है । जब काव्य सौन्दर्य की चर्चा सौन्दर्यशास्त्र में होती है तो शब्द-अर्थ की शक्ति और सीमा का तलस्पर्शी विवेचन किया जाता है । श्री डे के कथन का इतना अंश सत्य है कि जिस अर्थ में कल्पना का प्रयोग - विवेचन आधुनिक सौन्दर्यशास्त्र में है - उस अर्थ में संस्कृत काव्यशास्त्र में नहीं मिलता । परन्तु 'कल्पना' पद का प्रयोग संस्कृत काव्यशास्त्र में अवश्य है । और जिस अर्थ में आधुनिक काव्यशास्त्र में कल्पना पद व्यवहृत हो रहा है उस अर्थ में संस्कृत काव्यशास्त्र में 'प्रतिभा' का व्यवहार होता रहा है । प्रतिभा को ही शक्ति भी कहा गया है । यह शक्ति बीजरूप है जिसके अभाव में काव्य की रचना संभव नहीं है ।

वस्तुत: संस्कृत काव्यशास्त्र-चिन्तन का प्रधान लक्ष्य काव्य ही है । कतिपय विद्वानों की इस धारणा से अवश्य सहमत हुआ जा सकता है कि 'सौन्दर्यशास्त्र काव्यशास्त्र का ही विकसित और कला चैतन्य से समन्वित रूप है ।'[१] भारतीय और पाश्चात्य काव्यशास्त्र के चिन्तन का मुख्य विषय शब्दार्थ द्वारा व्यक्त वही सौन्दर्य है जो सौन्दर्यशास्त्र का भी

---

१. सौन्दर्यशास्त्र के तत्व, ले० डा० कुमार विमल, संस्करण,१९६७, पृ.१६

मूलभूत आधार है।' जिस प्रकार पाश्चात्य काव्यशास्त्र में हम 'ब्यूटी', 'एक्सेलेन्स', 'सब्लाइम' इत्यादि का अध्ययन पाते हैं, जो शब्दभेद से सौन्दर्य का ही अध्ययन है, उसी प्रकार भारतीय काव्यशास्त्र में भी सौन्दर्य, चारुता, विच्छित्ति, वक्रता अथवा शोभा का तलस्पर्शी अध्ययन किया गया है।

उपर्युक्त पंक्तियों में 'तलस्पर्शी अध्ययन' को स्वीकृति दी गई है, परन्तु तलस्पर्शी अध्ययन' सूक्ष्म सिद्धान्त परिकल्पक तत्वचिंतन के अभाव में संभव नहीं है, अत: 'सूक्ष्म सिद्धान्त परिकल्पक तत्वचिंतन' को काव्यशास्त्र और सौन्दर्यशास्त्र का भेदक लक्षण नहीं माना जा सकता।

भारतीय काव्यशास्त्र और पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र में एक और आधार पर भी अंतर बतलाया गया है। यह कि भारतीय काव्यशास्त्र रस, ध्वनि, रीति, वक्रोक्ति आदि के द्वारा काव्य के आत्मतत्व की गवेषणा में अधिक प्रवृत्त हुआ है, जब कि सौन्दर्यशास्त्र सौन्दर्य के संवेदनात्मक पक्ष को प्रमुखता देता है।[१] यह ठीक है कि काण्ट ने संवेदनाओं के दार्शनिक विवेचन को एस्थेटिक कहा है, परन्तु उपर्युक्त कथन का अर्द्धांश भ्रामक है। भारतीय काव्यशास्त्र काव्य के आत्मतत्व का विवेचन करते हुए भी संवेदनाओं और आस्वाद, सौन्दर्य और आनंद का पूर्ण विश्लेषण करता है। रस की संवेदना को अभिनवगुप्त ने स्पष्टत: आनन्दस्वरूप कहा है।[२] भट्टनायक ने भी भोग और आस्वाद का विवेचन किया है। लोल्लट की रससूत्र व्याख्या तो रंगमंच पर घटित विभावानुभावसंचारि की संघटना के ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष पर ही आधारित है। शंकुक का अनुमितिवाद भी ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष को महत्व देता है। अत: सौन्दर्य के संवेदनात्मक पक्ष की बात भी संस्कृत काव्यशास्त्र और सौन्दर्यशास्त्र का भेदक लक्षण नहीं है।

---

१. सौन्दर्यशास्त्र के तत्व ले० डा० कुमार विमल, १९६७, पृ.१९

२. 'अस्मन्मते तु संवेदनमेवानंदघनमास्वाद्यते' ..... अभिनव

स्पष्टतापूर्वक कहा जा सकता है कि केवल शब्द और अर्थ के माध्यम से उत्पन्न सौन्दर्य का सांगोपांग विवेचन करने वाला शास्त्र काव्यशास्त्र है - यहाँ शास्त्र का अर्थ `शंसनात् शास्त्र` अर्थात `अभिशंसन करनेवाला` ही है--और सभी ललित कलाओं के सौन्दर्यविधायी तत्वों तथा सौन्दर्यानन्द का सूक्ष्म विवेचन सौन्दर्यशास्त्र है। अतएव काव्यशास्त्र भी सौन्दर्यशास्त्र है पर केवल काव्य सौन्दर्य से संबद्ध। उसे व्यापक सौन्दर्यशास्त्र की एक शाखा कहा जा सकता है। इसका प्रमाण यह है कि कविता का सौन्दर्य शास्त्रीय अध्ययन किया जा सकता है पर अन्य कलाओं का काव्यशास्त्रीय अध्ययन नहीं हो सकता। सभी कलाओं और काव्य में अंत: संबंध का सूत्र विद्यमान है--कल्पना का प्रयोग सब में होता है-- बिम्ब और प्रतीक सभी कलाओं में महत्वपूर्ण साधन हैअत: सौन्दर्यशास्त्र के निष्कर्ष काव्य पर भी समान रूप से प्रयुक्त किये जा सकते हैं, अन्य कलाओं की ही भांति सौन्दर्य तो काव्य में भी है। इतना ही नहीं भारतीय परंपरा तो काव्य को अन्य कलाओं में वैचक्षण्य प्राप्त करने का साधन भी मानती है-- संभवत: इसलिए कि काव्य का अध्ययन व्यक्ति में वह हृदयवैशद्यता उत्पन्न करता है जिससे वह अन्य कलाओं को समझने योग्य सहृदयता प्राप्त कर सके। आचार्य भामह ने लिखा है --`उत्तम काव्य की रचना धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष - रूप चारों पुरुषार्थों तथा समस्त कलाओं में निपुणता और कीर्ति एवं प्रीति अर्थात आनंद को उत्पन्न करने वाली होती है।`[1] अन्य कलाएं जो भारतीय दृष्टि से पृथक रह गई हैं उसका मूल कारण भारतीय दृष्टि की लक्ष्य के प्रति एकनिष्ठता ही है। एक बात यह भी है कि बहुत सा प्राचीन साहित्य आज भी अज्ञात है -- यह संभव है कि अन्य ललितकलाओं से संबद्ध महत्वपूर्ण सिद्धान्त-साहित्य अभी प्रकाश में ही न आया हो, अस्तु।

---

१. धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिबंधनम्॥

काव्यालंकार - भामह

उपलब्ध काव्यशास्त्रीय ग्रंथों में जो भी विवेचन सौन्दर्य-कला-आत्मादि का मिलता है वह काव्य के संदर्भ में ही है --तथापि उनसे सामान्य कला-सौन्दर्य संबंधी निष्कर्ष प्राप्त किए जा सकते हैं।

६.३ ध्वनिसिद्धान्त और सौन्दर्यशास्त्रीय निकष

संस्कृत काव्यशास्त्रीय - आलोचना-प्रत्यालोचन परंपरा में आनंदवर्धन के ध्वनिसिद्धान्त की शुद्ध काव्यशास्त्रीय परीक्षा ही की गई है। रस का सौन्दर्यशास्त्रीय पक्ष उद्घाटित हुआ, ध्वनिसिद्धान्त को भी रस के आलोक में ही देखा गया - प्रकारांतर से उसे रस सिद्धान्त में सम्मिलित कर लेने तक के प्रयत्न किए गए। इस सिद्धान्त की सौन्दर्यशास्त्रीय मूल्यवत्ता अनावृत ही रही। वस्तुतः भारतीय परंपरा में अब तक भी - रससिद्धान्त इस प्रकार छाया रहा कि विद्वानों की दृष्टि ने ध्वनि जैसे महत्वपूर्ण सिद्धान्त की उपेक्षा की। काव्यार्थ के जिन सोपानों तक पाश्चात्य विद्वान अब पहुँचे हैं आनंदवर्धन ९ वीं सदी में उसकी अवधारणा कर चुके थे। ध्वनिसिद्धान्त के दो पक्ष हैं, परन्तु अबतक विद्वानों की दृष्टि इसके एक ही अंग पर गई। इस सिद्धान्त का सामान्य सौन्दर्यशास्त्रीय पक्ष अनुद्घाटित रहा। हमारी धारणा है कि इस सिद्धान्त का सौन्दर्य संबंधी अंश सभी कलाओं के लिए संगत है। यह अंश वस्तुतः सौन्दर्यशास्त्रीय सिद्धान्त ही है। यह कला-सौन्दर्य की शाश्वत व्याख्या प्रस्तुत करता है। आनंदवर्धन ने इस सामान्य कला- सौन्दर्य सिद्धान्त की स्थापना के अनंतर, इसका विशेष व्याख्यान काव्य-कला के संदर्भ में किया है। यहाँ इस सिद्धान्त के कलामात्र के लिए संगत अंशों का विवेचन किया जा रहा है।

६.४ कला सौन्दर्य की प्रतीयमानता :

ध्वनिसिद्धान्त प्रतीयमान अर्थ में सौन्दर्य मानता है, सौन्दर्य को

प्रतीयमानता का धर्म कहता है। यह भी कहा जा सकता है कि प्रतीयमान अर्थ ही सौन्दर्य है। प्रतीयमान अर्थ जो वाच्यार्थ से उसी प्रकार भिन्न है जैसे अंगनाओं में लावण्य उनके प्रसिद्ध अवयवों से `कुछ भिन्न` ही होता है। इस धारणा का समीकरण इस प्रकार बनेगा -

प्रतीयमान अर्थ = लावण्य = सौन्दर्य

अत: आनंदवर्धन ने सौन्दर्य को प्रतीयमान (Suggested) माना है। ध्वनिसिद्धान्त की यही महत्वपूर्ण धारणा है जो सौन्दर्यशास्त्रीय निकष प्रस्तुत करती है। सभी कलाओं में सौन्दर्यप्रतीयमान ही होता है और इस प्रतीयमान सौन्दर्य के प्रति उन कलाओं में प्रयुक्त होने वाले, माध्यम स्वरूप उपादानों का उपसर्जनीकृत भाव होता है। कला का सौन्दर्य अभिधेय नहीं होता। यदि ऐसा होता तो `सुन्दर` शब्द से सौन्दर्य की प्रतीति होनी चाहिए , पर वह नहीं होती। इसके विपरीत सुन्दर दृश्य, मूर्ति अथवा स्थापत्य के सामने होने पर और `सुन्दर` शब्द का प्रयोग न होने पर भी सौन्दर्य की अनुभूति होती है। सौन्दर्य की इसी प्रतीयमानता का प्रतिपादन आचार्य आनंदवर्धन ने किया है। काव्य के संदर्भ में अर्थ की प्रतीयमानता तो ध्वनिसिद्धान्त का विषय है ही यहां अन्य कलाओं के संबंध में सौन्दर्य की प्रतीयमानता (कथ्य की प्रतीयमानता) पर कुछ विस्तार से प्रमाण चर्चा अपेक्षित है।

काव्य में जैसे कथ्य को व्यक्त करने के माध्यम शब्द और अर्थ है, वैसे ही अन्यकलाओं में रंग, प्रकाश, छाया, उभार, प्रस्तर आदि हैं। जैसे काव्य में प्रतीयमान अर्थ के प्रति शब्द और वाच्यार्थ की तत्परता होती है वैसे ही रंग, रेखा, प्रकाश, छाया आदि की तत्परता कथ्य के प्रति होती है - ये उपादान स्वयं में लक्ष्य नहीं होते वरन् कथ्य - प्रतीति के साधन हैं - कथ्य इनमें प्रतीयमान (Suggested) रहता है। काव्य में प्रयुक्त प्रतीक-बिम्ब आदि भी प्रतीयमान अर्थ को व्यक्त करते हैं। यह कथ्य कवि की अपनी

अनुभूति स्वरूप होता है - कला में यह अनुभूति प्रतीयमान बन कर व्यक्त होती है। अन्य कलाओं में प्रयुक्त प्रतीकों की भी यही स्थिति है।

६.५ कला प्रतीक का वैशिष्ट्य :

कला प्रतीक तथा दैनिक जीवन में व्यवहृत प्रतीक में अंतर है। भाषिक प्रतीक के रूप में शब्द अभिधा द्वारा शासित होता है। जब शब्द कला प्रतीक के रूप में प्रयुक्त होता है तो वह अनुभूति की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति होता है और वह प्रतीक अन्य व्यक्ति में भी संविदनात्मक उपपादन द्वारा वही अनुभूति जगा सकता है, इस स्थिति में शब्द-व्यापार व्यंजना द्वारा संचालित होता है।

६.६ संगीत और प्रतीयमान सौन्दर्य

संगीत इस दृष्टि से शुद्ध कला प्रतीक है क्योंकि संगीतात्मक ध्वनियां शब्दध्वनियों के विपरीत संपूर्ण अभिधार्थ को त्यागकर शुद्ध आभिव्यक्तिक कार्यकलन संपादित करती है। इसीलिए काम्बेरिए[१] (Combarien) ने संगीत को अतीन्द्रिय संवेदी जीवन की ऊर्जा का अनुवाद कहा है। कूके (Cooke) ने इस कथन को स्पष्ट करते हुए कहा है 'संगीत मूल अनुभूति को सीधा प्रेषित करता है।'[२] संगीत में भाव रूपाकार धारण करता है और पुन: श्रोता में वही भाव उत्पन्न करता है। भाव की यह स्थिति प्रतीयमान ही हो सकती है - अन्यथा नहीं। बीथोवन की ग्लोरिया (Gloria) थीम (Theme) का विश्लेषण करते हुए कूके (Cooke) ने कहा है कि परमात्मा की सामर्थ्य और शान के संबंध में विचार करते समय उसे जिस प्रसन्नता का अनुभव हुआ - वही ग्लोरिया थीम (Gloria) में अभिव्यक्त हुई है। इस अनुभूति

---

१. संस्कृत पोएटिक्स, कृष्ण चैतन्य, पृ.१३६, १९६५

२. "Music conveys the naked feeling direct. It is emotion converted into form" - Deryck Cooke

- वही

के आवेग में बीथोवन आनंद से उछल पड़ा होगा, या वह चिल्ला पड़ा होगा, तब उसने अनुभूति को कतिपय वियना निवासियों के समक्ष व्यक्त किया था। परन्तु बीथोवन कलाकार था अत: अपनी आवेगपूर्ण प्रसन्नता की अनुभूति की ऊर्जा को क्षणभंगुर भौतिक शक्तिरूप में रूपांतरित करके ही शांत न हुआ, वरन् उसे स्थाई, पुन: उत्पन्न करने योग्य रूप में प्रस्तुत किया - ऐसे आनंद की संगीतमय ध्वनि के रूप में जिसे समस्त विश्व सुन सके। यह वस्तुत: कलाकार द्वारा कलासृजन के पूर्व की अनुभूति है। आनंदवर्धन ने `क्रौन्चद्वन्द्व` आदि श्लोक में इसी तीव्र अनुभूति की चर्चा की है। इससे एक निष्कर्ष यह भी उपलब्ध होता है कि कलात्मक प्रतीक का चयन अवचेतन की प्रक्रिया नहीं है। यह प्रतीक भावना की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति कर सकता है पर उसका प्रस्तुतीकरण इस प्रकार होना चाहिए कि वही भाव दूसरों में भी अभिव्यक्त हो। कला का प्रतीक सौन्दर्यशास्त्रीय मूल्य से समावृत होता है। वह केवल भाषिक प्रतीक नहीं होता। जिस कलाकार को संप्रेषण की महत्ता का ज्ञान है वह प्रतीक को इसी रूप में प्रयुक्त करेगा। यदि वह संप्रेषण की आवश्यकता का अनुभव नहीं करता, वह प्रतीकों की इस प्रयोग-व्यवस्था को नहीं समझता तो वह केवल अपने आवेग को प्रकट करता है। कूके (Cooke) ने इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए बीथोवन का ही उदाहरण दिया है। ईश्वर की महानता की अनुभूति सृजनात्मक कल्पना द्वारा एक कलाकृति के रूप में सामने आई है -- ऐसी कलाकृति, जिसमें संगीत में संभावित व्यंजना की शक्ति समाहित है। संगीत में विशिष्ट अवसरों की अनुगूंज होती है। यह अनुगूंज इसके वैशिष्ट्य में नहीं वरन जातीय गुण में होती है। जातीय मनोदशाओं और भावनाओं को ही यह श्रोता के मन में जाग्रत करता है।[१]

---

१. The specific occassions which is celebrated is echoed in the music not in its specificity but only in its generic character and in terms of the generic moods and feelings which it tends to arouse in the observer (The Arts and the art of criticism, Greene Princeton University Press 3rd edi. 1952., page 338)

संगीत की प्रसिद्ध संरचनाओं के रचयिताओं ने सूक्ष्मता से मानवीय अनुभूतियों, भावनाओं, मनोदशाओं की संभावनाओं को ग्रहण किया है तथा आकस्मिक प्रतीयमानता (Suggestion) के द्वारा मानव की इन अंत:स्थितियों को उत्प्रेरित किया है। निश्चय ही संगीत का यह प्रभाव पृथक-पृथक ध्वनियों में नहीं है। उनके विशिष्ट समायोजन में प्रतीयमानत: उपस्थित रहता है। अत: इसमें संदेह नहीं रह जाता कि संगीत-सौन्दर्य इसी प्रतीयमान प्रभाव (Suggested effect) में है। संगीत कलाकार अन्य स्थापत्य कलाकारों की भांति वैयक्तिकता को प्रस्तुत नहीं कर सकता, वह संगीत की अमूर्तता में किसी व्यक्तिविशेष के अथवा घटना के, अथवा वस्तुके विश्वजनीन वैशिष्ट्य को ही व्यक्त करता है। यह अभिव्यक्ति भी प्रतीयमान ही है।[३] अत: कहा जा सकता है कि संगीत का सौन्दर्य प्रतीयमान होता है। Eduard Hanslick ने संगीत के सौन्दर्य को किसी बाह्य विषय पर निर्भर न मानकर-कलात्मक विधि से संयोजित ध्वनियों में माना है। उनके अनुसार मूलत: आनंददायी ध्वनियों का संयोजन, उन ध्वनियों का आवर्तन, पुनरावर्तन, उनकी तीव्रता और मन्द्रता ही वह (संगीत सौन्दर्य) है।[३]

---

१. What the composet of these works have done is to explore with extrordinary subtlety man's feelings, emotions, and moods for their own sake, and with no more than an incidental suggestion as to a possible motivation for such inner states. Hence to listen to this music is to discover emotive and affective potentialities within oneself previously undereamed of. (page 336-337)

२. The Arts and the art Criticism page 338.

३. प्रोब्लेम्स इन एस्थेटिक्स - मारिस वीत्ज , पृ. ३८१

Eduard Hanslick के इस कथन से यह निष्कर्ष निकलता है कि संगीत का सौन्दर्य किसी ध्वनि विशेष में नहीं है, कतिपय सांगीतिक ध्वनियों के विशेष संयोजन में है, हां इस संरचना में कोई विशेष ध्वनि विशेष प्रभाव उत्पन्न कर सकती है - परन्तु यह प्रभाव अन्य ध्वनियों की सन्निधि के कारण ही संभव है। अत: ध्वनि नहीं, ध्वनियों का कलात्मक संयोजन प्रभाव उत्पन्न करता है। यह प्रभाव प्रतीयमान है, क्योंकि सांगीतिक योजना का प्रभाव किसी ध्वनि विशेष से वाच्य नहीं होता। इस प्रतीयमान प्रभाव की प्रतीति से श्रोता आनंद का अनुभव करता है। Eduard Hanslick संगीत सौन्दर्य का आधार सांगीतिक दृष्टि (Musical Idea) को मानता है - इतना ही नहीं इसे ही उद्देश्य भी प्रतिपादित करता है। वह संगीत को किसी अनुभूति अथवा विचार का वाचक नहीं मानता।[१]

परन्तु कंठ (Vocal) संगीत Eduard Hanslick के इस मत का समर्थन नहीं करता। इस प्रसंग में डा० रामानंद तिवारी[२] का यह कथन द्रष्टव्य है - `स्वरों के चढ़ाव-उतार उनकी भिन्नताएं तथा उनकी भंगिमाएं राग के रूप में अतिशय का विधान करती है। ठुमरी आदि के गायन में एक अन्य प्रकार का अतिशय उत्पन्न होता है। खयाल में विलंबित लय के द्वारा भाषा के दो-चार पदों का संगीत के कई गुने स्वरों में विस्तार होता है। ठुमरी में भाषा के दो-चार पद अनेक बार विभिन्न स्वर विधानों के अनुसार गाए जाते हैं। भाषा के इन्हीं पदों के गायन में स्वर योजना भिन्न होती है। स्वर योजना की इसी विभिन्नता के द्वारा भाषा के उन्हीं पदों में विभिन्न भाव ठुमरी में व्यंजित किए जाते हैं। उदाहरण के लिए `नजरिया तोरी लागी बनवारी` यह एक ही पद ठुमरी के गायन में विभिन्न स्वर योजनाओं

---

१. प्रोब्लेम्स इन एस्थेटिक्स, मारिस वीत्ज, पृ.३८१
२. साहित्यकला, , डा० रामानंद भारती, पृ.५६

के द्वारा क्षोम, रोष, उपालंभ, वेदना, हर्ष, आश्चर्य आदि विभिन्न भावोंका व्यंजक बन जाता है।` अत: कंठ संगीत में तो सौन्दर्य व्यंग्य है ही तबला आदि वाद्य यंत्रों में भी सामान्य स्वरों के अतिरिक्त विशेष भंगिमाएं और अंतर्ध्वनियाँ होती है। निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि संगीत का सौन्दर्य प्रतीयमान ही होता है।

६.७ चित्रकला सौन्दर्य की प्रतीयमानता

चित्रकला और स्थापत्यकला का सौन्दर्य भी निर्मायक आधारभूत उपादानों से पृथक ही है। शिल्प की प्रक्रिया में यह कला सौन्दर्य भी प्रतीयमान होता है। चित्रकला में रंगों के विविध प्रयोग विभिन्न व्यंजना करते हैं। प्रत्येक रंग में एक स्वतंत्र प्रभाव चेतना व्यंजित होती है। यह ध्यातव्य है कि ऐन्द्रिय चमत्कार अथवा रंग का आधिक्य अथवा तीव्र चमक एक ही बात नहीं है। ऐसे रंग जो आधिक्य अथवा गहराई के बिना ही चमकीले होते हैं, तड़क-भड़क प्रकट करते हैं तथा उनसे छिछलेपन का भाव व्यंजित होता है।[१]

रेमब्राण्ड् (Rambrandt) द्वारा प्रयुक्त रूपांतरित गहरे वर्ण विविध रंगछटाओं की व्यंजना करते हैं[२]। रंगों से सरसता और शुष्कता भी व्यंजित होती है। रंग के कुशल प्रयोक्ताओं में यह प्रयोग-वैशिष्ट्य दिखलाई पड़ता है। जैसे कुशल कवि एक व्यंजक शब्द द्वारा प्रतीयमान अर्थसौन्दर्य की छटा प्रस्तुत करता है-- वैसे ही कुशल कलाकार रंग के प्रयोग कर अभिप्रेत भाव की व्यंजना करता है। Titian, Constable और Renoir आदि कलाकारों के रंग प्रयोगों में सरसता व्यंजित होती है।

---

१. Problems in Aesthetics, Morris Weitz page 313. Mac.Com. 1959

२. 'Rembrandt's subtly modified dark tones suggest a great variety of color'- The source book p. 313.

इसके विपरीत Poussin जैसे महान् कलाकारों में शुष्कता का भाव प्रमुख है।[१] यह आवश्यक नहीं है कि रंग किसी रचना के अनिवार्य अवयव हों। ठोसपन की अभिव्यक्ति प्रकाश अथवा छाया के क्रमिक बढ़ाव द्वारा होता है। लियोनार्डो (Leonardo) और माइकेलेंजलो (Michel-angelo) में यह प्रविधि अपने चरमोत्कर्ष पर है। सामान्यत: ठोसपन की व्यंजना के लिए इस शिल्प का प्रयोग होता रहा है।[२]

पिअरो (Piero) की विशिष्ट रूप रचना में एक ठंडेपन का भाव व्यंजित होता है। निश्चय ही यह व्यंजना, उसके रेखांकन, रचना तथा अभिव्यक्ति का एकान्वित प्रभाव है। यह प्रभाव सौन्दर्य की चरम सीमाओं को व्यंजित करता है।[३]

रंगों की ही नहीं, रेखाओं की भी अपनी विशिष्ट व्यंजना होती है। Botticelli में रेखाएं गति के प्रभाव को व्यंजित करती है।[४] कभी-कभी ऐसा भी होता है कि चित्र में कोई कथा अथवा कथांश नहीं होता, भाव अथवा भावांश से संबद्ध कोई अभिव्यक्ति नहीं होती फिर भी उसमें प्रभावित करने की क्षमता होती है - दर्शक को स्वयं में तल्लीन कर लेने की क्षमता होती है। वह चित्र दर्शक को सहस्त्रों आनंददायी भावनाओं से आपूरित कर देने की सामर्थ्य रखता है।[५]

---

१. But there is another sense of the word for which we may find a synonym by a figure of speech, in "juoiness'as some thing opposed to dryness . . . . poussin in a great artist and an important colorist, yet the color in his picture is almost invariably dry. - The source book p. 315

२. Problems in Aesthetics. Morris Weitz. p. 315.

३ This dominant note of coolness ...to create a distinctive note of the highest esthetic excellence. Ibid. page 315.

४. वही

५. American Art 1700-1900 John. W.Mecou BREY p.69 Edition 1965.

चित्रकला-सौन्दर्य की व्यंजना में महत्वपूर्ण उपादान है उसके अवयवों की संगतता, अर्थात् एक अवयव की दूसरे अवयव से संगतता तथा प्रत्येक अवयव की पूरे चित्र से संगतता। यहां पूर्ण चित्र का तात्पर्य - एक विचार अथवा अनेक विचारों अथवा रूप रंग, प्रकाश-छाया आदि के एकान्वित प्रभाव से हैं। अंतत: चित्र एक प्रभाव ही है, एक प्रभाव की व्यंजना ही चित्र करता है। इस प्रभाव का उद्देश्य कोई विशिष्ट सत्य, भाव अथवा घटना अथवा कोई मनोदशा हो सकती है। संपूर्णता के संदर्भ के अभाव में संगतता की कल्पना नहीं की जा सकती और अवयवों की संगतता के अभाव में पूर्ण की कल्पना नहीं हो सकती। चित्र में यह संगतता उत्पन्न करना ही प्रतिभा की परीक्षा है -- कसौटी है।[१] दर्शक की भीतरी संगतता से आनंददायी एकात्मकता में कला व्यक्त होती है।

आधुनिक चित्र कला तो अर्थ की प्रतीयमानता पर ही निर्भर है। अमूर्त (Abstract) कला का संपूर्ण अर्थ प्रतीयमान ही होता है। स्थापत्य और चित्रकला में शुद्ध अमूर्तीकरण (किसी निश्चित भौतिक वस्तु, दृश्य अथवा घटना का सदृशीकरण)[२] उपस्थित नहीं करता। अमूर्तीकरण की प्रविधि में कलाकार पुनर्योजन द्वारा अपने अर्थ को सजेस्ट करता है।[३] वह अमूर्त आकार पर निर्भर करने को बाध्य होता है - अदृश्य संसार को व्यक्त करने के लिए उसे ऐसा करना ही पड़ता है। क्योंकि संसार उतना ही तो नहीं है जितना दिखलाई पड़ता है। रेथबन तथा हेज की पुस्तक[४] में कार्नीवाल के चित्र के रंगों और आकारों के पुन: संयोजन द्वारा एक दृश्य का बहुरूपदर्शी अनुस्मरण प्रस्तुत किया गया है। यह प्रस्तुतीकरण उत्तेजना को सघन बनाता है। इसी पुस्तक में पृ. ६६ पर एक चित्र ऐसा भी है जिसका अर्थ शब्दों में नहीं कहा जा सकता परन्तु इससे वक्रों और स्वच्छ आकृतियों के प्रति रूचि व्यक्त होती है।

---

१. Lectures on Art and Poetry : Washington Allston p.70

२. The Arts and the art of criticism : Greene, Princeton Uni Press. 3edi 1952 p. 92-93

३. Layman's guide to modern art : Rathbun and Hayes p.76 Fourth edition 1957

४. Ibid

अमूर्तीकरण की समस्त प्रक्रिया प्रतीयमानता पर आधृत है। पिकासो का 'आर्क आव मोशन' (Arc of motion) इसी दिशा में किया गया प्रयत्न था।[1] ध्वनि को आँख से देखा नहीं जा सकता -- कोई अनुकरणात्मक प्रक्रिया भी ऐसी नहीं जिसके द्वारा इसे उपस्थित किया जा सके। अत: जो चित्रकार इसे सजेस्ट करना चाहता है उसे वैज्ञानिक प्रमाणों पर ही निर्भर करना होगा। इसी पुस्तक में (रैथबन और हैज) एक चित्र का परिचय[2] देते हुए 'अनुगूंज' (echoed) पद का प्रयोग किया है। वस्तुत: यह चित्र कोहरे से आवृत जल की अनुभूति है -- जिसने इस घटना को भोगा है वह जानता है कि अगम्य सीलन से कोहरे के शृंग कैसे नि:सृत होते हैं। इस चित्र में मैगाकौन जैसे अमूर्त आकारों में यही अनुभूति गुंजित होती है।

एलग्जेंडर काल्डेर (Alexander Calder) ने अमूर्त कला विषयक अनुभूति को व्यक्त करते हुए लिखा है - 'जब मैंने स्फीयर (sphere) तथा डिस्क (disc) का उपयोग किया तो मेरी यह इच्छा रही है कि वे जो कुछ हैं उससे अधिक व्यक्त करें। वैसे ही जैसे पृथ्वी एक गोला है, परन्तु इसके बाहर, इसके चारों ओर कुछ मीलों तक गैसीय पदार्थों का वृत्त है, इस पर ज्वालामुखी हैं, चंद्रमा इसके चतुर्दिक चक्र लगाता है। सूर्य एक गोला है पर साथ ही वह ताप का स्त्रोत भी है, जिसे हजारों मील दूर से अनुभव किया जाता है। एक लकड़ी का गोला अथवा धातु की डिस्क (disc) निर्जीव वस्तुएं हैं, जब तक वे कुछ अन्य अर्थ व्यक्त न करें।[3]

---

१. Layman's guide to modern art : Rathbun and Hayes p.89

२. Ibid

३. When I have used spheres and dises, I have intended that they should represent more than what they just are. More or less as the earth is a sphere, but also has some miles of gas about it, Valcanoes upon it and the moon making circle around it, and as the sun is a sphere-but also is a source of intense heat. The effect of which in felt at great distance. A ball of wood or a metal dise is rather a dull object without this sense of something emanating from it (American Art, 1700-1900, p.209 Edt. 1965)

अत: अमूर्त कला का अर्थ अनुभव किया जा सकता है, वह प्रतीयमान होता है।

रेखा भी व्यंजक होती है।[१] विशेष विधि से खींचे जाने पर वह विशिष्ट अर्थ व्यक्त करती है। एक कलाकार अपनी रुचि के अनुसार वस्तु तथ्य में अंतर उत्पन्न कर देता है कलाकार प्रकृत सत्य में सरलीकरण (Simplification) परिवर्तन (Alteration) पुन: संयोजन (Reorganization), आविष्करण, (Invention) आदि अंतर उपस्थित करता है। इस परिवर्तन का हेतु कलाकार का वह अदृश्य 'कुछ' है जिसे वह अनुभव तो करता है पर देख नहीं पाता। उपर्युक्त विधियाँ द्वारा उस अनुभूत किन्तु अदृश्य 'कुछ' को व्यक्त करता है। अभिव्यक्ति की इसी अदम्य आकांक्षा में शिल्प उद्भूत होता है। इसीलिए यह सत्य है कि कलात्मक अभिव्यक्ति अनिवार्यत: शिल्प समन्वित होती है।[२] कला का वास्तविक कार्यकलन अनुभूति की अभिव्यक्ति तथा प्रेषण है।

अतियथार्थवादियों की धारणाओं का मूल आधार एक रूप में से अन्य रूप की उद्भावना है - असत्य से सत्य की उद्भूतता। ऐसे आकार जो अस्तित्व की प्रारंभिक अवस्था व्यंजित करते हैं -- ऐसे जीव जो अज्ञात नक्षत्र के हैं।

प्रभाववादी स्कूल के चित्रकार रेनायर (Renoir)., मोने (Monet) और पिसारो (Pissaro) रंग के छोटे-छोटे बिन्दुओं के प्रयोग पर बल दे कर निरन्तर टिमटिमाहट का प्रभाव उत्पन्न करते हैं।[३]

---

१. Layman's guide to modern art : Rathbun and Hayes p.39

२. The meaning of art : Herbert Read p. 262

३. The meaning of art : Herbert Read p. 24

क्यूबिज्म किसी वस्तु को एक साथ अनेक संभव दृष्टिकोणों से देखने का प्रयत्न है । इस विधि में एक रूपाकार को पृथक कर उसे पुन: नूतन परिप्रेक्ष्य में रखा जाता है - अधिक उत्तेजक परिदृश्य में प्रस्तुत किया जाता है ।[१]

कला-उसका सौन्दर्य, रेखाओं-रूपों-संरचनाओं को इस प्रकार प्रस्तुत करने का परिणाम है कि वह एक रूपसंपृक्त विचार अथवा भाव-संपन्न विचार व्यक्त कर सके ।

६.८ मूर्तिकला - सौन्दर्य

मूर्तिकला में भी वस्तु का बाह्य रूप ही पुन: सृजित किया जा सकता है - और यह पुन: सृजन भी एक कलात्मक माध्यम में संपन्न होना चाहिए । वस्तु के इस कलात्मक अनुवाद में अनेक परिवर्तन आवश्यक हो जाते हैं । मानव शरीर की पूर्ण ईमानदार प्रतिकृति स्वरूप मूर्ति में जीवंत मांसलता तथा रक्ताभा निर्जीव माध्यम में उभरनी चाहिए । परन्तु गति आदि का पुन: सृजन मूर्तिकला में संभव नहीं है - यह तो प्रतीयमानत: (Suggested) ही दिखलाई जा सकती है । गतिशील मोडेल (Model) के तद्सूचक क्षण को मूर्ति में उतार कर गति को प्रतीयमान किया जाता है ।[२]

उपर्युक्त विवरण से - जिसमें चित्र, संगीत, स्थापत्य तथा मूर्ति कला के संबंध में अधिकारी विद्वानों के विचार सप्रमाण उद्धृत किए गए हैं -- यह प्रमाणित होता है कि कला में कथ्य , - व्यंग्य (प्रतीयमान) बन कर ही अभिव्यक्त होता है । आधुनिक पाश्चात्य विद्वानों ने काव्यार्थ की प्रतीयमानता को स्वीकार किया है । एक - दो मत यहां द्रष्टव्य है - अंग्रेजी कवि - आलोचक एबरक्रोम्बी[३] के मत को इस संदर्भ में डा० नगेन्द्र ने उद्धृत किया है -

---

१. The meaning of art : Herbert Read p.407

२. द आर्ट एण्ड आर्ट आव क्रीटीसिज्म, ग्रीन, प्रिन्सटन यूनी०प्रेस, तृ. सं.

३. ध्वन्यालोक की भूमिका, आचार्य विश्वेसर, पृ.२१

'इस प्रकार, अनुभूति जैसी अत्यन्त तरल (परिवर्तनशील) वस्तु का अनुवाद भाषा में करना पड़ता है जिसकी शक्ति स्वभाव से ही अत्यन्त सीमित है। अतएव काव्यकला सदा ही किसी न किसी अंश में ध्वनिरूप होती है और काव्यकला का चरम उत्कर्ष है भाषा की इस व्यंजनाशक्ति को अधिक से अधिक व्यापक, प्रभावपूर्ण, प्रत्यक्ष, स्पष्ट तथा सूक्ष्म बनाना। यह व्यंजनाशक्ति भाषा की साधारण अर्थविधायिनी (अभिधा) शक्ति की सहायक होती है। भाषा की इसी शक्ति का परिज्ञान कवि को सामान्य व्यक्ति से पृथक करता है। इसी व्यंजना वृत्ति के प्रति संवेदनशीलता सहृदय की पहचान है।'

आर.नोली ने वाच्यार्थ से व्यतिरिक्त अर्थ के संदर्भ में विचारों का उल्लेख किया है। उन्होंने प्रमाण स्वरूप पवित्र धर्मग्रन्थों का हवाला देते हुए लिखा है कि यदि वाच्यार्थ ही सब कुछ है तो धर्मग्रन्थों के *sensus historicus vel literalis* तथा *sensus spiritualis* आदि वाक्य निरर्थक ही कहे जाएंगे - परन्तु ये वाक्य निरर्थक नहीं है, अत: यह स्पष्ट है कि प्रत्येक वाक्य का वाच्य व्यतिरिक्त अन्य अर्थ भी है। अन्य अर्थ विषयक योरोपीय विचार परंपरा और भारतीय विचार-धारा में अंतर इसलिए उत्पन्न हुआ है कि योरोप में यह विचार शृंखला ईश्वरपरक चिन्तन तक ही सीमित रही - यदि यह साहित्य में भी घटित होती तो परिणाम आनंदवर्धन के चिन्तन के सदृश ही होते।'[1]

उपर्युक्त मतों एवं उद्धरणों से यह भी प्रमाणित होता है कि चित्रकला -मूर्ति-स्थापत्य आदि कलाओं में प्रभाव प्रतीयमान रूप में ही उपस्थित किया जा सकता है - और इन कलाओं में यह प्रभाव ही उनका एकान्वित स्वरूप सौन्दर्य है। निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि सौन्दर्य प्रतीयमानता में व्यक्त होता है - या प्रतीयमान अर्थ ही सौन्दर्य है।

---

१. द एसथेटिक एक्सपीरीएन्स अकारडिंग टू अभिनव गुप्त --
आर.नोली, द्वि.सं.१९६८

पूर्व पृष्ठों में उद्धृत मत आधुनिक सौन्दर्यशास्त्रियों के हैं। अब से हजार वर्ष पूर्व यही स्थापना आनंदवर्धन ने की थी। उन्होंने शब्द और वाच्यार्थ के अतिरिक्त प्रतीयमान अर्थ को स्थापित कर उस में सौन्दर्य - माना था। अतएव ध्वनिसिद्धान्त का प्रतीयमान विषयक मत सामान्य सौन्दर्य शास्त्र का सिद्धान्त है जिसके प्रकाश में सभी कलाओं के सौन्दर्य की व्याख्या संभव है।

६.६ आनंदवर्धन का सौन्दर्य विषयक मत

`ध्वन्यालोक` में सौन्दर्य शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। आनंदवर्धन ने इस अर्थ में `चारुत्व` शब्द का प्रयोग किया है। `चारुत्व`, चारु की भाववाचक संज्ञा है। कोष में `चारु` शब्द के सुखद, रमणीय मनोहर आदि अर्थ दिए गए हैं।[१] अत: आनंदवर्धन प्रयुक्त `चारुत्व`, सौन्दर्य का ही पर्याय है। चारुत्व की सिद्धि ध्वन्यालोककार के अनुसार प्रतीयमान अर्थ में है - यह प्रतीयमान गुणीभूत भी हो सकता है। प्रतीयमान की छाया से रहित शब्दार्थ (कला) को आनंदवर्धन काव्य पद का अधिकारी नहीं मानते। उनकी मान्यता के अनुसार व्यंग्य रहित रचना काव्य का अनुकरण है।[२] संसार में कोई वस्तु ऐसी नहीं जो भावादि का विषय न बन सके। और रस-भावादि का विषय बनी वस्तु की अभिव्यक्ति प्रतीयमान: ही हो सकती है। इसलिए जहाँ प्रतीयमान का संस्पर्श नहीं, वहाँ, यह मानना होगा कि वस्तु भाव का विषय ही नहीं बनी - वहाँ रचना, काव्य कहलाने की अधिकारिणी नहीं है, ऐसी शब्दार्थ योजना को आनंदवर्धन ने चित्र संज्ञा से अभिहित किया है।[३]

---

१. संस्कृत - हिन्दी कोष, पृ. ३७६ आप्टे

२. `काव्यानुकारो हि असौ : ध्वन्यालोक, सं० पाठक, पृ.६

३. ``अथ किमिदं चित्रं नाम, यत्र न प्रतीयमानार्थसंस्पर्श:`` वही, पृ.५२६

प्रतीयमान सौन्दर्य की विलक्षणता और उसके स्वरूप का निरूपण आनंदवर्धन ने प्रथम, तृतीय और चतुर्थ उद्योत में किया है। सर्वप्रथम प्रतीयमान अर्थ के स्वरूप पर विचार करना संगत है। इस विषय से संबद्ध कारिका निम्न - लिखित है --

६.१० प्रतीयमानं पुनरन्यदेव, वस्त्वस्ति वाणीषु
महाकवीनाम्।
यत् तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं, विभाति
लावण्यमिवांगनासु ।।[१]

उपर्युक्त स्वरूपविधायक श्लोक का विश्लेषण इस प्रकार किया जा सकता है -

१. प्रतीयमानं पुनरन्यदेव (पुनः अन्यत् एव) प्रतीयमान अर्थ (कथ्य) कुछ और ही है। यहाँ अन्यत "और" विभेदक है। आनंदवर्धन अबतक ज्ञात अर्थ-छटाओं से प्रतीयमान अर्थ को सर्वथा भिन्न रूप प्रतिपादित कर रहे हैं। 'एव' का प्रयोग इसके इसी पार्थक्य पर बल देने के लिए है। प्रतीयमान अर्थ शब्द और अर्थ से वैसे ही भिन्न है जैसे रंग, प्रस्तर, रेखा, आदि से कलाकृति का सौन्दर्य भिन्न होता है।

२. वस्त्वस्ति (वस्तु अस्ति) - निर्भ्रान्त अस्तित्ववान को वस्तु कहते हैं - प्रतीयमान को 'वस्तु' कहकर उसके होने को निस्संदिग्ध कहा गया है - वह है, उसके अस्तित्व में शंका का स्थान नहीं है।

---

१. ध्वन्यालोकः, आ.वि., पृ.१३, प्र० उ० प्र० वाराणसी ज्ञानमंडल,१९६२
प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वाच्यात् वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत् तत् सहृदयसु प्रसिद्ध, प्रसिद्धेभ्योऽलंकृतेभ्यः प्रतीतेभ्यो वावयवेभ्यो व्यतिरिक्तत्वेन लावण्यमिवांगनासु। यथा हि अंगनासु लावण्यं पृथक् निर्वर्ण्यमानं निखिलावयवव्यतिरेकि किमप्यन्यदेव सहृदय लोचनामृतं तत्वान्तरं, तद्वदेव सोऽर्थः।'

३. वाणीषु महाकवीनाम् (महाकवियों की वाणी में) - कुशल कलाकारों की कृतियों में प्रतीयमान अर्थ रहता है। `महाकवीनाम्` का अर्थ यह भी है कि जो प्रयोग जानते हैं - जिनमें प्रतिभा है - ऐसे महान् कलाकारों की अभिव्यक्ति में ही इसका अस्तित्व है, उपादानों की आत्मा से - सही प्रयोग से सुपरिचित कलाकार रेखा के लघु वक्र से - संगीत की एक मुर्की से - प्रत्यय अथवा प्रत्ययांश के कुशल प्रयोग से जो प्रभाव व्यंजित करते हैं वह अनुभव गम्य है, प्रसिद्ध भी है।

श्लोक का द्वितीय चरण उदाहरण वाक्य है। प्रतीयमान को कुछ और कहने से उसका अन्य से पार्थक्य तो कथित हो गया, पर वह कैसा है - इस को स्पष्ट करने के लिए उदाहरण दिया जा रहा है।

४. लावण्यमिवाङ्गनासु (लावण्यम् इव अंगनासु) =- जैसे अंगनाओं में लावण्य। जैसे अंगनाओं में लावण्य (सौन्दर्य) होता है वैसे ही कलाकृतियों में प्रतीयमान अर्थ होता है। यहाँ तुलनीय पद इस प्रकार होंगे --

अंगना	=	कलाकृति
लावण्य	=	प्रतीयमान अर्थ

५. प्रसिद्धावयवातिरिक्तं (प्रसिद्ध अवयव अतिरिक्तं) प्रसिद्ध (नाक, आंख, मुंह आदि) अवयवों से अतिरिक्त।

अंगनाओं में लावण्य प्रसिद्ध अंगों से पृथक ही होता है- उन अंगों के सम्मिलित प्रभाव से व्यंजित अवश्य होता है पर यह नहीं कहा जा सकता कि अमुक अंग लावण्य है अथवा अमुक अंग। अंगों से व्यंजित होकर भी वह अंग नहीं, उनसे व्यतिरिक्त ही है। प्रतीयमान अर्थ शब्द और अर्थ से व्यंजित होता हुआ भी उससे भिन्न है। काव्य के संदर्भ में शब्द और वाच्यार्थ अंगनाओं के

प्रसिद्ध अंग स्थानीय हैं एवं प्रतीयमान अर्थ लावण्य स्थानी । चित्रकला के संदर्भ में रंग, प्रकाश, छाया, उभार आदि अंग स्थानी है, उनसे व्यंजित प्रभाव प्रतीयमान अर्थ । रंग से व्यंजित होकर भी कला का सौन्दर्य रंग नहीं है । रेखा से व्यंजित होकर भी उससे पृथक है । कलाकार ने अंग की जिस वक्रता द्वारा गति का भाव व्यक्त किया है वह अंगवक्रता गति नहीं है । अतएव प्रतीयमान अर्थ सभी कलाओं में अपने व्यंजक उपादानों से भिन्न ही होता है ।

विभाति (भासित होता है)

विभाति क्रिया द्वारा प्रतीयमान की स्थिति और भी स्पष्ट की गई है । इस संबध में एलिएट[1] का कथन विवेचनीय है - `कविता में प्रतीयमान अर्थ एक प्रकाशमान केन्द्र के चतुर्दिक प्रकाशपुंजवृत्त के सदृश हैं । जैसे प्रकाशपुंजवृत्त जगमगाता है वैसे ही प्रतीयमान अर्थ भी प्रकाशित होता है - भासित होता है । इसलिए वह सौन्दर्य भी है । कलाकृति प्रकाशमान केन्द्रवत् है । प्रतीयमान अर्थ उससे भासित होता है । विभाति में `भा` धातु है,[2] जिसकी निष्पत्ति (भा + अङ् + टाप्) से होती है । इसका अर्थ है प्रकाश, आभा, कान्ति, सौन्दर्य । अत: इस प्रमाण से प्रतीयमान अर्थ की सौन्दर्यवत्ता भी प्रमाणित होती है । सौन्दर्य की - भाव की - रस की यह प्रतीयमानता सभी ललितकलाओं का सार्वभौम तत्व है । इसीलिए यह प्रतिज्ञा प्रस्तुत की गई थी कि ध्वनिसिद्धान्त के निष्कर्ष केवल काव्य से ही संबद्ध नहीं हैं वे सभी ललितकलाओं के लिए उपयुक्त हैं ।

---

१. T.S.Eliot : Ezra Pound, His metric and Poetry (London 1917)

२. संस्कृत हिन्दी कोश - आप्टे, पृ.७३४

६.११ कथ्य की प्रतीयमानता ही सौन्दर्य का आधार

आनंदवर्धन ने प्रतीयमान अर्थ में ही सौन्दर्य माना है। इतना ही नहीं ऐसे वर्णन भी जो बहुप्रयुक्त होने के कारण अपना सौन्दर्य खो चुके हैं प्रतीयमान सौन्दर्य के संस्पर्श से नूतनता संवलित होकर प्रकाशमान हो उठते हैं --

`अनया सुप्रसिद्धोऽप्यर्थ: किमपि कामनीयकमानीयते`[१]

इस पंक्ति में दो शब्द विचारणीय है `किमपि` तथा `कामनीयकम्`। प्रथम पद का अर्थ `कुछ` है जो अन्य `सौन्दर्य` कहे जाने वाले तत्व से `प्रतीयमान अर्थ जनित सौन्दर्य की विशिष्टता प्रतिपादित करता है और `कामनीयकम्` यहां सौन्दर्य का पर्याय है। चित्रकला एवं अन्य कलाओं में भी भाव अथवा अर्थ की प्रतीयमानता में सौन्दर्य रहता है। आनंदवर्धन ने इस अर्थ को स्पष्ट करने के लिए निम्नलिखित कारिका दी है --

मुख्या महाकविगिरामलङ्कृतिभृतामपि ।
प्रतीयमानच्छायैषा भूषा लज्जैव योषिताम् ।।३८।।[२]

अलंकार आदि से सज्जित होने पर भी जैसे लज्जा ही कुल वधुओं का मुख्य शोभाकारक (अलंकार) होती है - उसी प्रकार वाच्य-वाचक पर आधृत अलंकारों से युक्त होने पर भी महाकवियों की वाणी में प्रतीयमान की छाया ही उसका मुख्य अलंकार (शोभाकारक) है। इस प्रकार आनंदवर्धन सौन्दर्य का कारण प्रतीयमान अर्थ की उपस्थिति को मानते हैं। अन्य कलाओं में जीवंतता उत्पन्न करने वाला तत्व यही है। प्रतीयमान भाव अन्य कलाओं में भी स्पष्ट अभिव्यक्त होता है - यही उसका प्राण तत्व है।

---

१. ध्वन्यालोक: आ० वि०, पृ. २६७ तृ. ३

२. वही

आनंदवर्धन के अनुसार अलंकार अंगरूप शब्द और वाच्यार्थ के द्वारा ही प्रतीयमान अर्थ-सौन्दर्य का उपकार करते हैं। संगीत में भी मीड़, तान, आलाप आदि अलंकार का कार्य करते हैं -- भाव के उपकारक हैं। मूर्ति इत्यादि में यदि कोई प्रतीयमान भावछाया नहीं है तो भी उसे मूर्ति तो कहेंगे ही - उसमें रंग भी होगा पर यदि उसमें भाव भी प्रतीयमान है तो उसकी शोभा कुछ और ही होगी --तथा दर्शक चमत्कृत होकर आनंद का अनुभव कर सकेगा। अतएव वाच्य पर आधृत अलंकारादि से चमत्कृत करने वाला सौन्दर्य उत्पन्न नहीं होता। केवल रंग प्रयोग से अथवा संगीत के संदर्भ में केवल तान और पलटों से चित्त को चमत्कृत करने वाले सौन्दर्य की प्रतीति संभव नहीं है - वह तो प्रतीयमान भाव के संस्पर्श से ही संभव है --

वाच्यालंकारवर्गोयं व्यंङ्ग्यांशानुगमे सति।
प्रायेणैव परां छायां बिभ्रल्लक्ष्ये निरीक्ष्यते ।।३७।।[१]

प्रतीयमान अर्थ ही जब प्रधान होता है तो उस काव्य को 'ध्वनि' कहा गया है। अन्य कलाओं में भी सहृदय को तल्लीन कर देने वाला तत्त्व यही प्रतीयमान अर्थ है। अतएव जो उत्तम कलाकृति का निर्माण करना चाहता है - अथवा उत्तम कलाकृति को समझना चाहते हैं उसे इस अपूर्व तत्त्व को समझना ही होगा --

इत्युक्तलक्षणो यो ध्वनिर्विवेच्य: प्रयत्नत: सद्भि: ।
सत्काव्यं कर्तुं वा ज्ञातुं वा सम्यगभियुक्तै: ।।४६।।

'अर्थात् उत्तम काव्य को बनाने अथवा समझने के लिए प्रस्तुत सज्जनों को इस प्रकार जिस ध्वनि का लक्षण किया गया है उसका प्रयत्नपूर्वक विवेचन करना चाहिए।'[२]

---

१. ध्वन्यालोक: , आ० वि०, पृ.२६०, तृ० ३

२. ध्वन्यालोक:, आ० वि०, तृ० ती० उद्योत ४६ कारिका

६.१२ नूतनता की प्रतीति

यह प्रतीयमान सौन्दर्य नूतनता की प्रतीति कराता है। किसी वस्तु में नूतनता की प्रतीति चित्त को आकर्षित करती है - चमत्कृत करती है और ऐसी वस्तु जो आनंद दे अवश्य ही सुन्दर है। जार्ज सन्टामना ने स्पष्टकहा है कि सौन्दर्य वह है जो देखने वाले को आनंद दे। प्राचीन अर्थ भी गुणीभूत व्यंग्य अथवा व्यंग्य के स्पर्श से नवत्व को प्राप्त होता है एक ही विषय पर अनेक चित्र देखने में आते हैं - उनका नवत्व कलाकार द्वारा प्रतिष्ठित प्रतीयमान अर्थ पर ही निर्भर करता है। एक ही राग भिन्न - भिन्न कलाकारों द्वारा प्रस्तुत किया जाता है -- श्रोता उसे सुनते हैं। कलाकार द्वारा प्रस्तुत प्रतीयमान भाव के कारण ही बार-बार सुना हुआ राग नूतन प्रतीत होता है। इस सत्य का उद्घाटन आनंदवर्धन ने किया था --

अतो हि अन्यतमेनापि प्रकारेण विभूषिता ।
वाणी नवत्वमान्यन्ति पूर्वार्थान्वियवत्यपि ॥[1]

६.१३ कवि प्रतिमा की अनंतता -

इस प्रकार के इस ध्वनिमार्ग से कवियों की प्रतिमा अनंतता को प्राप्त करती है। यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि प्रतीयमान अर्थ और प्रतिमा व्यधिकरण धर्म हैं - प्रतीयमान अर्थ काव्य में रहता है, प्रतिमा कवि में, तब काव्यनिष्ठ प्रतीयमान अर्थ कविनिष्ठ प्रतिमा का आनन्त्य हेतु कैसे हो सकता है। आनंदवर्धन ने इस शंका का समाधान प्रतीयमान अर्थ में ज्ञान को प्रतिमा का हेतु मानकर किया है -

---

१. ध्वन्यालोक:, प्रा० वि० तृ० ती० उद्योत , २ कारिका पृ.३३६

ध्वनेर्य: स गुणीभूतव्यंङ्ग्यस्याध्वा प्रदर्शित ।
अनेनानन्त्यमायाति कवीनां प्रतिभागुणा ।।१।।[१]

उपर्युक्त कथन को स्पष्ट करने के लिए आनंदवर्धन ने अनेक उदाहरण दिए हैं। यहां एक उदाहरण द्रष्टव्य है। निम्नलिखित दो श्लोकों में कथ्य लगभग समान है तब भी प्रथम में विशेष पदों के प्रयोग से कुछ और चमत्कार उत्पन्न हो गया है --

(१) स्मितं किञ्चिन्मुग्धं तरलमधुरो दृष्टिविभव: ,
परिस्पन्दो वाचामभिनवविलासोर्मिसरस: ।
गतानामारम्भ: किसलयितलीलापरिमल:,
स्पृशन्त्यास्तारूण्यं किमिव हि न रम्यं मृगदृश: ।।[२]

नवयौवन का स्पर्श करने वाली, मृगनयनी की तनिक सी मधुर मुसकान, चंचल और सुलक्षण मीठी दृष्टि का सौन्दर्य , नवीन (विलास) पूर्ण उक्तियों सेसरस वाणी का प्रयोग, विविध हाव-भावों को विकसित करने वाली गतियों का उपक्रम (आदि में से) कौन सी चीज मनोहर नहीं है, (सभी कुछ सुन्दर और रमणीय है)

(२) सविभ्रमस्मितोद्भेदा लोलाक्ष्य: प्रस्खलदगिर: ।
नितम्बालसगमिन्य: कामिन्य: कस्य न प्रिया: ।।[३]

विभ्रम (शृंगारचेष्टा विशेष) से युक्त, जिनकी मन्द मुसकान खिल रही है, आंखे चंचल और वाणी लड़खड़ा रही है, और नितम्बों (के अतिभार) के कारण जो धीरे-धीरे चलनेवाली कामिनियां हैं वे किसे प्रिय नहीं लगती है।

---

१. ध्वन्यालोक: प्रा० वि० तृ० ती० उद्योत १ पृ ३३६
२. ,, ,, च० उ० पृ ३३७
३. ,, ,, ,, ,,

द्वितीय श्लोक पहले लिखा गया है - प्रथम बाद में, दोनों का कथ्य एकसा है । परन्तु प्रथम श्लोक में `मुग्ध`, मधुर, विभव, परिस्पन्द, सरस, किसलयित, परिकर, आदि पदों में उनके मुख्यार्थ अत्यन्त बाधित होने से लक्षणामूला अत्यन्त तिरस्कृत वाच्यध्वनि के संबंध से नवीन ही चारुत्व प्रतीत होता है । यहाँ मधुर पद से सौन्दर्यातिरेक, मुग्ध पद, से सकलसहृदय-हरणक्षमत्व, विभव पद से अविच्छिन्न सौन्दर्य, परिस्पन्द शब्द से लज्जापूर्वक मन्दोच्चारणजन्य चारुता, सरस पद से तृप्तिजनकत्व, किसलय पद से सन्तापोपशमकत्व, परिकर पद से अपरिमितता और स्पर्श पद से स्पृहणीयतमत्व आदि प्रतीयमानों के वैशिष्ट्य से प्राचीन अर्थ भी नवीन हो उठा है ।

इसी कथन को और उदाहरण देकर कहा गया है - कि जैसे बसंत ऋतु को पाकर वृक्ष सौन्दर्य से संवलित हो उठते हैं वैसे ही प्रतीयमान रस के स्पर्श से पूर्वदृष्ट पदार्थ भी नये - से प्रतीत होते हैं --

दृष्टपूर्वा अपि हि अर्था: काव्ये रसपरिग्रहात् ।
सर्वे नवा इवाभान्ति मधुमास इव द्रुमा: ।।४।।[1]

६.१४ रमणीय अर्थों की अनन्तता (प्रतिभा की अपरिहार्यता)

ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य (अर्थात् प्रतीयमान सौन्दर्य) के मार्ग के ज्ञान से कवि की प्रतिभा ही आनन्त्य को प्राप्त नहीं होती वरन् काव्य के वर्णनीय रमणीय विषय भी सीमातीत हो जाते हैं - वे कभी समाप्त ही नहीं होते । हाँ, कवि में प्रतिभा होना आवश्यक है --

ध्वनेरित्थं गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य च समाश्रयात् ।
न काव्यार्थ विरामोऽस्ति यदि स्यात्प्रतिभागुण: ।।६।।

`यदि (कवि में) प्रतिभागुण हो तो इस प्रकार ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य के आश्रय से काव्य के (वर्णनीय रमणीय) अर्थों की कभी समाप्ति ही नहीं

१- ध्वन्यालोक: आ० वि० चतु० उ० पृ०, ३४१

हो सकती ।` वृत्ति में प्रतिमा की अपरिहार्यता पर विचार करते हुए आनंदवर्धन ने कहा है कि प्रतिमा के न रहने पर तो कवि के पास कोई वस्तु है ही नहीं जिससे वह अपूर्व चमत्कारयुक्त काव्य का निर्माण कर सके । ध्वनि तथा गुणीभूत व्यंग्य के अनुरूप शब्दों के सन्निवेशरूप, रचना का सौन्दर्य भी अर्थ की प्रतिमा के अभाव में कैसे आ सकता है ।

६.१५ प्रतीयमानता रम्य की कसौटी :

पूर्वोक्त परिच्छेद में `रमणीय` अर्थ के आनन्त्य की चर्चा की गई है - तब रम्य क्या है ? इस विषय को स्पष्ट करते हुए कहा है -- जिस वस्तु के विषय में सहृदयों को ऐसा अनुभव हो कि `यह कोई नयी सूफ है - उद्‌भावना है, वह वस्तु नयी या पुरानी जो भी हो - रम्य है ।

यदपि तदपि रम्यं यत्र लोकस्य किंचित् ।
स्फुरित मिदमितीयं बुद्धिरम्युज्जिहीते ।।

जो कवि दूसरों के द्वारा वर्णित वस्तुके प्रति निस्पृह होते हैं, देवी भगवती उनके लिए स्वयं यथेष्ट वस्तु उपस्थित कर देती है ।

६.१६ सौन्दर्य वस्तुनिष्ठ अथवा विषयिनिष्ठ

सौन्दर्य कहां है ? वह वस्तु में निहित और द्रष्टा को आकर्षित करने वाला गुण है अथवा पूर्णत: द्रष्टा की भावना पर आधृत, द्रष्टा की अपेक्षा से अस्तित्ववान तत्व है । इस दृष्टि से सौन्दर्य पर विचार करने की एक निश्चित परंपरा भारत और यूरोप दोनों में विद्यमान है ।

यूरोप में प्लेटो से लेकर अद्यावधि सौन्दर्य की वस्तु अथवा विषयिनिष्ठता के विषय में तीन विचारधाराएं प्रचलित रही हैं । ज्ञान और

आनंद की वरेण्यता के प्रसंग में प्लेटो[1] ने सौन्दर्य की समस्या पर भी विचार व्यक्त किए हैं। उनकी दृष्टि में सुन्दर वस्तु से - आंतरिक रूप में - प्राप्त अनुभव ही शुद्ध आनंद है। इस प्रसंग में प्लेटो ने ज्यामितीय आकृतियों, रंगों और सांगीतिक ध्वनियों का उदाहरण दिया है और सौन्दर्य को वस्तुनिष्ट धर्म प्रतिपादित किया। इस प्रतिपादन के अनुसार सौन्दर्य संरचना का गुण है, वह अवयवों की अंत: संगतता में रहता है।

अरस्तु ने एक कलारूप - त्रासदी - पर विचार किया है तथा सौन्दर्य संबंधी उनकी धारणाएं प्रासंगिक हैं। प्लोटिनस की सौन्दर्य चर्चा अध्यात्म और आदर्शवादिता से आक्रांत है। उसके अनुसार सौन्दर्य केवल संरचनात्मक गुण-धर्म नहीं है। वह स्वयं में सम्मिति (Symmetry) नहीं है, वरन् सम्मिति को विकीर्ण करता है। सौन्दर्य वस्तु के अवयवों का गुण नहीं है, वह पूर्ण वस्तु है, पूर्ण प्रभाव है।

सौन्दर्य चिन्तन की दृष्टि से नव क्लासीकल युग महत्वपूर्ण है। इस युग के एतद्विषयक चिन्तन को निम्नलिखित बिन्दुओं[2] में सूत्रबद्ध किया जा सकता है --

१- सौन्दर्य वस्तुनिष्ठ धर्म है।

२- सौन्दर्य कलात्मकता से प्राप्त किया जा सकता है।

३- सौन्दर्य विश्लेषण से ज्ञेय है।

४- सौन्दर्य प्रतिक्रिया उत्पन्न करता है जिसे आनंद अथवा आह्लाद कहा जा सकता है।

अठारवीं शती में सौन्दर्यशास्त्र एकस्वतंत्र शास्त्र के रूप में विकसित हुआ। सौन्दर्य - गुणों को बहिर्जगत में देखने की अपेक्षा द्रष्टा के अनुभवों

१- एन साइक्लोपीडिया आव फिलौसफी, वाल्यूम १ पृ.२६३

२- ,, ,, ,, २६४

के परीक्षणों को महत्व दिया गया। उन परिस्थितियों का विश्लेषण किया गया जिनमें कलागत सौन्दर्य का प्रशंसन होता है। ताटस्थ्य (Disinterestedness) को निर्णायक स्थिति कहा गया। फ्रांसिस हचेन (Francis Hutchen, 1725) ने `सौन्दर्य को मानस में उत्पन्न विचारों का ज्ञापक` कहा है। सौन्दर्य की परंपरागत परिभाषा- `अनेकता में एकता` (unity in variety) को अर्थहीन घोषित किया गया, क्योंकि इसकी व्याप्ति सुन्दर से इतर वस्तुओं में भी है।

प्रसिद्ध जर्मन सौन्दर्यशास्त्री काण्ट (Kant, 1724 - 1804) ने सौन्दर्य और उदात्त (Sublime) विषयक अपना सिद्धान्त प्रस्तुत किया। इस सिद्धान्त के अनुसार सौन्दर्यात्मिक निर्णय प्रमाता (Subject) की दु:ख-सुखात्मक अनुभूति का कथन है।[१] यह एक ऐसा निर्णय है जिसकी निर्धारक भूमि विषयिपरकता के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं हो सकती। इस आधार पर यही कहा जा सकता है कि काण्ट सौन्दर्य की अनुभूति को विषयिपरक मानते हैं।

शिलर ने सौन्दर्य को वस्तुनिष्ठ माना है।[२] सौन्दर्य के द्वारा ही मनुष्य अपनी मनुष्यता को पहचानता है - स्वतंत्रता का अनुभव करता है।

हेगेल की मान्यता है कि `सुन्दर वस्तु विशेषरूप से स्वातंत्र्य का पूर्ण प्रतिमान है, आत्मा का सार है, क्योंकि इसका मूर्त रूप इसी में (सौन्दर्य में)प्रकट होता है।[३]

---

१. An aesthetic judgement refers the representation to 'The subject, and its feeling of pleasure or pain.' (Aesthetics from classifical Greece to the Present. p.212 by Monroe. C.Beardsley I ed. 1966 Mac.Com. Newyork).

२. Ibid p.228

३. Ibid p.237

उन्नीसवीं शताब्दी में सौन्दर्य की विषयिनिष्ठता पर बल दिया जाने लगा । टाल्सटाय इस मत के प्रबल पोषक थे । इनके मत की विशेष चर्चा आगे प्रस्तुत की जाएगी । इसी शती में जार्ज सन्तायन (Georg Santayana) सौन्दर्य की वस्तु निष्ठता के प्रतिपादक थे । सन्तायन ने सौन्दर्य को वस्तु का आंतरिक गुण माना । द्रष्टा को आनंद देना सौन्दर्य का अनिवार्य धर्म है । सौन्दर्य स्वयं में पूर्ण है, महत्वपूर्ण है, वह मानसिक आकांक्षाओं की पूर्ति करता है । सौन्दर्य धनात्मक मूल्य है, तात्विक और वस्तुरूप है ।[१] हर्बर्ट रीड[२] के अनुसार भी सौन्दर्य आनंद का स्त्रोत है ।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि यूरोपीय चिंतन परंपरा में सौन्दर्य की वस्तुनिष्ठता और विषयिनिष्ठता को लेकर पर्याप्त ऊहापोह रही है । परन्तु वस्तुस्थिति क्या है ? क्या सौन्दर्य एकांतरूप से विषयिपरक (Subjective) है ? इस विषय के स्पष्टीकरण के लिए टाल्सटाय के मत से चर्चा प्रारंभ की जा रही है ।

६.१७ टाल्स्टाय का कलाविषयक मत

टाल्स्टाय कला को भावों-अनुभूतियों का संप्रेषण मानते हैं । कलाकार कोई कहानी कहता है, गीत रचता है, चित्र बनाता है - तो इसीलिए कि वह अपनी अनुभूति को दूसरों तक पहुंचाना चाहता है । क्रोचे के मत में और इस मत में अंतर है । क्रोचे कला को अभिव्यक्ति मानते हैं, टाल्सटाय के अनुसार यह अनुभूति की अभिव्यक्ति संप्रेषित भी होनी चाहिए । यदि कलाकृति संप्रेषण नहीं कर पाती तो वह निर्बल है ।[३]

---

१. 'Beauty is a value positive, intrinsic and objectified'. The sense of beauty, p.49.

२. Meaning of art p. 20 Herbert Red.

३. Aesthetics from classical Greece to the present. p.311

इस मान्यता में प्रमाता की ग्रहणशीलता अंतर्निहित है। इससे यह निष्कर्ष भी उपपादित होता है कि कला की मूल्यवत्ता, उसके किसी मौलिक गुण पर नहीं वरन कलाजन्य अनुभूतियों पर आधृत है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि कला का सौन्दर्य वस्तुनिष्ठ नहीं - वस्तु का मौलिक गुण नहीं वरन् भावात्मक प्रभाव है। इस प्रभाव का मूल्यांकन उस व्यक्ति की अनुभूतियों में है जो इसका प्रशंसन करता है। जितने अधिक व्यक्ति किसी कलाकृति की प्रशंसा करते हैं, वह कलाकृति उतनी ही सुन्दर है। टाल्सटाय अपने मत की पुष्टि में कहते हैं कि 'एक रशियन लोकगीत शेक्सपीअर के हैमलेट की अपेक्षा अधिक सुन्दर है, श्रेष्ठ है।

उपर्युक्त मत भावनाओं का मात्रात्मक निकष प्रस्तुत करता है। क्योंकि इस मत के अनुसार एक वस्तु को दूसरी वस्तु से श्रेष्ठ अथवा सुन्दर कहने का अभिप्राय यह होगा कि प्रथम वस्तु द्वितीय की अपेक्षा अधिक भावनाओं को, अधिक व्यक्तियों में संप्रेषित करती है।[१] परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि ये 'अधिक भावनाएं सौन्दर्यात्मक दृष्टि से मूल्यवान हों क्योंकि संप्रेषित भावनाओं से इतर सौन्दर्यात्मक मूल्य स्वीकार ही नहीं किया गया है। अत: सौन्दर्य का निकष आनंदात्मक अनुभूति की वह मात्रा है जो द्रष्टा में उत्पन्न होती है। इससे यह निष्पत्ति भी होती है कि वही कलात्मक वस्तु श्रेष्ठ है जो अधिकतम पसंद की जाती है।[२]

परन्तु कोई व्यक्ति किस वस्तु को पसंद करता है और कौनसी वस्तु अच्छी है, इसमें भेद करना आवश्यक है। रुचि के अभाव के कारण बहुत से व्यक्ति उस वस्तु का प्रशंसन नहीं कर पाते जिसे वे अच्छा समझते हैं। टाल्स्टाय ने अपने विवेचन में इस बात का विवेक नहीं रखा। उनके अनुसार 'पसंद करना' और 'अच्छा समझना' में भेद नहीं है। वस्तुत:

---

१. Aesthetics from classical Greece to the present. p. 310

२. The Problems of Aesthetics Eliseo Vivas and Murray Krieger. p.464.

टाल्सटाय का सिद्धान्त उस हेडोनिस्ट मत का पूरक है जिसमें `चाहने योग्य' और `चाहे गए' में भेद नहीं माना जाता । परन्तु, सौन्दर्यशास्त्र में -- `आपको इसे पसंद करना चाहिए क्योंकि यह सुन्दर है' -- जैसे वाक्य का कोई अर्थ नहीं है ।[१]

सौन्दर्यशास्त्र के इतिहास में ऐसे अनेक सिद्धान्त हैं जो व्यक्ति अथवा व्यक्तियों के मानस पर पड़ने वाले प्रभाव को सौन्दर्य का निकष प्रतिपादित करते हैं । अथवा ये सिद्धान्त वस्तु और द्रष्टा - मानस के संबंध को सौन्दर्य का निकष सिद्ध करते हैं । ये सिद्धान्त प्रकारांतर से टाल्सटाय के मत के ही रूपांतर हैं । सी० ई० एम जोड[२] ने इन विचारणाओं में निम्नांकित त्रुटियों का निर्देश किया है --

(क) इन मान्यताओं के अनुसार कला का मूल्य - अंतत: - उन भावनाओं में है जो वह द्रष्टा में जाग्रत करती है । परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि व्यक्तियों की गणना की जाए । इसे एक उदाहरण से स्पष्ट करना उचित होगा । हम बाख फ्युग्ये (Bach Fugue) का परीक्षण करें - यह कला का श्रेष्ठ उदाहरण कहा जाता है, इसे हम `अ' कहेंगे । अब एक सामान्य बैली ( Bally ) `ब' लें , `अ' की अपेक्षा `बे' अधिक व्यक्तियों में आनंदयुक्त अनुभूतियां जाग्रत करता है, पर इससे यह निष्कर्ष कैसे निकाला जा सकता है कि

`ब', `अ' की अपेक्षा श्रेष्ठ है । क्योंकि `अ' से प्रभावित होने वाले व्यक्ति, `ब' से प्रभावित होने वालों की अपेक्षा कला का विवेक करने में अधिक समर्थ हैं । ऐसे व्यक्ति जिन्होंने कला की,

---

१. The Problems of Aesthetics, Eliseo Vivas and Krieger. p. 465.

२. Ibid

संगीत की साधना में जीवन लगा दिया है `अ` को श्रेष्ठ कहते हैं। अत: कहा जा सकता है कि परिपक्व रुचि-संपन्न व्यक्ति `अ` को अच्छा कहते हैं इसलिए वह श्रेष्ठ है।

उपर्युक्त तर्क का निष्कर्ष यह है --

(१) `अ` कलाकृति उन व्यक्तियों द्वारा पसंद की जाती है जो निर्णय करने के अधिकारी हैं। `अ` इन व्यक्तियों द्वारा अधिक समय तक पसंद किया जाता रहा, अभी भी किया जाता है जब कि `ब` विस्मृत कर दिया गया है। अत: कहा जा सकता है कि उपयुक्त रुचि संपन्न व्यक्तियों में अधिक समय तक आनंदात्मक भावनाएं जाग्रत करने की सामर्थ्य के कारण कोई वस्तु सुन्दर है। परन्तु यह कहा जा सकता है कि रुचिसंपन्न विशेषज्ञों का मत कोई महत्व नहीं रखता, क्योंकि प्रत्येक पीढ़ी के विशेषज्ञ भिन्न-भिन्न मत रखते हैं। एक पीढ़ी का सत्य अगली पीढ़ी के लिए असत्य बन जाता है।

तब हम विशेषज्ञ का निर्णय कैसे करें ? तथा किन व्यक्तियों के मत को सौन्दर्य का निकष निर्धारित करें ? इस प्रकार रुचिसंपन्नता के गुण को प्रमाणित करने के निकष में दोष उत्पन्न हो जाता है क्योंकि रुचिसंपन्नता का गुण, निर्णय के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। तब यह मत प्रकारांतर से सौन्दर्य की उसी विषयिपरकता का पुन: कथन हो जाता है।

(ख) एक और मत के अनुसार सौन्दर्यात्मक मूल्य किसी व्यक्ति के शरीर अथवा मानस पर पड़ने वाले प्रभाव के निकष पर नहीं आंका जा सकता, सौन्दर्यात्मक मूल्य, वस्तुत:, ज्ञेय वस्तु और ज्ञाता मानस में स्थित संबंध का गुण है।

यदि `अ` एक चित्र है, `ब` प्रशंसन करने वाला मानस है, `स` वह संबंध है जब `ब`, `अ` को जान रहा है। इस स्थिति में सौन्दर्यात्मक मूल्य --

(१) 'अ' का गुण नहीं है ।

(२) 'ब' का गुण नहीं है - 'ब' का गुण मानने पर वह अशोधित विषयिपरक मत ही होगा ।

(३) अत: वह 'स' का गुण है ।

ज्ञात के आइडियलिस्टिक सिद्धान्त में इस प्रकार के कथन पुन:-पुन: कहे जाते रहे हैं ।

बहुत से व्यक्तियों को यह अकल्पनीय प्रतीत होगा कि वस्तुओं की इस सृष्टि में भी सौन्दर्य है जो किसी मानस द्वारा कभी देखा नहीं गया है । अर्थात् उनके अनुसार वस्तु सौन्दर्य को प्रशंसक प्रमाता से निरपेक्ष नहीं माना जा सकता । यदि ज्ञान के अभाव में भी कोई वस्तु अस्तित्ववान है, तो वह ज्ञान की प्रक्रिया में स्थानान्तरित होगी और ज्ञान का विषय बनने के पूर्व)की वस्तु और ज्ञान का विषय बनी वस्तु में अंतर है । अत: ज्ञात वस्तु के सौन्दर्य का ही निर्धारण किया जा सकता है । अन्य शब्दों में उसी वस्तु के सौन्दर्य के विषय में कहा जा सकता है जो द्रष्टा मानस से संबंधित हो चुकी है, अत: सौन्दर्य का कथन वस्तु और द्रष्टा मानस के संबंध के संदर्भ में ही किया जा सकता है । सौन्दर्य तभी अस्तित्व में आता है जब 'अ' और 'ब' के बीच संबंध बनता है । अत: कहा जा सकता है कि 'अ' और 'ब' के संयुक्त होने पर सौन्दर्य रूपी उपदृश्य अकस्मात् आजाता है । यह तब होता है जब वस्तु किसी विशिष्ट जाति की हो, मानस विशेष दशा में हो ।[१]

उपर्युक्त दृष्टिकोण में भी अनेक आपत्तियां हैं :

(१) यह नहीं कहा गया कि किसी भी ज्ञात वस्तु और मानस के संबंध में सौन्दर्य आ टपकता है वरन् विशिष्ट जाति की वस्तुओं और प्रशंसन कर सकने योग्य स्थितियों में स्थित मानस के संबंध में ही वह सौन्दर्य

---

1. The Problems of Aesthetics, Eliseo Vivas etc.p.468

प्रतिपादित किया गया है । परन्तु किसी जाति विशेष से संबंधित होने का गुण तो वस्तु का अपना होता है, जो वस्तु के मानस संबंध में प्रविष्ट होने से स्वतंत्र हैं । यदि वस्तुओं के इस गुण को 'अ' कहें तो यह मानना होगा कि सौन्दर्यात्मक संबंध में प्रविष्ट होने वाली वस्तु स्वतंत्र-रूप से 'अ' गुण से युक्त है । इस प्रकार वस्तु को स्वतंत्र रूप से गुण युक्त मानना एक प्रकार से सौन्दर्य की वस्तुनिष्ठता का प्रतिपादन है ।

(२) द्वितीय आपत्ति यह है कि जिस अशोधित विषयिनिष्ठता से यह मत बचना चाहता है, वस्तुत: उसी में समाहित हो जाता है । यह कहा गया है कि सौन्दर्य 'अ' का गुण नहीं, 'ब' का गुण नहीं, 'स' का गुण है । परन्तु मानस और 'अ' का संबंध ('अ' वह चित्र है जिसका मानस प्रशंसन करता है) निश्चय ही मानस और उस चित्र के संबंध से भिन्न है जिसे वह पसंद नहीं करता । इसका तात्पर्य यह हुआ कि 'स' , 'अ' के अनुसार परिवर्तित होता है । 'स', 'ब' के अनुसार बदलता है, अत: अंशत: ' ब ' पर निर्भर करता है । इस मत के अनुसार सौन्दर्य तभी अस्तित्व में आता है जब 'स' किसी विशेष प्रकार का हो - यह 'स' का गुण होगा जो 'ब' पर निर्भर है अत: सौन्दर्य स्वतंत्र नहीं, विषयि-निष्ठ ही है ।

(३) यह दृष्टिकोण वस्तु और उसके ज्ञान के भ्रम पर आधृत है । ज्ञात वस्तु और वस्तु के ज्ञान में अंतर है । न्याय और मीमांसा दोनों ही वस्तु और उसके ज्ञान में भेद मानते हैं । वस्तु का पृथक अस्तित्व है , इसीलिए उसका ज्ञान हो सकता है । यदि 'अ' वस्तु का ज्ञान 'अ' से भिन्न है तब एक का अभाव दूसरे को प्रमाणित नहीं कर सकता । ज्ञान का होना या न होना ज्ञेय वस्तु के गुणों को प्रभावित नहीं कर सकता ।

इसलिये , यदि वस्तु में सुन्दर होने का गुण है तो ज्ञाता मानस में घटित किसी बात से वह प्रभावित नहीं हो सकता । न तो

प्रशंसन से यह गुण प्रवर्द्धित होगा न उपेक्षा से घटेगा । मानस की उपस्थिति अथवा अनुपस्थिति से न्यूनाधिक्य होने वाला तत्व सौन्दर्य नहीं उसका प्रशंसन है ।

अत: जब तक ज्ञेय और ज्ञान को एक न समझा जाय तब तक यही मानना तर्कसंगत है कि सौन्दर्य का प्रशंसन मात्र विषयिनिष्ठ है । सौन्दर्य स्वयं वस्तुनिष्ठ है जो प्रशंसन की उपस्थिति अथवा अनुपस्थिति से प्रभावित नहीं होता ।

ज्ञेय और ज्ञान की एकरूपता ज्ञान-मीमांसा द्वारा ही अस्वीकृत नहीं है, भाषा के सामान्य प्रयोग में भी अवास्तविक है । यदि सौन्दर्य और उसकी अनुभूति में अंतर नहीं है तो `सौन्दर्य` पद के स्थान पर `सौन्दर्य का प्रशंसन` पद प्रयोग किया जाना चाहिए । परन्तु ऐसा प्रयोग नहीं होता, वस्तुत: यह संभव ही नहीं है ।

दो कथन है -- (१) `अ` एक अच्छा चित्र है, (२) यह `ब` से अच्छा है, प्रथम कथन का तात्पर्य है `अ` में कुछ गुण है जो द्रष्टा में कतिपय भावनाएं जाग्रत करते हैं । द्वितीय कथन का तात्पर्य है कि `अ` में ये गुण विशेष मात्रा में है, `ब` में नहीं हैं । इन गुणों के लिए यह चित्र भूत, वर्तमान अथवा भविष्य के मानसों पर निर्भर नहीं है । इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि वस्तु में गुणों का होना उसके प्रशंसन पर निर्भर नहीं करता । तथा गुणों का सदभाव विभिन्न पीढ़ियों में दिए गए निर्णयों पर भी निर्भर नहीं करता । सौन्दर्य की विषयिपरकता सिद्ध करने वाले यही तर्क देते हैं, कि एक ही वस्तु के विषय में भिन्न-भिन्न कालों में भिन्न-भिन्न व्यक्ति भिन्न-भिन्न राय देते हैं अत: सौन्दर्य विषयिपरक है । परन्तु यह सिद्ध हो चुका है कि वस्तु के गुण प्रशंसक निरपेक्ष हैं, प्रशंसन ही व्यक्तिसापेक्ष्य है ।

प्राकृतिक सौन्दर्य के उदाहरण उपर्युक्त कथन के प्रमाण है । न्यागरा के जल प्रपात का सौन्दर्य अथवा काश्मीर का प्रकृत सौन्दर्य हजारों

वर्षों से संसार के कोने-कोने के दर्शकों के प्रशंसन का आधार रहा है। परन्तु मानवीय कला का सौन्दर्य प्रकृत सौन्दर्य जैसा नहीं होता। उसमें रचयिता के भाव, संस्कार और दृष्टिकोण प्रतिबिम्बित होते हैं। समान परिवेश में स्थित द्रष्टा को यह कलाकृति सुन्दर भी लगेगी और अच्छी भी, पर भिन्न परिवेश में पले व्यक्ति को संभव है सुन्दर तो लगे पर अच्छी न लगे। किसी द्रष्टा को कोई कलाकृति सुन्दर न लगना कलाकृति में सौन्दर्य के अभाव का प्रमाण नहीं है, वरन् यह द्रष्टा की सौन्दर्य-प्रशंसन-सामर्थ्याभाव का सूचक है। सहृदय की अपेक्षा वस्तु के सौन्दर्य के लिए नहीं, उस सौन्दर्य के प्रशंसन के लिए है। भगवान और भक्त दोनों एक दूसरे के लिए आवश्यक हैं - अस्तित्व दोनों का है - पर भगवान और भक्त रूप में बोध एक दूसरे के कारण ही होता है। इसी प्रकार सौन्दर्य वस्तुनिष्ठ है, पर उसका प्रशंसन विषयिनिष्ठ है।

सौन्दर्य की विषयिनिष्ठता का प्रतिपादन करने वाले विद्वान, माता का कुरूप शिशु को भी प्यार करना, अच्छा समझना तथा मजनू द्वारा श्यामा लैला को प्रेम करना आदि उदाहरण देते हैं। ये उदाहरण उचित नहीं है। प्रथम में माता के वात्सल्य की सघनता है जिसके कारण कुरूप बच्चा भी उसे अच्छा लगता है। इस बच्चे के अच्छे लगने का कारण उसका सौन्दर्य नहीं, वरन् बच्चे के प्रति वात्सल्य का आधार होना है। माता के आदिम भाव का तृप्त होना है। अच्छे लगने से माता अपने ही वात्सल्य का चर्वण करती है - सौन्दर्य का नहीं। मजनूं में भी लैला के प्रति रति-भाव का आवेश है इसीलिए वह लैला को पसंद करता है। पसंद का आलंबन सुन्दर भी हो यह आवश्यक नहीं। कुरूप के प्रति, भयानक के प्रति आकर्षण भी मन के किसी ऐसे भाव के संतुष्ट होने के कारण होता है जो अन्यथा संभव नहीं है। मजनू और लैला के संदर्भ में लैला के प्रति तीव्र 'रति', रति भाव की तुष्टि ही आकर्षण का कारण है। रति सदैव सौन्दर्य के प्रति हो यह आवश्यक नहीं है।

कलाकृति का सौन्दर्य इस अर्थ में द्रष्टासापेक्ष्य है कि उसका प्रशंसन द्रष्टा ही करता है ।

भारतीय चिंतन परंपरा में सौन्दर्य के आधार के विषय में संतुलित विचार मिलते हैं । पाश्चात्य वैचारिक जिस निष्कर्ष पर १८वीं १६वीं शती में पहुँचे हैं वे भरत आदि आचार्यों में अत्यन्त पल्लवित रूप में उपलब्ध है ।

भरत के नाट्यशास्त्र में `रस` सौन्दर्य रूप में वर्णित है । यह नाट्यरस अथवा नाट्यसौन्दर्य रंगमंच पर विभावनुभावसंचारियों के संयोग से संपन्न नाट्य में रहता है । नाटक के प्रेक्षक इस `रस` रूप सौन्दर्य का आस्वादन करते हैं तथा हर्षादि का अनुभव करते हैं । `रस` को भरत ने नाट्य में उत्पन्न गुण माना है । अत: नाट्यवस्तु का गुण होने से इसे वस्तुनिष्ठ ही कहा जाएगा । यह नाट्यसौन्दर्य कलात्मकता से प्राप्त किया जाता है, क्योंकि विभावानुभावसंचारियों का प्रस्तुतीकरण महत् अभ्यास जन्य कला का ही परिणाम है ।

भट्ट लोल्लट तथा शंकुक की दृष्टि भी रस के संदर्भ में वस्तुनिष्ठता का पोषण करती है । वामन ने `सौन्दर्यमलंकार:` कह कर सौन्दर्य की वस्तुनिष्ठता का प्रतिपादन किया है ।

ध्वनिसिद्धान्त के प्रतिष्ठाता आचार्य आनंदवर्धन ने सौन्दर्य के विषय में अत्यंत सुलझे हुए विचार बिन्दु प्रस्तुत किए हैं । यह कहा जा चुका है कि आनंदवर्धन ने कलागत सौन्दर्य को प्रतीयमान कहा है । यह प्रतीयमान सौन्दर्य वस्तुरूप है, कलावस्तु का अविभाज्य गुण है । काव्य के संदर्भ में यह महाकवियों की वाणी में रहता है वस्तु में रहता हुआ भी, वस्तु के अवयवों का गुण होते हुए भी यह सौन्दर्य उनसे पृथक इस प्रकार आभासित होता है जैसे अंगनाओं का लावण्य उनके प्रसिद्ध अंगो से पृथक कुछ `और` ही होता है । सौन्दर्य के इस पृथक अस्तित्व को स्थापित करने वाले आनंदवर्धन-कथित कारिकांश निम्नांकित है --

(१) प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति... (प्र० उ० का ४)

(२) सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु..... (प्र० उ० का० ६)

आनंदवर्धन ने सौन्दर्य को ज्ञान का विषय और इस सौन्दर्य जन्य प्रभाव को चमत्कृति कहा है। यह स्थापना न्यायादि मतों के अनुकूल है और व्यवहार्य भी। ज्ञान का विषय और ज्ञान का फल भिन्न-भिन्न होते हैं। इससे एक के अभाव में दूसरे का अस्तित्व स्वत: सिद्ध हो जाता है। आनंदवर्धन की दृष्टि में सौन्दर्य अन्यसापेक्ष्य धर्म नहीं है। हां, उसके प्रशंसन के लिए सहृदय की अपेक्षा अवश्य है। परन्तु सौन्दर्य का सहृदय निरपेक्ष अस्तित्व सिद्ध है।

अत: आनंदवर्धन की एतद्विषयक धारणाएं निम्नांकित हैं --

(१) सौन्दर्य प्रतीयमान है।

(२) वह कलावस्तु का गुण है, अत: वस्तुनिष्ठ है।

(३) सहृदय में आल्हाद का हेतु है।

(४) उसे प्रयत्नपूर्वक, अत: कलात्मकता से प्राप्त किया जाता है - सौन्दर्य को उत्पन्न करने वाले उपादानों को यत्नत: पहचानना और संयोजित करना चाहिए।

(यत्नत: प्रत्यभिज्ञेयौ.......)

इन धारणाओं के परीक्षण से प्रमाणित होता है कि जिन आधुनिक सौन्दर्यशास्त्रीय विचारणाओं का पोषण पाश्चात्य चिंतन में तर्कसम्मत माना जा रहा है - उनको संस्कृत काव्यशास्त्र की स्पष्ट किन्तु समाहार शैली में आनंदवर्धन ने विक्रम की नवम शताब्दी में प्रतिपादित किया था। सौन्दर्य की वस्तुनिष्ठता का यह प्रतिपादन सभी ललितकलाओं के लिए पूर्ण संगत है। इस विधान में सौन्दर्य और सहृदय दोनों को तर्कसम्मत स्थान दिया गया है। कला के क्षेत्र में यही मत व्यावहारिक है।

किन्तु, रस रूप सौन्दर्य का विषयिपरक आख्यान अभिनवगुप्त ने किया है। वस्तुत: ध्वन्यालोक के भाष्य में एकाधिक स्थलों पर तथा नाट्यशास्त्र के रूपक के द्वारा अभिनव ने रसरूप सौन्दर्य की वस्तुनिष्ठता प्रतिपादित की है । पर शैवदर्शन से अत्यधिक प्रभावित अभिनवगुप्त ने ज्ञेय 'शिव' और ज्ञाता जीव की एकता का प्रयोग ज्ञान के विषय सौन्दर्य और ज्ञान के फल अनुभूति में कर दोनों को एक कर दिया । इस प्रकार रस अनुभूति स्वरूप कहा गया परन्तु जैसा कि कहा जा चुका है - यह स्थापना दार्शनिक बुद्धि को भले ही तुष्ट करे व्यवहार्य नहीं है ।

बाद में कविराज विश्वनाथ ने 'रसात्मकं वाक्यं....' और पंडित राज जगन्नाथ ने 'रमणीयार्थप्रतिपादक: शब्द:....' कह कर सौन्दर्य की वस्तुनिष्ठता ही स्वीकार की है ।

१.१८ सौन्दर्यानुभूति

सौन्दर्य के स्वरूप तथा आधार का विवेचन कर लेने के उपरांत एतद्विषयक शास्त्र का महत्वपूर्ण प्रतिपाद्य है - सौन्दर्यानुभूति । इस संदर्भ में कला-द्रष्टा में सौन्दर्यानुभूति के स्वरूप का विश्लेषण किया जाता है। सौन्दर्यानुभूति के क्षणों में द्रष्टा की स्थिति क्या होती है और वह क्या अनुभव करता है ?

जैसा आगे के विवेचन से स्पष्ट होगा भारतीय दृष्टि ने सौन्दर्यानुभूति के स्वरूप और उस क्षण में द्रष्टा की मानसिक स्थिति का विश्लेषण स्पष्टता एवं प्रामाणिकता से किया है। पाश्चात्य चिंतन में उपलब्ध विविध सिद्धान्त अनुभूतिके कारणों की शोध में अधिक प्रवृत्त हुए हैं। भारतीय चिन्तकों ने सौन्दर्यानुभूति का कारण साधारणीकरण माना है और यह पूर्णत: तर्कसम्मत स्थापना है। पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्रियों के मानसिक अन्तराल (Psychical distance), सुख (Pleasure) परिष्कार (Sublimation), भावप्रवणता (Emotionalism) आदि मत कहीं न कहीं साधारणीकरण

का स्पर्श करते हैं। प्रथमत: भारतीय विचारकों की तद्विषयक धारणाएं-विशेषत: आनंदवर्धन के संदर्भ में प्रस्तुत की जा रही है। आनंदवर्धन की ये विचारणाएं सभी कलाओं के लिए संगत हैं।

भरत ने रसरूप सौन्दर्य का आस्वाद आनंदमय माना है --

`यथा हि नानाव्यंजनसंस्कृतमन्नं भुंजाना रसानास्वादयन्ति सुमनस: पुरुषा हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति तथा नानाभावाभिनवव्यंजितान् वांगसत्वोपेतान स्थायिभावानास्वादयन्ति सुमनस: प्रेक्षका: हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति तस्मान्नाट्यरसा इत्यभिव्याख्याता:` [१]

उपर्युक्त कथन में प्रयुक्त `हर्षादि` पद के दो अर्थ किए जाते हैं। यह कहा जाता है कि भरत ने `आदि` पद से हर्ष के साथ कटु दु:खात्मक अनुभूति का भी संकलन किया है। इसी आधार पर, संभवत:, नाट्यदर्पणकार ने रस को सुख-दुखात्मक कहा है। परन्तु तर्क और व्यवहार के प्रमाण से रसरूप सौन्दर्य की आनंदमयता ही सिद्ध होती है। भरत ने `आदि` सामान्य कथन में प्रयोग किया है। व्यंजनों का आस्वादन करते समय आस्वादयिता दु:ख का अनुभव नहीं करता। तिक्त और कसैले रस भी आनंद के लिए ही उपभुक्त किए जाते हैं। अत: भरत के `आदि` प्रयोग में दु:ख का संकलन मानना उपयुक्त नहीं है। भट्टलोल्लट और शंकुक ने भी रस रूप सौन्दर्य की आनंदरूपता को ही स्वीकार किया है।

आनंदवर्धन प्रथम व्यक्ति है जिन्होंने काव्य (कला) सौन्दर्य की अनुभूति के संदर्भ में चमत्कार शब्द का प्रयोग किया है। सुन्दर वस्तु की परिभाषा के प्रसंग में आनंदवर्धन कहते हैं --`सहृदय को जिस वस्तु

---

१. नाट्यशास्त्र, काव्यमाला, पृ. ६३

के विषय में नूतन स्फुरण - आस्वादमय चमत्कार - की प्रतीति हो वह वस्तु सुन्दर है।'[1] इस प्रकार सौन्दर्य और आस्वादमय चमत्कार का योग कर आनंदवर्धन क ने ज्ञान के विषय सौन्दर्य और इस ज्ञान के फल चमत्कृति का आख्यान किया है। यही चमत्कृति सौन्दर्यात्मक अनुभूति है। इस अनुभूति की विवेचना में ध्वनिकार यह भी कहते हैं कि 'स्फुरणा' ही सहृदयों में चमत्कृति है।[2] इसी कारिका के भाष्य में अभिनव ने 'चमत्कृति' को आस्वाद प्रधान बुद्धि कहा है।[3] जब सहृदय में सुन्दर वस्तु के प्रति यह बुद्धि उद्रिक्त होती है तो वह अन्य कुछ स्मरण नहीं रखता। बुद्धि सौन्दर्यपूर्ण वस्तु से आच्छादित हो जाती है। इस स्थापना का निष्कर्ष यह है कि वस्तुपक्ष में जो सौन्दर्य है, सहृदय पक्ष में वही चमत्कृति है। यह अनुभूति विस्मय और आस्वादमूलक है। अभिनव ने इस की पुष्टि करते हुए सौन्दर्यानुभूति को चमत्कारमूलक कहा है।[4] कुन्तक ने भी इसी अर्थ में इस शब्द को स्वीकृति दी है। सौन्दर्यचेतना के संदर्भ में यह सत्य है कि यह चेतना परमानन्दमय ही नहीं होती वरन् इसमें विस्मय का भाव भी रहता है।[5] उत्पलदेव ने इस 'चमत्कार' पद का प्रयोग विशिष्ट अर्थ में किया है। आनंदवर्धन कृत प्रयोग व्यावहारिक अर्थ में है। नोली ने इस शब्द के व्याख्यान में लिखा है --'रहस्यात्मक और सौन्दर्यात्मक, दोनों ही प्रकार की अनुभूतियों में अन्य प्रकार की सांसारिक भावनाओं का अवसान होता है और आकस्मिक रूप से यथार्थ के नवीन आयाम से चित आप्लावित हो जाता है।'[6] पाश्चात्य चिंतन में भी इस

---

१. यदपि तदपि रम्यं यत्र लोकस्य किंचित् ।
स्फुरितमिदमितीय बुद्धिरभ्युज्जिहीते ।। ध्व.च.उ.१५,पृ.५५६

२. 'स्फुरणेयं काचिदिति सहृदयानां चमत्कृतिरुत्पद्यते' .... वही

३. 'चमत्कृतिरिति । आस्वादप्रधाना बुद्धिरित्यर्थः' .... वही

४. सम कन्सेप्ट्स आव द अलंकारशास्त्र, वी. राघवन, पृ.२६६

५. द एस्थेटिक एक्सपीरीएन्स अकार्डिंग्स टू अभिनवगुप्त, आर.नोली

६. वही

विचारधारा के समानधर्मी कथन उपलब्ध हैं। अभिनव के अनुसार सामान्य विस्मय की अपेक्षा सौन्दर्यानुभूतिजन्य विस्मय अधिक उदात्त होती है।[1] अत: चमत्कार सौन्दर्यात्मिक अनुभूति है।[2] यह चमत्कार सौन्दर्यात्मिक कला का सार तत्व है। यह सहृदय की चेतना का धर्म है, अनुभवसापेक्ष है, असामान्य आनंद इसका गुण है।

'चमत्कार' शब्द की व्युत्पत्ति में ही उपयुक्त अर्थों का संकेत है। सामान्यत: इस की दो व्युत्पत्तियां दी जाती है --

(१) चमत्+कार : इसमें 'चमत्' विस्मय का बोधक है तथा 'कार' से चेतन की उक्त स्थिति के कर्तृत्व का बोध होता है। अत: चमत्कार में द्रष्टा की चेतना को सहसा अभिभूत कर लेने वाले विस्मय अथवा आश्चर्य का भाव है। इसी से सौन्दर्य की अनुभूति होती है।

(२) में चमत् का संबंध चम् से है जिसका अर्थ आस्वादन करना है।[3] अत: चमत्कृत होने का अर्थ सौन्दर्यात्मिक आस्वाद में तन्मय होना है। इससे यह निष्कर्ष भी निकलता है कि चमत्कार चित्त का धर्म है। अभिनव ने इसे 'अन्यनिरपेक्ष स्वात्मविश्रान्ति की अवस्था कहा है, यह निर्विघ्न आस्वाद वृत्ति है।'[4] चमत्कार का आवेशाधिक्य ही सहृदयता है और इसका अभाव जड़ता है।

प्रतीयमान अर्थ रूप सौन्दर्य की सिद्धि का फल यही चमत्कार है। सौन्दर्य की अनुभूति के संदर्भ में आनंदवर्धन ने सर्वप्रथम 'चमत्कार' पद का प्रयोग किया था। भारतीय काव्यशास्त्र में यही मत बाद में प्रवर्द्धित होता रहा। आनंदवर्धन ने इस सौन्दर्यानुभूति रूप चमत्कार को आध्यात्मिक

---

१. द एस्थेटिक एक्सपीरीएन्स अकार्डिन्ग टू अभिनवगुप्त, आर.नोली
२. संस्कृत पोएटिक्स एज अ स्टडी आव एस्थेटिक्स, एस.के.डे, पृ.५६
३. संस्कृत हिन्दी कोश, आप्टे, पृ.६७२
४. द एस्थेटिक एक्सपीरीअन्स अकार्डिन्ग टू अभिनवगुप्त, पृ.६१

से नहीं उलझाया है, यही आनंदवर्धन की स्थापनाओं की विशेषता है कि वे पूर्ण व्याख्येय और व्यावहारिक हैं। कला-आस्वादन के समय सहृदय को जो कुछ प्रतीति होती है वह ज्ञान के सदृश बोध रूप न होकर अनुभवरूप होती है। कला-सौन्दर्य में उसका तन्मयीभवन होता है। अभिनव की दृष्टि में यह तन्मयीभवन ही अनुभवन है।[१]

६.१६ सौन्दर्यानुभूति और पाश्चात्य चिंतन

स्टालनित्ज[२] ने सौन्दर्यानुभूति के विषय में कहा है कि यह एक ऐसा अनुभव है जिसमें हम वस्तु को ग्रहण करते हैं - उसका आनंद लेते हैं, कोई प्रश्न नहीं पूछते, हम वस्तु के लिए वस्तु का आलिंगन करते हैं। निश्चय ही यह आलिंगन चित्त द्वारा होता है। प्रश्न पूछना अतन्मयीभवन की स्थिति में ही संभव है, परन्तु सौन्दर्यानुभव में क्योंकि चित्त वस्तुमय हो जाता है, बुद्धि सौन्दर्याच्छादित हो जाती है अत: हम प्रश्न नहीं पूछते वरन् वस्तु को संपूर्ण चेतना से ग्रहण करते हैं। इस स्थिति में आलोचना नहीं होती, चुनौती नहीं होती। जब सौन्दर्यात्मक अभिरुचि अधिक सघन होती है, द्रष्टा स्वयं को वस्तु में विलयित कर देता है।[३] बोध के प्रथम क्षण में ही, द्रष्टा तन्मय हो जाता है, संतोष का सुख पाता है। काण्ट ने भी सौन्दर्यजन्य संतोष की चर्चा की है। शापेनहावर ने इस अनुभूति की परम मूल्यवत्ता प्रतिपादित की है। सौन्दर्यात्मक अनुभूति के संदर्भ में ये कथन भारतीय दृष्टि के बहुत कुछ समानान्तर है।

सौन्दर्यानुभूति के विषय में पाश्चात्य विचारधारा के अंतर्गत निम्नलिखित पांच मत बहुचर्चित हैं। इनका संक्षिप्त विवेचन यहाँ दिया जा रहा है।

---

१. 'तच्चित्तवृत्तितन्मयीभवनमेवह्यनुभवनम्।' ध्वन्यालोक:, पाठक, पृ.१६२

२. एस्थेटिक्स अण्ड फिलासफी आव आर्ट, स्टोल्नित्ज, पृ.३६६

३. "When aesthetic interest is more intense, the percipient loses himself in the object." p.378

भावप्रवणतावाद (Emotionalism)

इस मत के प्रतिष्ठाता लिओ टाल्स्टाय हैं। टाल्सटाय के अनुसार कलाकार कलात्मक सौन्दर्य द्वारा द्रष्टा में भावनाएं संक्रमित करता है। रचयिता कलाकार जिन अनुभूतियों को अनुभव करता है वे ही कला द्वारा द्रष्टा में संक्रमित होती है। कलाकार बाह्य चिह्नों द्वारा अपनी अनुभूतियों का संप्रेषण करता है। यह कलासृजन का प्रक्रम सचेतन होता है। अनुभूतियों का यह संक्रमण कलाकार की ईमानदारी पर निर्भर है, उसने कितनी शक्ति से अनुभूतियों को फेला है। यदि द्रष्टा यह जान ले कि कलाकार जो कुछ कह रहा है - उसके लिए कह रहा है - कथ्य उसका अपना अनुभूति-सत्य नहीं है तो वह उदासीन हो जाएगी।[१]

उपर्युक्त मत के अनुसार कलासौन्दर्य की अनुभूति द्रष्टा द्वारा अनुभूत भावनाओं में है। तथा कलासौन्दर्य का सृजन कलाकार के द्वारा अनुभूत अनुभूतियों की तीव्रता में है। यदि संप्रेषित भावनाओं की अनुभूति द्रष्टा कर पाता है तो यही कला-सौन्दर्य की अनुभूति है। टाल्स्टाय के कला को मानव-मानव की बीच संबंध का माध्यम कहा है।[२]

तदनुभूति (Empathy)

तदनुभूति का सिद्धान्त द्रष्टा कि क्रियाशीलता को दृश्य वस्तु में विलयित होने का प्रतिपादन करता है। वेरों ली (Veron Lee) ने तदनुभूति विषयक मत के विवेचन में `पर्वत उठ रहा है` वाक्य का उदाहरण दिया है। द्रष्टा जब पर्वत के आकार को देखता है तो

---

१. प्रोब्लेम्स इन एस्थेटिक्स, मारिस वीत्स, पृ ६१४

२. एसथेटिक्स् फ्राम क्लासीकल ग्रीस टू द प्रेजेन्ट, बीअर्डस्ले, पृ ३१०

तद्नुभूति की विलयन-प्रक्रिया में केवल `उठने` के अपने विचार का ही स्थानान्तरण नहीं करता वरन् विचार और भावनाओं का भी स्थानान्तरण करता है । `उठने` का विचार द्रष्टा के मानस कोश में समय - समय पर एकत्रित होता रहा है । इस पर्वत विशेष के संपर्क में आने के पूर्व ही `उठने` का भाव संस्कार रूप में उसके मानस में है । जब वह पर्वत विशेष को देखता है तब उस जड़ आकार को अपने मानस कोश में निहित अनुभूतियों से नियुक्त करता है । तब वह `पर्वत` को उठता` हुआ अनुभव करता है - यह प्रक्रिया अत्यंत जटिल है । इस प्रकार मानस-कोश में संस्कार रूप में निहित भावनाओं को विचार के साथ जब सुन्दर वस्तु में स्थानान्तरित किया जाता है तो वेरों ली उसे तद्नुभूति (Empathy) कहते हैं ।

यह तदनुभूति दाण भर के लिए ही सही अहं के तिरोभाव पर निर्भर करती है ।[१] यदि द्रष्टा को इस बात का बोध रहेगा कि वह `पर्वत` का उठना सोच रहा है, वह `उठने` का अनुभव कर रहा है तो तदनुभूति संभव नहीं है ।

उपर्युक्त स्थापना के अनुसार सौन्दर्यानुभूति में द्रष्टा अपने अंश का तिरोभाव करता है । सौन्दर्यपूर्ण वस्तु के प्रभाव से द्रष्टा की संस्काररूप भावनाएं उस वस्तु में स्थानान्तरित होती है और वह आनंद की अनुभूति करता है । द्रष्टा इस अनुभव में न तो यह सोचता है कि वह अनुभव कर रहा है और न अन्य किसी विचार अथवा भावना से ही युक्त होता है ।

परिष्करण (Sublimation)

फ्रायड कला को ऐसी प्रक्रिया मानते हैं जिससे कलाकार की असंतुष्ट कामनाएं उपशमित होती है । यह प्रक्रिया केवल कलाकार की

---

१. प्रोब्लेम्स इन एस्थेटिक्स, , मारिस वीत्ज़ , पृ ६२३-६२४

अपूर्ण-असंतुष्ट इच्छाओं का ही उपशमन नहीं करती वरन् कलासौन्दर्य के भावक की असंतुष्ट भावनाओं का उपशमन भी करती है।[1]

कला का आनंद इन भावनाओं के उपशमन का संतोष ही है।[2] कला का द्रष्टा यही समझता है कि वह कला के रूप से आनंदित हो रहा है पर उसके सुख का अधिकांश स्त्रोत उसके अचेतन मानस में ही होता है।[3]

सुखवाद (Pleasure)

जार्ज सन्तायन इस मत के प्रतिष्ठापक हैं। इसके अनुसार सौन्दर्य की अनुभूति आनंदात्मक है तथा जब द्रष्टा सौन्दर्यात्मक सुख की स्थिति में होता है तब अहं, स्वामित्व जैसी भावनाएं नहीं रहती - अवलोकन का शुद्ध हर्ष द्रष्टा - मानस को परिप्लावित रखता है।[4] प्रत्येक सुख किस न किसी रूप में तटस्थ होता है। इसमें अन्य किसी लक्ष्य का संधान नहीं होता, इस सुख स्थिति में जो कुछ मानस में व्याप्त होता है वह गणनात्मक परिस्थिति नहीं होती वरन् वस्तु अथवा घटना का भावनाओं से समवेत बिम्ब मानस को आच्छादित कर लेता है। बहुधा परिष्कृत चेतना के लिए 'स्व' (self) का विचार निकष बन जाता है। परन्तु यह 'स्व' - जिसके संतोष और विवर्धन हेतु मनुष्य जीवित रहता है लक्ष्यों और स्मृतियों का पुंज होता है, इन लक्ष्यों और स्मृतियों के कभी साक्षात वस्तु लक्ष्य रहे होंगे। ये संतोष जो मिलकर 'स्वार्थ' का निर्माण करते हैं - इनमें से प्रत्येक के स्वयं में अच्छा है, स्वार्थहीन है, निर्वैयक्तिक भाव है। इस प्रकार स्वार्थ की विषयवस्तु स्वयं में निस्वार्थ है। किसी व्यक्ति की प्रकृत

---

१. प्रोब्लेम्स इन एथेटिक्स, मारिस वीत्ज़, पृ ६२७

२. वही, पृ ६३२

३. वही, पृ ६३३

४. वही, पृ ६३८

क्षुधा में अथवा उसके अपने कुत्ते अथवा बच्चों के प्रति प्रेम में स्वार्थ का अभिधान किया जाता है - यह इसलिए कि व्यक्ति की ये भावनाएं अन्य द्वारा सम्मुक्त नहीं होती । निस्वार्थ व्यक्ति की प्रकृति अधिक विश्वव्यापी दिशाओं में प्रवृत होती है। उसकी रुचियां व्यापकत: विकीर्ण होती है।

परन्तु सभी विचारों का आधार कोई न कोई वस्तु होती है अत: विचारों की निर्वैयक्तिकता उनकी आधारभूत वस्तुओं के रूप में ही हो सकती है, विषयि के संदर्भ में नहीं । निस्वार्थ रुचियां भी किसी न किसी व्यक्ति की रुचियां ही है । यदि कोई सौन्दर्य में रुचि नहीं रखता, यदि वस्तुओं के सौन्दर्य अथवा असौन्दर्य का संबंध द्रष्टा की प्रसन्नता से न हो तो इसका अर्थ यही है कि द्रष्टा में सौन्दर्यात्मक प्रवृत्ति का सर्वथा अभाव है। अत: सौन्दर्यानुभूतिजन्य आनंद के ताटस्थ्य का यही अर्थ है कि इसमें आदिम और अन्तजात संतोष , 'स्व' जैसी कृत्रिम धारणाओं के संदर्भ से नियंत्रित नहीं होते । इस संतोष की शक्ति इसके अवयवों से ही प्राप्त होती है ।[१]

वस्तु के द्वारा उत्पन्न आनंद और उसके अवलोकन का पार्थक्य स्पष्टत: दिखलाया जा सकता है। आनंद और अवलोकन में काल का भी अंतर है। आनंद प्रभाव के रूप में अनुभूत होता है, वस्तु के गुण के रूप में नहीं । परन्तु जब अवलोकन की प्रक्रिया ही हर्षदायक हो तो हम आनंद को वस्तु से ही संयुक्त पाते हैं। इस स्थिति में आनंद अन्य मूर्तिमान भावनाओं के सदृश मूर्त हो जाता है।[२]

---

१. प्रोब्लेम्स इन एस्टेटिक्स, मारिस वीत्ज, पृ ६३६

२. वही, पृ ६४४

मानसिक अंतराल (Psychical distance)

मानसिक अंतराल, वस्तुत: वस्तु को, स्व-निरपेक्ष? व्यक्तिगत इच्छाओं-कामनाओं के संदर्भ से मुक्त होकर देखना है। आंतरालिक दर्शन व्यक्ति का सामान्य दृष्टिकोण नहीं होता। नियमत: कोई भी अनुभव व्यक्ति के `स्व` से संबंधित होता है। मानव वस्तु के उन्हीं गुणों से प्रभावित होता है जो उसको तत्काल और व्यवहारत: प्रभावित करते हैं। जो गुण तत्काल प्रभाव नहीं डालते, सामान्यत: व्यक्ति को उनकी जानकारी नहीं होती। वस्तु के अनदेखे परिदृश्यों के प्रभाव अकस्मात रहस्योद्घाटन की भांति प्रकट होते हैं। यह कला द्वारा उत्पन्न प्रभाव की स्थिति है। इस सामान्य अर्थ में, कला में मानसिक अंतराल क्रियाशील होता है। इसीलिए यह सौन्दर्यशास्त्र का सिद्धान्त है। यह मानसिक अंतराल `सुन्दर` का निकष प्रस्तुत करता है। यह कलात्मक सृजन का महत्वपूर्ण सोपान है, कलात्मक स्वभाव का विशिष्ट गुण है। [१]

मानसिक अंतराल का सिद्धान्त स्वनिरपेक्ष दर्शन पर बल देता हुआ भी वस्तु और `स्व` के संबंध को निर्वैयक्तिकता की सीमा तक टूटा हुआ नहीं मानता। यद्यपि `वैयक्तिक` और `निर्वैयक्तिक` इन दो पक्षों में से मानसिक अंतराल की धारणा के निकट `निर्वैयक्तिक` ही है तथापि विषयनिष्ठ, वस्तुनिष्ठ, वैयक्तिक, निर्वैयक्तिक जैसे शब्द इस दृष्टिकोण में प्रयुक्त करना भ्रामक ही होगा।

मानसिक अंतराल का तात्पर्य वैज्ञानिक जैसा निर्वैयक्तिक, शुद्ध बौद्धिक संबंध भी नहीं है। इसके विपरीत यह भावनाओं के रंगों में रंगा व्यक्तिगत संबंध है - पर एक विचित्र प्रकार का। इसकी विचित्रता व्यक्तिगत गुण के छन (Filter) जाने में है। इसका श्रेष्ठ उदाहरण नाटक

---

१. प्रौब्लेम्स इन एस्थेटिक्स, मारिस वीत्ज़, पृ ६४८

के पात्रों और घटनाओं के प्रति हमारा दृष्टिकोण है। नाटक के पात्र हमें सामान्य अनुभव के पात्र की भांति प्रभावित करते हैं। इसमें अंतर यह है कि उनके प्रभाव का वह पक्ष जो हमें साक्षात् वैयक्तिक रूप में प्रभावित करता, तिरोहित हो जाता है। यह अंतर सामान्यत: यह कहकर व्याख्यायित किया जाता है कि हमें यह ज्ञान होता है कि पात्र और घटनाएं काल्पनिक होते हैं। परन्तु यह ज्ञान कारण नहीं है, फल है और इसका कारण मानसिक अंतराल ही है।

कलाकार भी अपने सृजन को तभी कलात्मक बना सकता है जब वह अपनी अनुभूतियों से तटस्थ हो चुका है। सामान्य मनुष्य अपने अति-सुख अथवा अति दु:ख को इसीलिए दूसरों तक उस रूप में नहीं पहुंचा सकता कि उसमें उसका व्यक्ति तत्व रहता है, वह उनसे तटस्थ नहीं होता।

अत: सृजन और प्रशंसन दोनों में मानसिक अंतराल आवश्यक है।[१]

उपर्युक्त सभी मतों में कला-सौन्दर्य की अनुभूति सुखकारक मानी गई है। अत: यह स्थिति भारतीय स्थापना के अनुरूप ही है जो सौन्दर्य के दर्शन में चमत्कार की आल्हादक अनुभूति का प्रतिपादन करती है। इसीलिए आनंदवर्धन की 'सहृदयों में चमत्कृति विषयक' धारणा सभी कलारूपों के लिए संगत है।

तदनुभूति के सिद्धान्त में अहं के 'तिरोभाव' को महत्व दिया गया है, सौन्दर्यानुभूति के क्षण को अन्य अनुभूति से अथवा विचार से मुक्त कहा गया है। यह वस्तुत: अभिनव प्रतिपादित 'वीतिविघ्न प्रतीति' का प्रतिपादन है। अभिनव ने आनंदवर्धन कथित चमत्कार की व्याख्या - 'अन्य निरपेक्ष स्वात्मविश्रान्ति की अवस्था है, निर्विघ्न आस्वाद वृत्ति है' वाक्य द्वारा की है।

---

१. प्रोब्लेम्स इन एस्थेटिक्स, मारिस, वीत्ज़, पृ ६५१

परिष्करण में भी भावनाओं की तुष्टि में आनंद को स्वीकृति दी गई है।

जार्ज सन्तायन के सुखवाद में एक विशिष्ट विचार बिन्दु है। वस्तु के अवलोकन और तज्जनित आनंद में दो प्रकार माने गए हैं :

(१) आनंद और अवलोकन में काल का क्रम रहता है, आनंद प्रभाव के रूप में होता है।

(२) अवलोकन की प्रक्रिया ही हर्षदायक हो तो आनंद को वस्तु से ही संयुक्त मान लिया जाता है।

आनंदवर्धन ने संलक्ष्यक्रम और असंलक्ष्य कह कर उपर्युक्त दो धारणाओं का संकेत नवम् शताब्दी में किया था। प्रथम में अवलोकन से आनंदानुभूति तक पहुंचने का क्रम दृश्य रहता है द्वितीय में यह क्रम रहते हुए भी प्रतीत नहीं होता, तात्कालिक होने के कारण आनंद मूर्त सा लगता है। इसी स्थिति को आनंदवर्धन ने भी श्रेष्ठ कहा है।

'मानसिक अंतराल' आनंद को स्वीकृति देता हुआ भी कलाजनित आनंद की प्रक्रिया को स्पष्ट करता है। व्यक्ति स्वनिरपेक्ष होकर वस्तु को देखता है। हमारा विचार है कि कलाकार की अनुभूति की प्रतीयमानता वाला सिद्धान्त अधिक पूर्ण है। कला सृजन के दौर में कलाकार की अनुभूति प्रतीयमान हो जाती है, यह प्रतीयमान अनुभूति का सौन्दर्य निर्वैयक्तिक होता है। श्रोता अथवा दर्शक इसे स्व-पर की भावना से मुक्त होकर ग्रहण करता है, आनंद का अनुभव करता है। व्यंजना व्यापार द्वारा साधारणीकरण की धारणा इस दृष्टि से पूर्ण धारणा है।

६.२० स्थापत्य कला और सौन्दर्यात्मक अनुभूति

जब सहृदय स्थापत्य कला के प्रतिमान- किसी भवन- किसी मंदिर अथवा अन्य ऐसी ही किसी रचना को देखता है तो सर्वप्रथम वह

प्रतिमान दृष्टि में वस्तु के रूप में उभरता है तथा उसके प्रति विस्मय का भाव द्रष्टा में उत्पन्न होता है। वह यह देखकर विस्मित होता है कि यह सौन्दर्य का स्वर्ग धरती पर कैसे - किसके द्वारा विन्यस्त किया गया। अत: यह सौन्दर्यात्मक अनुभूति विस्मय स्थाई भाव के परिणत रूप अद्भुत रस में अभिव्यक्त होगी। भरत ने देवकुल और समागार को विस्मय का आलंबन स्वीकार किया है। भोज ने भी 'समरांगण सूत्रधार' में स्थापत्य कला के प्रतिमान को विस्मयोत्पादक माना है।

इसके अतिरिक्त स्थापत्य से सौन्दर्यानुभूति का एक स्वरूप और होगा। स्थापत्य के मूल में निर्माता के भाव और विचार रहते हैं। कला के माध्यम से रचयिता के भावों - विचारों से तादात्म्य भी सौन्दर्यानुभूति ही है। एक बौद्धमंदिर मानस में शांति की तरंगे उपपादित करता है। चित्तौड़ का किला द्रष्टा में उत्साह जनित रोमांच उत्पन्न करता है। यही अवस्था जब चरम क्षणों में होती है तो द्रष्टा वस्तु-ब्रह्म की अनुभूति करता है।

६.२१ संगीत कला और सौन्दर्यानुभूति

जब कोई वस्तु स्व-पर की भावना से मुक्त मानस पर परावर्तित होती है तब यह दु:ख अथवा सुख का आलम्बन नहीं बनती, वरन् द्रष्टा के स्व-पर निरपेक्ष मानस में एक कंपन सा उत्पन्न करती है -- इस प्रकार आत्मन् के आनंदस्वरूप को उजागर करती है। जब मधुर संगीत को सहृदय सुनता है तो यही होता है। यदि सौन्दर्यात्मक वस्तु की मूलप्रकृति आनंदात्मक नहीं होगी तो यह कैसे संभव है? अभिनव के अनुसार संगीत सौन्दर्य की अनुभूति - आनंद की अनुभूति है - भावमय आनंद की। इसी लिए अभिनव यही मानते भी हैं कि सहृदय वही है जो भावमयता की स्थिति तक पहुंच सकता है।

६.२२ सौन्दर्य का सहृदय संवेद्यत्व

आधुनिक सौन्दर्यशास्त्री इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि प्रतीयमान सौन्दर्य सर्वजनसंवेद्य नहीं है । ग्रीन ने इस विषय के महत्व को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि कलाकार द्वारा अभिव्यंजित विषयवस्तु का अनुभव कला के क्षेत्र में प्रशिक्षित व्यक्तियों को ही हो सकता है ।[१] इसका कारण यह है कि कलात्मक अभिव्यंजना सौन्दर्य संचालित होती है और सौन्दर्यदृष्टि प्रत्येक व्यक्ति में नहीं होती ।

यही स्थिति संगीतकला की भी है । संगीत कला[२] व्याकरण पर अधिकार कर लेने से ही इस कला के प्रति समझ उत्पन्न नहीं होती वरन् उन भावनाओं के प्रति भी पकड़ होनी चाहिए जिनसे प्रेरित होकर संगीत की विशिष्ट रचना श्रोताओं के समक्ष प्रस्तुत की गई है । तात्पर्य यह कि संगीत में भाव व्यंजना की समझ प्रत्येक को नहीं हो सकती । संगीत की तकनीकी विशेषताएं ताल, राग आदि का ज्ञान अभ्यास करने से हो सकता है, पर संगीत की आत्मा, भाव तक पहुंचने के लिए प्रशिक्षित सहृदयता की अपेक्षा है ।

आचार्य आनंदवर्धन भी प्रतीयमान अर्थ के लिए सहृदय की अपेक्षा मानते हैं । उन्होंने ऐसे सहृदय के लिए 'काव्यार्थतत्वज्ञ' विशेषण का प्रयोग किया है - उनका स्पष्ट मत है कि शब्द और अर्थ के शासन अर्थात् व्याकरण मात्र के ज्ञान से उस प्रतीयमान अर्थ के सौन्दर्य को नहीं जाना जा सकता, वह तो काव्यार्थतत्वज्ञों के द्वारा ही अनुभव किया जा सकता है -

---

१. The Arts and the art of criticism : Greene : Princeton Un. Press. p. 97

२. Ibid. p.335

शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते ।

वेद्यते स तु काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव केवलम् ।।७।।[1]

`केवलम्` की व्यंजना भी यही है कि मात्र सहृदय उस अर्थ के सौन्दर्य को पहचान सकते हैं।

आनंदवर्धन ने ध्वन्यालोक के प्रारंभ में ही जो श्लोक कहा है उसमें भी यही प्रतिज्ञा है कि सहृदयों के मन की प्रसन्नता के लिए ध्वनि का स्वरूप कहते हैं --

`तेन ब्रूम: सहृदयमन:प्रीतये तत्स्वरूपम्`[2]

`सहृदय` से तात्पर्य यहां `काव्यमर्मज्ञत्व` ही है। पुन: काव्यात्मा के रूप में व्यवस्थित अर्थ को भी सहृदयश्लाघ्य कहा है। अतएव कलामात्र के सौन्दर्यानुभव के लिए सहृदय की अपेक्षा है। प्रत्येक जन कला की प्रशंसा कर सके, ऐसा संभव नहीं है। कवि में जैसे निर्माणक्षमा कारयित्री प्रतिभा आवश्यक है वैसे ही भावन करने वाले में भावयित्री प्रतिभा होती है। सहृदय भावयित्री प्रतिभा से युक्तजन होता है। ध्वन्यालोक लोचन में अभिनवगुप्त ने सहृदय का व्याख्यान इस प्रकार किया है -- `येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद्विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयीभवनयोग्यता ते स्वहृदय संवादभाज: सहृदया:। यथोक्तम् --

योऽर्थो हृदयसंवादी तस्य भावो रसोद्भव: ।

शरीरं व्याप्यते तेन शुष्कं काष्ठमिवाग्निना ।।

अर्थात् काव्य के अनुशीलन के अभ्यासवश जिनके विशदीभूत मन के दर्पण में वर्णनीय वस्तु के साथ तन्मय हो जाने की योग्यता हो वे, अपने हृदय के साथ संवाद को भजन करने वाले जन सहृदय कहलाते हैं --

---

१. ध्वन्यालोक:, आ० वि० प्रथम-उद्योत, पृ ३२

२. वही, पृ २

तथा जो अर्थ हृदय के साथ संवाद रखने वाला होता है उसका भाव रस की अभिव्यक्ति का कारण होता है। वह (सहृदय के) हृदय को वैसे ही, व्याप्त कर लेता है जैसे शुष्क काष्ठ को अग्नि।[1] अर्थात् काव्य के अनुशीलन के अभ्यासवश जिनके विशदीभूत मत के दर्पण में वर्णनीय वस्तु के साथ तन्मय हो जाने की योग्यता हो, वे अपने हृदय के साथ संवाद को भजन करने वाले जन सहृदय कहलाते हैं। तथा जो अर्थ हृदय के साथ संवाद रखने वाला होता उसका भाव रसाभिव्यक्ति का कारण होता है। वह हृदय को वैसे ही व्याप्त कर लेता है, जैसे शुष्क काष्ठ को अग्नि व्याप्त कर लेती है।

सहृदय की बुद्धि तत्वार्थदर्शिनी होती है तथा वह वाच्यार्थ से विमुख होता है, वह तो कला के सौन्दर्य का पिपासु होता है सौन्दर्य के उपादानों का नहीं --

तद्वत सचेतसां सोऽर्थो वाच्यार्थविमुखात्मनाम्।
बुद्धौ तत्वार्थदर्शिन्यां झटित्येवावभासते।।[2]

अलबर्ट, आर, वेन्हलर ने श्रोता अथवा दर्शकों को चार कोटि में रखा है --

(१) आब्जेक्टिव टाइप - यह श्रोता संगीत के स्वरों, वाद्ययंत्र के दोषों तथा यंत्रों को शीघ्रता से पहचानता है।

(२) इन्द्रासब्जेक्टिव टाइप - यह श्रोता संगीत के प्रभाव स्वरूप स्वयं में होने वाले यथार्थ अथवा प्रतीत होने वाले परिवर्तन का अनुभव करता है।

(३) असोसिएटिव टाइप - यह संगीत से सर्वद्ध दृश्य, घटनाओं और व्यक्तियों का विवरण प्रस्तुत करता है।

(४) करेक्टर टाइप - यह श्रोता संगीत में भाव, मनोदशाओं और विशेषताओं का आरोपण करता है।

---

१. ध्वन्यालोक: प्रा० वि० प्रथम - उद्योत, पृ ४०

२. ध्व० प्र० उ० १२ आ.वि.टी. पृ ३६

बुलो से सहमत होते हुए मेयर (Myers) ने चतुर्थ[1] को सर्वाधिक सौन्दर्यसंवेदी कहा है। इनमें से प्रथम आनंदवर्धन के शब्दों में शब्दार्थ शासन ज्ञाता है और चतुर्थ सहृदय। यही संगीत की प्रभावशाली और भावसंपृक्त विविधरंगी अभिव्यक्ति को ग्रहण कर सकता है। पुस्तक से संगीत ज्ञान प्राप्त करने वाले को संगीत सौन्दर्य अज्ञात ही रहता है, वह तो सहृदय को ही ज्ञात होता है। आनन्दवर्धन ने इसी मत का प्रतिपादन किया था।[2] सहृदय जब सौन्दर्यानुभूति करता है तो सौन्दर्य उसके व्यक्तित्व का अंग बन जाता है। कला सहृदय के व्यवहार में प्रतिभासित होती है। सहृदय कलाकार के प्रति भी सहानुभूतिपूर्ण होता है।[3]

सहृदय के लिए कला वह भाषा है जिसमें मानवात्मा अपनी दुनिया के रहस्य उस तक पहुंचाती है।[4]

आनंदवर्धन ने सहृदय की इन विशेषताओं का उद्घाटन नवमशती में किया था। कला के लिए सहृदय की अपेक्षा स्वत: सिद्ध है। सहृदय ही कला का प्रशंसन करता है। अत: सहृदय विषयक आनंदवर्धन की धारणा कलामात्र के लिए संगत है। यह एक कला मूल्य है।

६.२३ औचित्य का सन्निवेश

आनंदवर्धन ने औचित्य को प्रतीयमान की प्रतीति के लिए आवश्यक माना है। कला में औचित्य सर्वत्र नियामक तत्त्व है। आनंदवर्धन

---

१. द प्रोब्लेम्स आव एस्थेटिक्स, पृ २६१-२६४ एलिसीओ विवस और मरे क्रीग
२. ध्व० पृ.३२ प्र० उ० का० ७, आ० वि०
३. अन इन्ट्रोडक्शन टू आर्ट एक्टीविटीज, राफ, एल०, पृ २५६
४. आर्ट अण्ड द मैन, इरविन एडमन, पृ ३४-३५

के बहुत बाद क्षेमेन्द्र ने औचित्य की परिभाषा, 'उचितस्य भावं औचित्यं' कहकर दी है। औचित्य संगति से उत्पन्न होता है। काव्य के संदर्भ में शब्दार्थ की संगति-चित्र आदि कलाओं में ततत उपादानों की संगति - अवयवों की पारस्परिक संगति तथा पूर्ण के साथ संगति अपेक्षित है। अनुचित प्रयोग भाव छेद का कारण बनता है। सर्गबन्ध अर्थात् महाकाव्य में औचित्य की आवश्यकता बतलाते हुए आनंदवर्धन ने लिखा है --

'सर्गबन्धे तु रसतात्पर्ये यथारसमौचित्यं, अन्यथा तु कामचार:' अर्थात् सर्गबन्ध (महाकाव्य) में रस प्रधान होने पर रस के अनुसार औचित्य होना चाहिए अन्यथा कामचार (स्वतंत्रता) है। न केवल महाकाव्य में वरन् गद्यकाव्यों में औचित्य आवश्यक है --

> एतद् यथोक्तमौचित्यमेव तस्या नियामकम्।
> सर्वत्र गद्यबन्धेऽपि छन्दोनियमवर्जिते ।।८।।[1] पृ.१८६

अर्थात् यह पूर्व वर्णित औचित्य ही छन्द के नियम से रहित गद्य रचना में भी सर्वत्र उस संघटना का नियामक होता है। विषयगत औचित्य भी इसमें रहता है। यदि कवि अथवा कविनिबद्ध वक्ता रसभाव से रहित होता हो तो वह स्वतन्त्र है परन्तु रस-भाव से समन्वित वक्ता होने पर तो औचित्य का पालन अनिवार्य है। रस बन्ध का औचित्य सर्वत्र आवश्यक है --

> रसबन्धोक्तमौचित्यं भाति सर्वत्र संश्रिता।
> रचना विषयापेक्षं तत्तु किंचिद् विभेदवत् ।।९।।[2]

---

१. ध्वन्यालोक : सं० पाठक, चौ० पृ ३५७

२. वही पृ ३५८

अर्थात् रसबन्ध में उक्त (नियमानार्थ प्रतिपादित) औचित्य का आश्रय करनेवाली रचना सर्वत्र (गद्य पद्य दोनों में) शोभित होती है। विषयगत औचित्य की दृष्टि से उसमें कुछ भेद हो जाता है। पद्य के समान गद्य में भी रसबन्धोक्त औचित्य का सर्वत्र आश्रय लेने वाली रचना शोभित होती है। इतना ही नहीं आनंदवर्धन ने भाव, विभाव अनुभाव आदि के भी औचित्य पर बल दिया है।

विभाव, (स्थायी) भाव, अनुभाव, संचारी के औचित्य से सुन्दर, वृत्त (ऐतिहासिक) अथवा उत्प्रेक्षित (कल्पित) कथा शरीर का निर्माण होता है।[१]

...

---

१. ध्वन्यालोक : सं० पाठक, चौ० पृ २५६

अ ध्या य - ७

व्यंजकत्व : सौन्दर्योपादान

७.१ ध्वनिसिद्धान्त में प्रतिपादित व्यंजक की धारणा कला-सौन्दर्य की व्याख्या के लिए अत्यन्त उपयोगी है । व्यंजक कला-सौन्दर्य की अभिव्यक्ति में सहायक उपादान है । कला मात्र में कुछ स्थल विशेषत: उभारकर प्रस्तुत किए जाते हैं । द्रष्टा की कला चेतना इन विशेष बिन्दुओं के चतुर्दिक केन्द्रित हो जाती है । ये प्रमुख बिन्दु संपूर्ण कृति को विशेष अर्थवत्ता के साथ व्यक्त करते हैं । किंचित ध्यान देने पर ये स्थल व्यंग्य अर्थ (Suggested Meaning) के केन्द्र प्रतीत होंगे । आधुनिक शैलीशास्त्र के अंतर्गत कविता के संदर्भ में इस प्रकार के प्रयोगों को फोरग्राउंडेड (Foregrounded) प्रयोग कहा जाता है । चित्रकला के संदर्भ में इस प्रक्रिया को प्रभाविता (dominance) कहा गया है ।[१] कलाकार अपनी कृति में कतिपय विशेष बिन्दुओं की ओर द्रष्टा का ध्यान आकर्षित करना चाहता है । ये व्यंजक बिन्दु एक प्रकार के प्रकाश केन्द्र के समान कार्य करते हैं जो कृति के अन्य अवयवों को भी विशेष अर्थवत्ता से युक्त कर देते हैं ।

---

१. Art Activities, Ralph. L. Wickiser, p.91.

७.२ कलाकार परंपरा को तोड़ता है, उससे विपथन करता है। कलाकार का महत्व पूर्वनिश्चित प्रतिमानों को यथावत् पुन: प्रस्तुत करने में नहीं है वरन् उसकी महत्ता इस तथ्य में है कि उसने पूर्वनिश्चित प्रतिमानों से क्या और कितना अप्रत्याशित विपथन किया है,[१] इन विपथनों से क्या विशेषताएं उत्पन्न की है। कला चाहे मूर्ति हो, स्थापत्य अथवा संगीत उसकी अर्थवत्ता के मूल्यांकन हेतु विशिष्ट बिन्दुओं पर ध्यान केन्द्रित करना ही होगा। इन्हीं बिन्दुओं को फोरग्राउंडेड (Foregrounded) उपादान कहा जाता है। गेस्टन लाची (Gaston Lachaise) निर्मित ब्रोन्ज की एक स्त्री मूर्ति म्यूजियम आव माडर्न आर्ट, न्यूयार्क में है,[२] इसमें उभार (convexity) को प्रभावित्ता-उपादान के रूप में प्रयुक्त किया गया है। संगीत की रचना में भी अन्य राग के किसी स्वर का समायोजन कलात्मक विपथन होकर विशेष प्रभाव का व्यंजक बन सकता है।

७.३ आधुनिक चित्रकार चित्र पट पर समस्या के रूप में कुछ प्रस्तुत कर दर्शक की चाक्षुष्य कल्पना को उत्तेजित करता है। यह चित्रसृष्टि अनियमितताओं और अंतर्विरोधों से पूर्ण प्रतीत होती है। इसमें व्याख्या के पारंपरिक सूत्रों (clues) का अभाव होता है। गोम्ब्रिख ने घनवादी रचनाओं के विषय में कहा है --`इनमें विपरीत सूत्र (clues) होते हैं जो संगति लगाने के सभी प्रयत्नों का प्रतिरोध करते हैं।`[३] व्याख्या के सरलतम मार्ग का अवलंबन ग्रहण करने वाला द्रष्टा इससे निराश होता है, वह संरचना के उस आंतरिक तल को पाना चाहता है जिससे बाह्यत: प्रतीत होने वाली असंगतता का समाधान हो सके। घनवादी कलाकार का साहित्यिक स्थानी वह कवि है जो वाक्यों का विन्यास इस प्रकार करता

---

१. A Linguistic guide to Eng. Poetry, G.N.Leech, p.57

२. The Visual Art as human experience, Donald L.Weisman p.145

३. Art and illusion. p.204

है कि पाठक स्पष्ट व्याख्या के लिए संरचना के आन्तरिक तल तक पहुँचे ।

ग्रौम्ब्रिस[१] (Gombrich) का यह विचार ठीक है कि `कोई भी चित्र अपनी प्रकृति से ही दर्शक की चाक्षुष कल्पना के लिए आकर्षण उत्पन्न करता है, इसे समझने के लिए पूरक की आवश्यकता होती है । यही बात कविता के संबंध में भी सच है । कविता अपने रचयिता और पाठक दोनों से पृथक अस्तित्ववान है । पर जब हम पूछते हैं कि कविता का तात्पर्य क्या है ? तो हमारे मानस में एक व्याख्या करने वाला होता है, तब हमें यह भी सोचना चाहिए कि वह व्याख्या करने वाला कविता में क्या जोड़ता है । [२] एक सहृदय पाठक उन सभी अर्थवत्ताओं को स्वीकार करता है जो संगतता के दायरे में होती है, पर संगतता आदि का निर्णय सौन्दर्यात्मक निर्णय-क्षमता पर निर्भर करता है । कवि द्वारा प्रयुक्त एक उपयुक्त शब्द, चित्रकार द्वारा प्रयुक्त एक लघुबिन्दु अथवा रेखा का सामान्य सा प्रतीत होने वाला वक्र संपूर्ण कृति को विचित्र अर्थवत्ता से भर देता है । डोनाल्ड.एल वीज़मैन [३] (Donald. L. Weismann) ने डेविड हेयर `स ( David Hare's ) की `सनराइज' कृति के विवेचन में लिखा है `ये अवकाश बिन्दु, इनके विशिष्ट आकार तथा स्थान इस कृति के दृश्य संतुलन में महत्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत करते हैं ।`

कन्ट्रास्ट, हारमनी, डिसकार्ड, आदि चित्रकला में व्यंजक के तौर पर ही प्रयुक्त किए जाते हैं ।

७.४ ध्वनिसिद्धान्त में व्यंजक की प्राक्कल्पना सौन्दर्योत्पादक फोर ग्राउंडिंग अथवा चित्रकला की शब्दावली में प्रभाविता (Dominance)

---

१. Art and illusion, p. 204

२. A Linguistic guide to Eng. Poetry Leech, p.220

३. The Visual Arts and human experience p.94

के समतुल्य ही है। फोरग्राउंडिंग क्योंकि कलाकृति के नूतन अर्थ-आयामों की व्यंजना करता है अत: फोरग्राउंडिंग के तत्व को व्यंजक कहा जा सकता है। किसी कृति में यह व्यंजक उपादान एक भी हो सकता और अनेक भी। आनंदवर्धन ने कहा है --'यद्यपि शरीर-धारियों में सौन्दर्य की प्रतीति अवयवसंघटना विशेषरूप समुदाय साध्य होती है फिर भी अन्वय व्यतिरेक से वह अवयवों में मानी जाती है --

'किन्च काव्यानां शरीरिणामिव संस्थानविशेषावाच्छिन्न-समुदायसाध्यापि चारुत्वप्रतीतिरन्वयव्यतिरेकाभ्यां भागेषु कल्पय इति पदानामपि व्यंजकत्वमुखेन व्यवस्थितो ध्वनि व्यवहारो न विरोधी'

उदाहरण के लिए निम्न लिखित श्लोक का परीक्षण करें --

नि:शेषच्युतचंदनं स्तनतटं निर्मृष्टरागो धरो,
नेत्रे दूरमनंजने पुलकिता तन्वी तवेयं तनु: ।
मिथ्यावादिनि दूति बांधवजनस्याज्ञातपीडागमे,
वापीं स्नातुमितो गतासि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम् ।

इस उदाहरण में अन्य पद तो व्यंजक हैं ही, चतुर्थ चरण में प्रयुक्त 'अधम' विशेष व्यंजक है। इस 'अधम' पद की सहायता से ही नायक की लम्पटता प्रकट होती है, उसने दूति से संभोग किया होगा यह भी 'अधम' से ही व्यक्त होता है।

आनंदवर्धन ने भाषा के प्रत्येक अवयव में व्यंजकत्व प्रतिपादित किया है पर यह प्रयोक्ता पर निर्भर करता है।

७.५ कविता की भाषा दैनिक व्यवहार की भाषा से भिन्न होती है। कवि अपने कथ्य को पाठक तक प्रेषित करने के लिए भाषा को यथार्थ रूप में प्रयुक्त करता है तथा भाषा के सभी संभव स्त्रोतों का उपयोग कर लेना चाहता है। सामान्यत: कविता में उपलब्ध कठिन शब्द और जटिल वाक्य-विन्यास यादृच्छिक नहीं होते, वरन् कवि की भाषा के सभी संभावित अनुक्रमों (Possible sequences) का उपयोग कर

अपनी अनुभूति को प्रेषित करने की आकांक्षा के परिणाम होते हैं। कविता में शब्द-प्रयोग की भी यही स्थिति है - कविता भाषा के सामान्य नियमों का अतिक्रमण करती है। कवि देश और काल की सीमा से मुक्त होकर शब्द-चयन करता है। नए कवियों की भाषा में यह स्वच्छन्द शब्द-ग्रहण देखा जा सकता है । एज़रा पाउन्ड और टी०एस० इलियट ने गद्यात्मक संवाद और सामान्य बोलचाल की भाषा का अत्यधिक प्रयोग किया ही है, हिन्दी के नए कवियों में भी वह प्रवृत्ति दिखलाई पड़ती है।

सृजनधर्मी कवि अनिवार्यत: भाषा का रचनात्मक प्रयोग करता है। कवि विशिष्ट होता है, सामान्य से पलायन करता है इसलिए एक स्तर पर रचनात्मक आवेग को जीर्ण और पारंपरिक काव्य-रीतियों से पलायन कहा जा सकता है। भाषा की सामर्थ्य को पुन: जाग्रत करने के लिए कवि सामयिक भाषा स्त्रोतों का संधान करता है। संभवत: इसीलिए इलियट ने प्रत्येक कविता क्रांति को सामान्य भाषा की ओर प्रत्यावर्तित कहा है।[१] सामान्य भाषा की ओर प्रत्यावर्तित होने के दूरगामी प्रभाव हुए हैं। इस धारणा ने काव्यात्मक भाषा और भाषा के पृथक होने के पारंपरिक विचार को ध्वस्त किया है। अब कवि अकाव्यात्मक स्त्रोतों से शब्द-चयन करता है। १९५० की अंग्रेजी कविता में बोलियों के शब्दों का आधिक्य है। भारत की नई कविता, नंगी-भूखी पीढ़ी की कविता और अकविता में भी गद्य के शब्दों और दैनिक जीवन के अश्लील परिदृश्यों के प्रति आग्रह है।

यदि कवि भाषा की पूर्वत: स्थापित सामर्थ्य का मौलिक प्रयोग करता है और इस सामर्थ्य से आगे जाकर नए संप्रेषण की संभावना

---

१. The music of Poetry, selected Prose, p 58, Penguin Books, 1953

प्रस्तुत करता है तो वह निश्चय ही भाषा का रचनात्मक प्रयोग करता है। डिलन थामस का एक प्रसिद्ध प्रयोग है -- 'a grief ago'
यह प्रयोग भाषा के सामान्य प्रयोगों से भिन्न है। थामस ने grief को कालवाचक संज्ञा के रूप में प्रयुक्त किया है। a year ago, a minute ago आदि सामान्य प्रयोग हो सकते हैं, पर a grief ago में भाषा के सामान्य नियम को भंग किया गया है।

कवि नूतन शब्दों का आविष्कार करके, वाक्य-विन्यास में वैचित्र्य उत्पन्न करके, भाषा के परंपारागत मार्ग से विपथन करता है। कभी कवि भाषा की सामान्य पृष्ठभूमि में किसी प्रयोग को विशेष दीप्ति के साथ इस प्रकार प्रस्तुत करता है कि पाठक का ध्यान इसी प्रयोग पर केन्द्रित हो जाए। काव्य-भाषा के आधुनिक अध्ययन में इसे फोरग्राउन्डिंग[१] कहा जाता है। यह फोरग्राउन्डिंग भाषा के किसी भी अवयव का हो सकता है अथवा वाक्य विन्यास द्वारा भी इस प्रकार का प्रभाव उत्पन्न किया जा सकता है।

आनंदवर्धन ने इस दृष्टि से कविता की भाषा पर विचार किया है। आधुनिक काव्य भाषाविद् इस सत्य को स्वीकारते हैं कि कविता तथ्य कथन नहीं है। कविता शब्दों के वाच्यार्थ तक नहीं होती, कविता के कथ्य तक पहुँचने के लिए, उस अर्थ को पहचानना होगा जो कविता के शब्दों द्वारा व्यंजित[२] होता है, यह अर्थ संरचना के गहनतम तल से उद्भूत होता है। इस अर्थ को प्रेषित करने के लिए ही कवि प्रयत्न करता है, इस प्रयत्न की प्रक्रिया में भाषा के पहले से स्थापित प्रतिमान टूटते हैं, नए स्थापित होते हैं। इसी प्रक्रिया में कवि विशेष प्रयोग करता है जो पारंपरिक भाषिक पृष्ठभूमि में नूतन और विचित्र प्रतीत होते हुए चमत्कार के आधार बनते हैं।

---

१. A Linguistic guide to English Poetry, Geoffrey N. Leech/p 56

२. Poetry From Statement to Meaning, Doty and Matchett. p. 52

७.६ आनंदवर्धन की मान्यता के अनुसार कवि की अनुभूति ही प्रतीयमान अर्थ का रूप धारण करती है, अत: वही कथ्य (content) है। तब कवि को शब्द, और अर्थ का चयन इस प्रकार करना चाहिए कि प्रतीयमान अनुभूति व्यंजित हो सके। इस चयन-प्रयत्न में कवि को भाषा के विभिन्न अवयवों को विशेष रूप में प्रयुक्त करना पड़ता है। नई शब्दावली में, उसे अपने प्रयोग को कविता की भाषाभूमि के अग्रभाग में अथवा मुख्य भाग में उभारकर प्रयुक्त करना होगा। यह प्रयोग प्रतीयमान अर्थ का केन्द्र होगा, इसके द्वारा प्रतीयमान के सौन्दर्य को हृदयंगम किया जा सकेगा। आनंदवर्धन के अनुसार कविता के किसी भी अंश में व्यंजकत्व रह सकता है, संज्ञा, क्रिया, निपात आदि विशेष अर्थ सौन्दर्य की व्यंजना कर सकते हैं। यदि किसी काव्य में अनेक अवयवों का व्यंजकत्व हो तो फिर उसके सौन्दर्य का कहना ही क्या --

'एवंविधस्य व्यंजकभूयस्त्वे च घटमाने काव्यस्य सर्वातिशायिनी बन्धच्छाया समुन्मीलति। यत्र हि व्यंग्यावभासिन: पदस्यैकस्यैव तावदाविर्भावस्तत्रापि काव्ये कापि बन्धच्छाया किमुत यत्र तेषां बहूनां समवाय:'

कृत् प्रत्यय, तद्धित् और वचन के व्यंजकत्व का उदाहरण महर्षि व्यास रचित निम्नलिखित श्लोक दिया गया है।

अतिक्रान्तसुखा: काला: प्रत्युपस्थितदारुणा:।
श्व: श्व: पापीयदिवसा पृथिवी गतयौवना।।

अब वाक्य के अवयवीभूत सुबन्तादि का पृथक पृथक व्यंजकत्व-कविता के संदर्भ में उनका प्रयोग महत्त्व प्रदर्शित करने के लिए - प्रदर्शित किया जा रहा है। अवयवों के व्यंजकत्व का पूर्ण विवेचन भी आनंदवर्धन ने किया है --

७.७ `सुबन्त` का व्यंजकत्व

सुबन्त और तिङन्त संस्कृत व्याकरण के अनुसार पदसंज्ञक हैं। इस प्रकार का विधान करने वाला पाणिनी का सूत्र `सुपतिङन्तं पदम् ।१।१।१४ है। सुप् प्रत्यय जिनके अंत में हो उन्हें `सुबन्त` तथा तिङ् जिनके अंत में हो उसे तिङन्त कहते हैं। प्रातिपादिक में `सु आदि विभक्तियाँ लगती हैं। प्रत्ययभिन्न, धातुभिन्न तथा अर्थयुक्त सत्व प्रातिपादिक है। `कृत्तद्धितसमासाश्च` सूत्र से कृदन्त तद्धित और समास की भी प्रातिपादिक संज्ञा होती है। प्रातिपादिक संज्ञा का फल `सु औ......` आदि विभक्तियों की प्राप्ति है। `सु आदि २१ प्रत्यय हैं। प्रथम `सु` है अंतिम सुप। इससे प्रत्याहार बना सुप। प्रथमा आदि सात विभक्तियाँ हैं, इनके तीन-तीन वचन के अनुसार इक्कीस रूप होते हैं, इसीलिए २१ प्रत्यय हैं। सूत्र प्रत्ययः ३।१।१।। के द्वारा `सु` आदि की प्रत्यय संज्ञा होती है।

`सुबन्त` संज्ञा शब्द होते हैं, ये किसी सत्व को व्यक्त करते हैं, जब विशेषण होते हैं तो संज्ञा शब्दों के अनुसार ही चलते हैं।

`सुबन्त` में इस प्रकार दो रूपिम होते हैं -- एक मुक्त (free) और दूसरा बद्ध (Bound) । बद्ध रूपिम की सहायता से मुक्त रूपि के अर्थ में विशेषताएं उत्पन्न हो जाती हैं। इस प्रकार दो रूपियों के योग से morphological patterns के निश्चित नियमों में व्युत्पन्न रूप सुबन्त है और इसका कार्यकलाप मुक्त रूपिम जैसा ही होता है। संस्कृत में वस्तुतः प्रयोगात्मक भाषाओं जैसे रूपिम नहीं होते। प्रातिपादिक और प्रत्यय, आधारभूत रूपिम है पर प्रयोग न तो प्रातिपादिक का होता न प्रत्यय का। दोनों के योग से पद बनता है और वही प्रयोगार्ह है। प्रातिपादिक के पद बनने में निश्चित नियमों के अनुसार अनेक रूप-स्वनिमिक (morphophonemic) परिवर्तन होते हैं। अतः सुबन्त का व्यंजकत्व

अर्थात् कविता के अर्थ की दृष्टि से कार्यकलन रूपिम से अगले स्तर का है ।
आनंदवर्धन ने सुबन्त के व्यंजकत्व का निम्नलिखित उदाहरण दिया है --

तालै: शिंजद्वलयसुभगै: कान्तया नर्तितो मे ।
यामध्यास्ते दिवसविगमे नीलकण्ठ: सुहृद्व: ।।

(मेरी प्रियतमा द्वारा वलय के झंकारों से सुन्दर तालियां बजाकर नचाया गया तुम्हारा मित्र मयूर सन्ध्या काल में जिस (वासयष्टि) पर बैठता है।)

इसमें 'तालै:' सुबन्त का व्यंजकत्व कहा गया है । तालै:, ताल का बहुवचन है, अर्थात् अनेक विध, चतुरता पूर्ण तालों से । इस प्रकार के कथन से प्रिया की चातुर्य वैविध्य जनित भंगिमाओं के स्मरण से विप्रलम्भ का उद्दीपन होता है । अभिनव ने इसकी व्याख्या में लिखा है --

'तालैरिति बहुवचनमनेकविधं वैदग्ध्यं ध्वनत् विप्रलम्भोद्दीपकतामेति'

७.८ तिङन्त (क्रिया पद) का व्यंजकत्व

क्रिया, भाषा की विशेषता होती है, भाषा के प्रयोग - वैशिष्ट्य का उद्घाटन क्रिया-प्रयोग से होता है, क्रिया पदों का समुचित प्रयोग काव्य में अपूर्व चमत्कार उत्पन्न करता है, कवि के हृदगत भावों की संपूर्ण छटाएं क्रिया पद के सम्यक् प्रयोग से विकीर्ण होती है, संस्कृत व्याकरण क्रिया पद को तिङन्त कहता है, क्योंकि भू आदि क्रिया रूपों में 'ति'[१] आदि प्रत्यय लगते हैं, 'ति' आदि जिनके अंत में हैं, वे ही तिङन्त हैं, काव्यशास्त्र के सभी आचार्यों ने तिङन्त प्रयोग की महत्ता पर सोदाहरण विचार किया है ।

आचार्य आनंदवर्धन ने व्यंजना के प्रसंग में, कुन्तक ने वक्रता के संदर्भ में और क्षेमेन्द्र ने औचित्य चर्चा में क्रियापद के वैशिष्ट्य पर समुचित चर्चा की है ।

---

१. सुप्तिङन्तं पदम्

आनंदवर्धन ने लिखा है : `सुबादि (संज्ञा आदि) का पृथक-पृथक तथा समवेत रूप में व्यंजकत्व महाकवियों की कृतियों में उपलब्ध होता है[1] `सुबादि` में क्रिया पद का भी संग्रह है. स्वयं आचार्य ने क्रियापद के व्यंजकत्व के विषय में लिखा है :

तिङन्तस्य यथा:-

अपसर रोदितुमेव निर्मिते मा पुंसय हते अक्षिणी मे ।
दर्शनमात्रोन्मत्ताभ्यां याभ्यां तव हृदयमेवंरूपं न ज्ञातम ।।[2]

(दूर हटो (अपसर) रोने के लिए ही (रोदितुमेव) बने (निर्मिते) मेरे अभागे नेत्रों (हते अक्षिणी मे) को विकसित मत करो. तुम्हारे दर्शन मात्र से उन्मत्त (दर्शनमात्रोन्मत्ताभ्यां तव) जिन्होंने (नेत्रों ने) तुम्हारे ऐसे हृदय (हृदयमेवंरूपं) को न जाना)

उपर्युक्त काव्य पंक्तियों में क्रियापदों - `अपसर` तथा `मा पुंसय` का ही विशेष चमत्कार है - नायिका की हृदगत् ईर्ष्या इन्हीं पदों से व्यक्त होती है । `मा पुंसय` क्रियापद यह भी व्यंजित करता कि नायक के प्रति नायिका का इतना अनुराग है कि नायक के दर्शन मात्र से नायिका के नेत्र खिल उठते हैं ,अब भी, नायक का दोष जानकर भी नायिका के नेत्रउसे देखकर अनायास ही विकच हो उठते हैं, तभी उसे नायक का छल स्मरण हो आता है और वह कह उठती है -- `अपसर` आदि। इस प्रकार इन काव्यपंक्तियों का चमत्कार इन क्रियापदों के प्रयोग में निहित है । आचार्य आनंदवर्धन ने एक और उदाहरण दिया है, जिसमें क्रियापदों के द्वारा संभोग शृंगार की व्यंजना हुई है --

---

१. एषां च सुबादीनामेकैकश: समुदितानां च व्यंजकत्वं महाकवीनां प्रबन्धेषु प्रायेण दृश्यते -- ध्वन्यालोक:, तृ० उ०, पृ २९८

२. ध्वन्यालोक: , तृ ० उ० पृ २७५

मा पन्थानं रूधः अपेहि बालक अहो असि अह्नीकः ।
वयं निरिच्छाः शून्यगृहं रक्षितव्यं   नः ।।[1]

'रे नासमझ रास्ता मत रोको, हटो, अहो, तुम तो निर्लज्ज हो । हम परतन्त्र हैं क्योंकि हमें अपने सूने घर की रखवाली करनी है ।'

इसकी व्याख्या में अभिनव ने कहा है --'इत्यत्रापेहीति तिहन्तामिदं ध्वनतित्व तावदप्रौढो लोकमध्ये यदेवं प्रकाशयसि । अस्ति तु संकेतस्थानं शून्यगृहं तत्रैव आगन्तव्यमिति ।

यहाँ 'अपेहि' का व्यंजकत्व बतलाया गया है । अपेहि क्रिया पद है 'जाओ घर सूना है वहीं आना' । 'जाओ' के साथ यह भी कह दिया गया है कि मेरे गृह में कोई नहीं है अतः वहीं आना ।' परन्तु मुझे तो इसमें 'अपेहि' की अपेक्षा 'शून्यगृहं' 'मामकं रक्षणीयं' अधिक व्यंजक लगता है । वैसे 'अपेहि' में 'जाओ, अभी तो जाओ' का भाव है जो 'फिर आना' व्यंजना करता है । यहाँ पद परस्पर व्यंजकत्व में सहायक हैं ।

७.६ कारक का व्यंजकत्व

अन्यत्र व्रज बालक स्नान्तीं किं मां प्रलोकय   ।
मो जायामीरुकाणां तटं विअ्रण   होई ।।

अभिनव ने लिखा है --'अन्यत्र व्रज बाले अप्रौढ बुद्धे स्नान्तीं मां किं प्रकर्षेणालोकस्येतत् । मो इति सोल्लुण्ठमाह्वनम् । जायामीरुकाणां सम्बन्धितटमेव न भवति । अत्र जायातो ये भीरवः तेषाम् एतत्स्थानम इति दूरापेतः सम्बन्ध इत्यनेन सम्बन्धैर्ष्यातिशयः प्रच्छन्नकामिन्याभिव्यक्तः'

---

१. ध्वन्यालोकः, तृतीय उद्योत, पृ २७५

`हे अप्रौढ़ बुद्धि वाले बाल अन्यत्र चले जाओ, स्नान करती हुई मुझे क्यों घूर कर देखता है, अरे पत्नी से डरने वालों का यह तट नहीं होता, अर्थात् पत्नी से डरने वाला यहां नहीं आता । `डरने वालों का` इस षष्ठ्यर्थ सम्बन्ध से प्रच्छन्न कामिनी ने ईर्ष्यातिशय व्यक्त किया है । व्यंग्य है `तुम पत्नी से डरने वाले हो` और यह `कारक` विभक्ति `का` द्वारा व्यक्त है ।

इसी पद में `जायामीरुकाणाँ` में तद्धित प्रत्यय `क` का व्यंजकत्व भी दिखलाया गया है । यह प्रत्यय अवज्ञातिशयार्थ में प्रयुक्त हुआ है । यह बद्ध रूपिम का व्यंजकत्व है । इस रूपिम ने अर्थ में चमत्कार उत्पन्न किया है । `जायामीरु` अपनी ही स्त्री में प्रेमबद्ध होने वाला कायर, भीरु, कुत्सित अवज्ञा का पात्र है । अभिनव ने इसमें सपरिहास आह्वान माना है ।

वृत्ति के अनुकूल योजना करने पर समास भी व्यंजक होते हैं ।

७.१० <u>निपात का व्यंजकत्व</u>

किसी भी भाषिक व्यवस्था में निपात एक महत्वपूर्ण संरचना संबंधी तत्व है -- भारतीय आर्य भाषाओं में निपात के विविध प्रयोग सुरक्षित हैं. ऋग्वेद के प्राचीनतम मंडलों की भाषा से लेकर आर्य भाषा के आधुनिकतम अयोगात्मक रूप में भी निपात का निरवच्छिन्न प्रयोग मिलता है, प्राय: देखा जाता है कि निपात के सम्यक् प्रयोग से वाक्य में अपूर्व चमत्कार उत्पन्न हो जाता है, इसके विपरीत निपात का अविचारित प्रयोग वक्ता के अभिप्राय को ही भ्रष्ट कर देता है. अर्थ की दृष्टि से निपात का महत्व असंदिग्ध है .स्वयं अर्थ हीन होते हुए भी निपात में अर्थ चमत्कार उत्पन्न करने की क्षमता है ., इस दृष्टि से निपात बद्ध रूपिम (Bound Morpheme) है, अर्थात् अन्य रूपिम के साथ प्रयुक्त होकर ही निपात - चमत्कारोत्पत्ति का साधन बन सकता है, उसका स्वयं कोई अर्थ नहीं होता .प्रसंगानुकूल उसमें

अर्थशक्ति उत्पन्न होती है । अन्य रूपिमों के सान्निध्य से प्रकाशित होकर वह वक्ता के अभिप्राय को अभिव्यक्त करने में समर्थ होता है .

पाणिनि ने अष्टाध्यायी में `निपात` का भी विवेचन किया है, उससे `निपात` की व्याकरणिक सत्ता का स्पष्टिकरण होता है । संपूर्ण पाणिनि अष्टाध्यायी की विशेषता है कि उसमें परिभाषाएं कहीं नहीं दी गई है । जैसा कुछ भाषा में घटित होता है, वही कहा गया है । `निपात` के संदर्भ में निम्नलिखित सूत्र कहा गया है :

`चादयो सत्वे `[१]

जब `च` आदि किसी सत्व को व्यक्त नहीं करते तब उनकी संज्ञा निपात होती है । इस सूत्र में `निपात` संज्ञा का ग्रहण इससे पूर्व के अधिकार सूत्र से होता है :

`प्राग्रीश्वरान्निपाता:`[२]

`च`, `वा` ,`ह`, एव, एवम् नूनम्, शश्वत्, युगपत्, भूयस्, सूपत्, कूपत् , कुवित्, नेत् , चेत्, यत्र, तत्र, कांचित्, नह, हन्त, नाकिस्, नकिस् , आकीस, माङ् , नम्, यावत्, तावत् , वौषट्, स्वाहा, ओस्, तुम् , तथापि, खलु, किल, अथ, आदि के अतिरिक्त `अ`, `ओ` इ ई उ ऊ: ऋ ए ऐ ओ औ , जब संयोजकों के कार्यकलन में प्रयुक्त होते हैं तब विविध भावों की अभिव्यक्ति करते हैं तथा इनका कार्यकलन सामान्य स्वरों से भिन्न होता है .

`प्र` आदि रूपिम भी निपात संज्ञक हैं जब वे किसी सत्व को व्यक्त नहीं करते :

`प्रादय:` [३]

---

१. पाणिनि अष्टाध्यायी, वाल्यूम १ बी.के. १ सीएच. फोर पृ १६३-१६३ एस.सी.वसु.

२. वही

३. वही पृ १६३

`प्रादि` में `प्र`, `परा`, `अप`, `सम्` `अनु`, `अव`, निस्, दुस्, वि, आङ्, नि, अधि, अपि, अति, सु, उत्, अभि, प्रति, परि और उप का ग्रहण किया गया है। इनका पृथक परिगणन इसलिये किया गया है कि ये क्रिया के योग में उपसर्ग भी कहलाते हैं जब कि `च` आदि उपसर्ग कभी नहीं होते।

किन्तु यही तत्व जब किसी सत्व (वस्तु) का बोध कराते हैं तब इनकी निपात संज्ञा नहीं होती। एक ही स्वर से युक्त निपात, प्रगृह्य कहलाता है। आङ् इसका अपवाद है, अर्थात् आङ् निपात है, इसमें एक ही स्वर भी है पर इसकी प्रगृह्य संज्ञा नहीं है।

निपात: एकाच् अनाङ् (प्रगृह्यम्)

`प्रगृह्य` कहने का फल यह है कि तब इन पर सन्धि के नियम प्रयोगार्ह नहीं होते। अन्यथा प्रगृह्य भी निपात ही है। आङ् को प्रगृह्य न कहने के भी चार फल हैं १. संज्ञाओं और विशेषणों के साथ प्रयुक्त होकर यह diminitive तत्व का कार्य संपादित करता है। आङ् में `ङ्` इत् संज्ञक है, अत: आ+उष्णम् = ओष्णम् (थोड़ा गर्म)। इस उदाहरण में सन्धि कार्य हुआ है। यदि आङ् को प्रगृह्य कहा जाता तो यह संधि नहीं हो सकती थी। २. आङ्, क्रियाओं के साथ पूर्वसर्ग के रूप में भी प्रयुक्त होता है तब यह `निकटता` का भाव व्यक्त करता है।

आ+गम् = आगम, आ + इहि = एहि

३. सीमा व्यक्त करने के अर्थ में भी `आङ्` का प्रयोग होता है : आजन्मन् = जन्म से ही। ४. अतिरिक्त सीमा (मर्यादा) व्यक्त करने के लिए भी `आङ्` प्रयुक्त होता है : आध्ययनात् = जब तक पठन प्रारंभ होता है। उपर्युक्त चार अर्थों के अतिरिक्त जब `आ` का प्रयोग होता है तो वह प्रगृह्य ही कहलाता है, जैसे दु:ख की अभिव्यक्ति में - `आ एवं किलासीत्` अथवा आ एवं मन्यसे` आदि प्रयोगों में `आ` प्रगृह्य ही है - अत: संधि

कार्य नहीं हुआ है ।

निपात भी अव्यय ही है - उनका रूप सदैव एक सा रहता है । महर्षि यास्क ने उपसर्गों का निपात से पृथक परिगणन किया है :

'उपसर्ग निपाताश्च'

यह इसीलिए कि उपसर्ग क्रिया के योग में होते हैं, निपात का ऐसा उपयोग नहीं हो सकता । अतएव निपात एक व्याकरणिक तत्व है, अर्थनिर्धारण में इसका विशेष महत्व है । भारतीय-काव्यशास्त्र-परंपरा के तीन प्रमुख संप्रदायों ने निपात प्रयोग का महत्व बतलाया है । यहां इन संप्रदायों के तत्संबंधित प्रसंग दिए जा रहे हैं ।

ध्वन्यालोक के तृतीय उद्योत में व्यंजना की दृष्टि से विचार करते हुए इस भाषिक अवयव (निपात) की व्यंजकता भी स्पष्ट की गई है । आनंदवर्धन ने नैपातिक व्यंजकत्व का निम्नलिखित उदाहरण दिया है --

अयमेकपदे तया वियोग: प्रियया चोपनत: सुदु:सहो मे ।
नववारिधरोदयादहोभिर्भवितव्यं च निरातपत्वरम्यै: ।।

(एक साथ ही उस (हृदयेश्वरी) प्रिया के साथ यह असह्य वियोग आ पड़ा और उस पर नए बादलों के उमड़ आने से आतपरहित मनोहर (वर्षा के) दिन होने लगा । (अब यह सब कैसे सहा जायगा) ।)

उपर्युक्त उद्धरण में निपात 'च' का दो बार प्रयोग हुआ है - वियोग के साथ वर्षा के मनहर दिन आगए हैं - यहां ये दो निपात विप्रलंभ शृंगार को व्यक्त करते हैं ।

मुहुरङ्गुलिसंवृताधरोष्ठं प्रतिषेधाक्षरविक्लवाभिरामम् ।
मुखमंसविवर्ति पक्ष्मलाक्ष्या: कथमप्युन्नमितं न चुम्बितं तु ।।[१]

---

१. ध्वन्यालोक, तृ.उ. पृ २७७

(बार बार अंगुलियों से ढके हुए अधरोष्ठ वाला और निषेधपरक शब्दों की विकलता से मनोहर तथा कन्धे की ओर मुड़ा हुआ सुन्दर पलकों वाली (प्रियतमा शकुन्तला) का मुख किसी प्रकार ऊपर उठा तो लिया गया परन्तु चूम नहीं पाया ।)

यहाँ 'तु' निपात है - इससे न चूमने के कारण उत्पन्न पश्चाताप की भावना तथा चुम्बन कर सकने से उत्पन्न कृतकृत्यता के भाव व्यंजित हो रहे हैं। निपात द्योतक ही होते हैं, जो अर्थ उनके कारण व्यक्त होता है - निपात उसके वाचक नहीं होते। वैयाकरण भी निपातों को द्योतक ही मानते हैं --

'द्योतकाः प्रादयो येन निपाताश्चादयो यथा' वै० भू०

अर्थों के प्रति निपातों का द्योतकत्व प्रसिद्ध है, इसीलिए आनंदवर्धन ने कहा है :

'निपातानां प्रसिद्धमपीह द्योतकत्वं रसापेक्षया उक्तमिति द्रष्टव्यम्'[१]

यह आवश्यक नहीं है कि एक ही निपात का प्रयोग हो। रस के अनुरूप होने पर दो तीन निपातों का एक साथ प्रयोग भी हो सकता है, जैसे :

'अहो बतासि स्पृहणीयवीर्यः' [२]

(अहा, तुम स्पृहणीय पराक्रम वाले हो।)

उपर्युक्त उद्धरण में दो निपात 'अहो' और 'बत' हैं, इनसे कामदेव के पराक्रम के अलौकिकत्व की व्यंजना होती है। अनेक निपातों के प्रयोग का एक और उदाहरण आनंदवर्धन ने दिया है :

ये जीवन्ति न मान्ति ये स्ववपूंषि प्रीत्या प्रनृत्यन्ति ये,
प्रस्यन्दिप्रमदाश्रवः पुलकिता दृष्टे गुणिन्यूर्जिते ।
हा धिक् कष्टमहो क्व यामि शरणं तेषां जनानां कृते,
नीतानां प्रलयं शठेन विधिना साधुद्विषः पुष्यता ।।[३]

---

१. ध्वन्यालोक, तृ.उ. पृ २७७
२. वही, पृ २८०
३. वही , पृ २८१

(जो गुणीजनों की वृद्धि देखकर जीते है - जो अपने शरीर में फूले नहीं समाते, जो आनंद से नृत्य करने लगते हैं, जिनका शरीर रोमांचित हो उठता है , हा धिक्कार है सज्जन पुरुषों के द्वेषियों का पोषण करने वाले दुष्ट दैव ने उनका अत्यन्त विनाश कर दिया है, उनके लिए मैं किसकी शरण में जाऊं ।) इस उद्धरण में `हा` और धिक ये दो निपात हैं इनके कारण विधि की असमीक्ष्यकारिता और गुणियों की अभिवृद्धि से प्रसन्नता अनुभव करने वाले महापुरुषों का श्लाघातिशय ध्वनित होता है ।

भाषा के लघुतम अवयव के कुशल प्रयोग से भी काव्य में अमित चमत्कार उत्पन्न हो सकता है । निपात जनित चमत्कार को वक्रोक्ति-सिद्धान्त के स्थापक आचार्य कुन्तक ने निपात वक्रता कहा है । उन्होंने भी ध्वन्यालोककार उद्धृत `मुखमंसविवर्ति पक्ष्मलाक्ष्या... .` आदि में `तु` के प्रयोग का वैशिष्ट्य दिखलाया है, इसके अतिरिक्त कुन्तक ने एक और उदाहरण दिया है --

वैदेही तु कथं भविष्यति ,

हा हा हा देवि धीरा भव ।

यहां भी `तु` निपात है - `वैदेही तो स्वयं इतनी कोमल है - उसका क्या होगा ? इस प्रकार `तु` शब्द राम की व्यथा को और भी प्रगाढ़ कर देता है ।

कुन्तक की प्रतिभा के संबंध में डा० नगेन्द्र ने लिखा है : `वे शब्दार्थ के सूक्ष्म रहस्यों से सर्वथा अवगत थे - अतएव उन्होंने बड़े विशद रूप में यह प्रतिपादित किया है कि प्रतिभावान् कवि शब्दार्थ के छोटे से छोटे अवयवों में वक्रता का प्रयोग कर अपने वाक्यों को चमत्कारपूर्ण बना देता है । यह कार्य प्रतिभा के लिए इतना सहज होता है कि एक ही वाक्य में अनेक वक्रता - भेदों का प्रयोग अनायास ही हो जाता है ।`[१]

---

१. हि. व. जी. पृ. ८४-८५

औचित्यसिद्धान्त के प्रस्तोता आचार्य क्षेमेन्द्र ने भी भाषा के इस लघुत्व अवयव निपात के प्रयोग औचित्य की चर्चा की है, निपात औचित्य को प्रदर्शित करने के लिये यह कारिका कही गई है :

उचितस्थानविन्यस्तैर्निपातैरर्थसंगति: ।
उपादेयैर्भवत्येव सचिवैरिव निश्चला ।।२५।।[१]

उपादेय और उचित स्थान पर प्रयुक्त निपात से अर्थसंगति होती, है, जैसे अच्छे मन्त्रियों की सहायता से अर्थ गति निश्चल होती है अर्थात् अर्थकोष अक्षय होता है । इस कारिका में दो बातों पर बल दिया गया है १.निपात का प्रयोग उचित स्थान पर ही स्पृहणीय है । २. इससे अर्थ संगति होती है । अर्थ असंदिग्ध होता है :

'काव्यार्थस्य संगतिरसन्दिग्धा भवति ।'[२]

क्षेमेन्द्र ने निपात के उचित एवं उपादेय प्रयोग को प्रदर्शित करने के लिए स्वरचित 'मुनिमतमीमांसा' रचना से निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया है :

सर्वे स्वर्गसुखार्थिन: क्रतुशतैः प्राप्यैर्यजन्तो जडा-
स्तेषां नाकपुरे प्रयाति विपुल: कालो क्षणार्धं च तत् ।
क्षीणे पुण्यधने स्थितिर्न तु यथा वेश्यागृहे कामिनां
तस्मान्मोक्षसुखं समाश्रयत भो: ? सत्यं च नित्यं च यत् ।।

(स्वर्गसुख चाहनेवाले सभी मूर्ख सैकड़ों यज्ञ करके स्वर्ग जाते हैं और बहुत दिनों तक वहां वास भी करते हैं, परन्तु पुण्य चुक जाने पर उसी तरह वहां से खदेड़ दिए जाते हैं जैसे धन समाप्त हो जाने पर वेश्यागृहों से कामुक पुरुष । इसलिए हे मूढो ? मोक्ष सुख की ही कामना करो, जो कि सत्य भी है और नित्य भी ।)

---

१. औचित्य विचार्चा, क्षेमेन्द्र, चौखंबा, पृ १४०

२. वही

उपर्युक्त उद्धरण में स्वर्ग सुख को वेश्याभोग की भाँति विरस एवं अस्थायी कहा गया है तथा मोक्ष सुख की स्थायिता और सत्यता व्यक्त की गई है। यह अभिव्यक्ति 'च' निपात के प्रयोग से समर्थ हुई है 'सत्यं च नित्यं च मतं'

क्षेमेन्द्र की एक विशेषता यह है कि वे केवल औचित्य का ही उदाहरण नहीं देते वरन् तुलना के लिए अनुचित प्रयोग का उदाहरण भी देते हैं। निपात के अनुचित प्रयोग का उदाहरण क्षेमेन्द्र ने निम्नलिखित उदाहरण दिया है :

> देवो जानाति सर्वं यदपि च तदपि ब्रूमहे नीतिनिष्ठं,
> सार्द्धं सन्धाय जालान्तरधरणिभुजा निवृतो बान्धवेन ।
> म्लेच्छानुच्छिन्धि भिन्धि प्रतिदिनमयशो रून्धि विश्वं यशोभिः
> सोदन्वन्मेखलायां परिकलय करं किंच विश्वम्भरायाम् ।।

(हे राजन। यद्यपि आप स्वयं ही सब जानते हैं फिर भी हम लोग कुछ नीतिपूर्ण बातें श्रीमान् की सेवा में रख रहे हैं, बन्धुसदृश जालंधरराज के साथ संधि करके शांति स्थापित कर लीजिए और फिर म्लेच्छों को मार भगाइये, अयश से मुक्ति पाइये, यश का विस्तार कीजिए समुद्रमेखला मंडित पृथ्वी से कर ग्रहण कीजिए।)[१]

उपर्युक्त उद्धरण में 'यदपि' और तदपि पद समुच्चय योग्य नहीं है, ऐसी स्थिति में उनके बीच 'च' का प्रयोग उचित नहीं है। इसके अनौचित्य की तुलना क्षेमेन्द्र ने 'भोज में निमंत्रित बहुत से सज्जनों के बीच छिप कर बैठा हुआ, बाद में पहचाने जाने पर लज्जा से विनम्र होकर धृष्ट जन अनौचित्य को व्यक्त करता है :

'निरर्थक एव निरुपयोगश्चकारः प्रततोत्सव बहुजन भोजनपङ्क्तावपरिज्ञातः स्वयमिव मध्ये समुपविष्टः पश्चादभिव्यक्तः परं लज्जादुर्मना अनौचित्यं प्रतनोति।'[२]

---

१. औचित्य विचार्चा, क्षेमेन्द्र, चौखंबा, पृ १४२
२. वही, पृ.१४३

जैसे निपात का समुचित प्रयोग काव्य को सौन्दर्य से युक्त कर देता है वैसे ही रंग का एक बिन्दु संपूर्ण चित्र को, एक स्वर संपूर्ण गीत को अपूर्व सौन्दर्य से युक्त कर देता है ।

७.११ उपसर्ग का व्यंजकत्व

उपसर्गों के उचित प्रयोग से भी काव्य वस्तु में चमत्कार उत्पन्न होता है । उपसर्ग भी काव्यात्मक संरचना के सत्व (Entity) हैं - उनसे उत्पन्न चमत्कार को प्रकट करने के लिए आनंदवर्धन ने निम्नलिखित उदाहरण दिया है --

नीवारा: शुकगर्भकोटरमुखभ्रष्टास्तरूणामध: ।
प्रस्निग्धा: क्वचिदिङ्गुदीफलाभिद: सूच्यन्त एवोपला: ।
विश्वासोपगमादभिन्नगतय: शब्दं सहन्ते मृगा-
स्तोयाधारपथाश्च वल्कलशिखानिष्यन्दलेखांकिता: ।।

(शुकयुक्त कोटरों के मुख से गिरे हुए नीवारकण वृक्षों के नीचे बिखरे पड़े हैं । कहीं-कहीं चिकने पत्थर हैं जो इस बात की सूचना देते हैं कि उनसे इंगुदीफल तोड़ने का काम लिया जाता है । सर्वथा आश्वस्त होने से, आने वालों के शब्द को सुनकर भी मृगों की गति में कोई परिवर्तन नहीं होता है और जलाशयों के मार्ग वल्कलवस्त्रों से टपकती हुई बूंदों से रेखांकित है ।)

उपर्युक्त उदाहरण में 'प्रस्निग्धा:' में 'प्र' उपसर्ग है । यह स्निग्धता के प्रकर्ष को सूचित करता हुआ इंगुदीफलों की सरसता का द्योतक है, आश्रम के सौन्दर्यातिशय को व्यक्त करता है । एक साथ अनेक उपसर्गों का प्रयोग भी रसाभिव्यक्ति के अनुकूल होने से निर्दोष है । 'मनुष्यवृत्त्या समुपाचरन्तम्' यहाँ सम् + उप + आङ् इन तीन उपसर्गों का प्रयोग भगवान के लोकानुग्रहेच्छा के अतिशय का अभिव्यंजक है ।

७.१२ काल का व्यंजकत्व

समविषमनिर्विशेषा: समन्ततो मन्दमन्दसंचारा: ।

अचिराद्भविष्यन्ति पन्थानो मनोरथानामपि दुर्लङ्घ्या ।।

(सम-विषमकी विशेषता से रहित से अत्यन्त मन्दसंचारयुक्त सारे मार्ग शीघ्र ही मनोरथ से भी अगम्य हो जाएंगे ।)

यहां `भविष्यन्ति` (हो जाएंगे) में `प्रत्यय काल विशेष का अभिधान करने वाला है - यह गाथार्थ प्रवास विप्रलम्भ शृंगार के विभाव के रूप में विभाव्यमान होकर रसवान् हो जाता है । यहां प्रत्ययांश की व्यंजकता है । कहीं प्रकृत्यांश भी व्यंजक हो जाता है --

तद्गेहं नतभित्ति मन्दिरमिदं लब्धावगाहं दिव:

सा धेनुर्जरती चरन्ति करिणामेता घनाभा घटा: ।

स क्षुद्रो मुसलध्वनि: कलमिदं संगीतकं योषिता-

माश्चर्यं दिवसैर्द्विजोऽयमियतीं भूमिं समारोपिता ।।

यहां दिनों में (दिवसै:) प्रकृत्यंश ही द्योतक है ।

(वह टूटी - फूटी दीवारों का घर, और (कहां आज) यह आकाशचुंबी महल, (कहां इसकी) बूढ़ी गाय (और कहां आज) ये मेघों के समान (काली काली और ऊंची) हाथियों की पंक्तियां झूम रही हैं । (कहां) वह मूसल की क्षुद्र ध्वनि, और (कहां आज सुनाई देनेवाला) वह सुंदरियों का मनोहर संगीत । आश्चर्य है, इन (थोड़े से) दिनों में ही इस ब्राह्मण की इतनी अच्छी दशा हो गई है ।

जिस प्रकार काव्य के माध्यम भाषा में विभावादि का व्यंजकत्व पूर्व पृष्ठों में कहा गया है इसी प्रकार अन्य कलाओं में भी छाया, उभार, प्रकाश , रंग, रेखा, स्वर आदि का विशेष व्यंजकत्व होता है । अत: यह प्रमाणित होता है कि आनंदवर्धन प्रतिपादित व्यंजकत्व की धारणा केवल काव्य के लिए ही नहीं कला मात्र के लिए संगत है ।

अ ध्या य - ८

ध्वनिसिद्धान्त और समाज - मनोवैज्ञानिक संदर्भ

८.१ आधुनिक समाज-मनोवैज्ञानिक शोध कथ्य की प्रतीयमानता को काव्यसृजन-प्रक्रिया का परिणाम प्रतिपादित करती है। कवि की भावनाओं-इच्छाओं से संप्रेषित काव्य-कला में अनुभूतिरूप कथ्य वाच्यतः व्यक्त नहीं होता। मनोविज्ञान के अन्तर्गत काव्य-कला की सृजन-प्रक्रिया के मूलभूत तत्वों के संबंध में अनुसंधान किया गया है। यह अनुसंधान प्रमाणित करता है कि कला का सृजन ऐसी प्रक्रिया है जिसमें कवि की भावनाएं अपने अंतिम रूप में प्रतीयमान होकर व्यक्त होती है। इस विचार परंपरा से प्रभावित अनेक विद्वानों ने यहां तक कहा कि भाव की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति संभव ही नहीं है। डा० नगेन्द्र जब भाव की कलात्मक अभिव्यक्ति को कविता कहते हैं तो संभवतः उनका भी यही मन्तव्य है। कविता के बाह्य तल पर प्रतीत होने वाले अर्थ की सहायता से जब सहृदय आंतरिक अर्थ तक पहुंचता है तो उसे अज्ञात के आविष्करण से निष्पन्न चमत्कृति की अनुभूति होती है -- यही चित्तविस्ताररूपा चमत्कृति कविता के आनंद का आधार है।

८.२ काव्य का प्रेरणा तत्व (आवेग)

किसी भी रचना का प्रेरणा-स्रोत रचयिता की इच्छाओं, कामनाओं और महत्वाकांक्षाओं में निहित माना गया है।[1] भावात्मक आवेग के अभाव में रचना असंभव है। आवेग की तीव्रता कवि की इच्छा-महत्वाकांक्षाओं की तीव्रता पर निर्भर है। यदि व्यक्ति मानस एकाकी स्वतन्त्र और निर्बाध होता तो उसकी सभी कामनाएं पूर्ण हो सकती थीं। प्रत्येक देश की प्राचीन परंपराओं में ऐसे सर्वशक्तिसंपन्न उपादानों का वर्णन है जो अपनी इच्छाओं को तत्काल पूर्ण करने में समर्थ थे। ये उपादान मानवेतर ही थे। मानव उस प्रकार अपनी अभिलाषाओं को पूर्ण कर पाने में असमर्थ है। मानव की निर्बाध कल्पनाओं के समक्ष भौतिक एवं मानसिक बाधाएं प्रतिरोध उत्पन्न करती है।[2] इसके अतिरिक्त 'व्यक्ति' होते हुए भी मानव समाज का अंग है।[3] समाजशास्त्री जार्ज, एच.मीड का कथन है कि व्यवस्थित सामाजिक दृष्टिकोण और सामाजिक संस्थाओं के अभाव में किसी परिपक्व व्यक्तित्व की कल्पना व्यर्थ है।[4] अत: व्यक्तित्व को विकसित करने में समाज और उसकी संस्थाएं महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। प्रमुख समाजशास्त्री चार्ल्स. एच कूले (C. H. Cooley) ने इस सिद्धान्त

---

1. Thus all creative artists especially writers and poets, strive to express their emotional interpretations of life in graphic and expressive images in their works because it is their ideological interpretation of life imbued with emotion and pathos, It is the later which spurs them to creati. (International Journal of Social Sciences. Vol. 18. p. 542).

2. . . . . It cannot pick just what it wants and automatically leave the idifferent and adverse out of account. But the impulsion also meets many Things on its out bound course that deflect and oppose it.
-Art as experience, John Deway p.59

3. The art is seeks : Robat N. Wilson p. 301.

4. In any case, without social institutions of some sort without the organized social attitudes and activities by which social institutions are constituted, there could be no full mature individual selves or personalities at all.

-Reading in Social Psychology. p. 10-11

का प्रतिपादन किया है कि व्यक्ति और समाज दो भिन्न वस्तुएं नहीं है, वरन् एक इकाई के दो परिदृश्य हैं। मानव-जीवन इन्हीं दो परिदृश्यों की कहानी है जिसमें एक ओर व्यक्ति का व्यवहार और दूसरी ओर मानवों का सामूहिक व्यवहार है।[१]

समाज, व्यक्ति से कुछ अपेक्षाएं रखता है, इसके विपरीत व्यक्ति के आवेग संतुष्ट और पूर्ण होना चाहते हैं। फलत: सामाजिक अपेक्षाओं और वैयक्तिक आवेगों में द्वन्द्व होता है। मानव का आचरण, कर्म, अभिव्यक्ति और विचार इन्हीं दो तत्वों के द्वन्द्व के परिणामी हैं। प्रत्येक व्यक्ति में कतिपय आवेग होते हैं -- इन आवेगों से संबंद्ध अनुभूतियां होती हैं। इन्हें पूर्ण करने के लिए व्यक्ति सुविचारित योजनाओं का आश्रय लेता है। सामाजिक सत्ता स्वनिर्मित परंपराओं, रूढ़ियों, तथा सत्ता के अन्य विविध रूपों द्वारा व्यक्ति की महत्वाकांक्षाओं को पूर्ण करने वाली योजनाओं के मार्ग में प्रतिरोध उत्पन्न करती है।[२] इससे यह सिद्ध होता है कि व्यक्ति उतना स्वतंत्र नहीं है जितना वह सदैव स्वयं को मानता है।[३] वस्तुत: सामाजिक नियंत्रण एक प्रकार के समाजीकरण की प्रक्रिया का ही उत्पाद है -- इस प्रक्रिया में व्यक्ति समाज स्वीकृत प्रतिमानों के अनुसार व्यवहार करना सीखता है।[४] सामाजिक नियंत्रणजन्य विधि-निषेध-मूलक

---

१. Reading in Sociology, Cuber and Harrof. p 220

२. Art as experience, John Deway, p. 59, 1958

३. Man and his nature. p. 188, James E. Royce Mc.Graw Mill 1961.

४. Freud : On Man and Society, Manorama, p. 147

प्रतिरोध कभी बाह्यत: उपस्थित होते हैं और कभी व्यक्ति-मानस इन्हें स्वयं ग्रहण कर लेता है । इस द्वितीय स्थिति में प्रतिरोध व्यक्ति-मानस में क्रियाशील होकर उसकी कर्तव्य-भावना तथा चेतना को प्रभावित करता है । और ऐसी स्थिति में 'मानव का आचरण इस समाज सत्ता और मूल आवेग के समायोजनों का परिणाम होता है ।'[१] इस दृष्टि से विचार करने पर प्रतीत होगा कि वह समन्वय सर्वश्रेष्ठ है जिसमें वैयक्तिक वैशिष्ट्य की अभिव्यक्ति और सामाजिक अपेक्षाओं का संतुलन हो । व्यक्ति का आचरण उसकी संगति, संस्कार अथवा शिक्षा और प्रशिक्षण के अनुसार ही होता है । नैतिक प्रश्नों का समाधान भी - जहां तक उसे स्वतंत्रता है - व्यक्ति अपने मन के अनुसार ही करना चाहता है । वैयक्तिक आवेग स्वातंत्र्य और अधिकार की भावना को उत्प्रेरित करता है, सामाजिक सत्ता नियमन तथा कर्तव्य की प्रेरक है । आधुनिक-समाज-मनोवैज्ञानिक यह स्वीकार करते हैं कि अत्यधिक विकसित समाज के व्यक्ति का द्वन्द्व केवल आदिम आवेगों का द्वन्द्व ही नहीं है वरन् व्यक्तियों के व्यक्तित्व और निश्चित सामाजिक संरचना का द्वन्द्व भी है । इन व्यक्तित्वों और सामाजिक संरचनाओं का स्वरूप अत्यन्त जटिल है इनके अनेक परिदृश्य हैं ।[२] इस प्रकार विकसित समाज के व्यक्ति का द्वन्द्व अपने उसके व्यक्तित्व के ही अनेक आयामों में होने वाला द्वन्द्व है, जो व्यक्तित्व-विभाजन का कारण बनता है, और जो समाज के अन्य व्यक्तियों से होने वाला द्वन्द्व है ।

---

१. The Poetic Mind. p. 236. F.C.Prescott,1959

२. Readings in Social Psychology, p.11 Alfred R. Lindesmith and St.rauss.

८.१ मानव-प्रकृति के दो अंश

नृतत्त्वशास्त्री मानव प्रकृति के दो अंश प्रतिपादित करते हैं :

१.मूल अथवा सहजात प्रकृति

२.गौण अथवा अर्जित प्रकृति

आवेग मानव की सहजात और मूल प्रकृति के अंश हैं । आदिम मनुष्य असंयत एवं असंतुलित आवेगों का पुंज था । स्वनियंत्रण का दीर्घ प्रशिक्षण सभ्यता और संस्कृति के रूप में विकसित हुआ । गौण प्रकृति का अर्जन इसी प्रक्रिया में होता है । मानव यह जानना चाहता है कि दूसरों का उसके विषय में क्या मत है - वह इस मत के प्रति आदर प्रकट करता है - इसे मान्यता देता है । इस गौण प्रकृति के कारण ही मनुष्य कर्तव्य-भावना के प्रति संवेदनशील होता है । इस प्रक्रिया को समझने के लिए बच्चे के व्यवहार को उदाहरणस्वरूप लिया जा सकता है ।[१] आवेगों की दृष्टि से बालक और आदिम मानव में अधिक अंतर नहीं होता है । सामाजिक कर्तव्यों से एकदम निरपेक्ष बालक अपनी भावनाओं को अनियंत्रित अभिव्यक्ति देता है - उन्हें पूर्ण किए बिना शांत नहीं होता । क्रमश: बालक कर्तव्य-व्यवस्था तथा आचरण के विषय में नियामक सत्ता का अनुभव करता है ।[२] उसकी शिक्षा - उसके आवेगों का नियंत्रण ही है जिसे समाज ने अपने हित में प्रवृत्त किया है ।[३] युवावस्था को आयु तब तक झुकाती है जब तक युवावस्था स्वयं आयु न बन जाय । तब व्यक्ति-व्यक्ति नहीं रहता, समाज का अंग बन जाता है । फिर वह समाज की प्रभुसत्ता को दूसरों पर प्रभावी कर संतुष्ट होता है । इस प्रकार प्रगतिशील और जीवंत युवा शक्ति सत्ता द्वारा

---

१. "When the individual is born, he is at first only conscious of the being from whose womb he has emerged ...The infant is moved by the blind instincts of sex and hunger, the satisfaction of appetites, The creation of pleasure. (Art and Society : Herbert Read p 81.Faber Publication)

२. Ibid, p 81.

३. The Poetic Mind p.237 F.C. Prescott.

क्रमश: अनिवृद्ध कर दी जाती है - इस प्रक्रिया का अंत मृत्यु में होता है।

कवि सामान्य मानव से अधिक संवेदनशील होने के कारण नियंत्रण की पीड़ा को अपेक्षाकृत तीव्रता से अनुभव करता है। वह बाधाओं को भाड़ फेंकना चाहता है। पर, सृष्टि में इस द्वन्द्व से मुक्ति नहीं मिल सकती, यह मानव की नियति है।

रैंक[१] ने सर्वप्रथम यह सिद्धान्त प्रस्तुत किया था कि कला वैयक्तिक और सामूहिक सिद्धान्तों के द्वन्द्व का प्रतिफलन है। इस दृष्टि से कला केवल आत्माभिव्यक्ति नहीं है क्योंकि उसमें समाजस्वीकृत रूप का प्रयोग होता है। कला सामूहिक आदर्शों की अभिव्यक्ति भी नहीं है क्योंकि कलात्मक सृजन कलाकार की विशुद्ध वैयक्तिक कामनाओं को तुष्ट करता है। वैयक्तिक अपेक्षाओं और सामूहिक सिद्धान्तों का द्वन्द्व कलाकार की सृजनशीलता का समानुपाती है। रैंक की यह स्थापना फ्रायड को निरस्त करती है। फ्रायड के अनुसार कलाकार स्नायुरोगी के समान है, वह समाज से संतुलन नहीं कर पाता है। रैंक की मान्यता है कि कलाकार सृजनशील होने के कारण समाज से निरंतर द्वन्द्व की स्थिति में रहता है। मनोविज्ञान के प्रयोगसिद्ध प्रमाणों से रैंक की यह धारणा प्रमाणित हुई है।

प्रेस्काट ने इस संदर्भ में वर्ड्सवर्थ का उदाहरण दिया है - वर्ड्सवर्थ युवावस्था में आत्मस्वातंत्र्य के आनंद में विस्मृत रहा, जब वह वृद्धावस्था को प्राप्त हुआ, उसने नियंत्रण की शृंखलाओं को आदर की दृष्टि से देखा - उन्हें धन्यवाद दिया। इस कवि ने अपने जीवन में संघर्ष का अनुभव किया था, आवेग और सत्ता के द्वन्द्व को झेला

---

१. International Encyclopedia of the Social Sciences Vol. 3 p. 444

था। यह द्वन्द्व और संतुलन वर्ड्सवर्थ की 'पोएम्स आव रिफ्लेक्शन' में व्यक्त हुआ है।

आवेग और नियंत्रण दो परस्पर विरोधी तत्व है -- पर कविता की रचना में इन दोनों का ही महत्वपूर्ण दायित्व है।[१] हर्बर्ट रीड ने इन्हें इच्छा और सामाजिक अपेक्षा कहा है। वैयक्तिक आवेग कविता के लिए प्रेरणा प्रस्तुत करता है, सत्ता का नियंत्रणजन्य अंकुश उसे कलात्मक होने को बाध्य करता है। कला के लिए एक सहृदय भावक की अपेक्षा विवादास्पद नहीं है। यह सहृदय जिस भाषा, छन्द, रूप और शैली की अपेक्षा करता है, कवि उन्हीं का प्रयोग करता है। हिन्दी साहित्य के इतिहास का पर्यालोचन यह प्रमाणित करता है कि प्रत्येक युग में कविता की शैली से संबंधित विशेष रूपाकार प्रचलित रहे हैं। रीतिकालीन कवित्त और सवैया-प्रेम सर्वविदित है। काव्य -अतीत में निर्मित रूप और शैली विषयक धारणाओं का प्रयोग कवि स्वभावत: करता है। जहां तक काव्य-प्रेरणा का प्रश्न है, वह कवि में सहजात ही होती है, पर कला के लिए प्रशिक्षण आवश्यक है।[२] इसीलिए संस्कृत काव्यशास्त्र काव्य के हेतु-रूप में शक्ति, निपुणता और अभ्यास[३] को मान्यता देता है। आचार्य मम्मट ने शक्ति को सहजात संस्कार कहा है और काव्य रचना का अनिवार्य हेतु माना है - इसके अभाव में काव्य संभव ही नहीं है -- यदि कोई प्रयत्न करे भी तो उपहास का पात्र बने। निपुणता इस विस्तृत जग के अध्ययन - अवलोकन से तथा

---

१. There are two factors in every artistic situation : the will and the requiremtns of society.

२. द पोएटिक माइन्ड - पृ २३८ प्रेस्काट

३. शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ।।

``शक्ति: कवित्वबीजरूप: संस्कार विशेष:, यां विना काव्यं न प्रसरेत्, प्रसृतं वा उपहसनीयं स्यात्।.... काव्यं कर्तुं विचारयितुं च ये जानन्ति तदुपदेशेन करणे योजने च पौन:पुन्येन प्रवृत्तिरिति त्रय: समुदिता: , न तु व्यस्ता: तस्य काव्यस्योद्भवे निर्माणे समुल्लासे च हेतुर्न तु हेतव:``

काव्यप्रकाश, प्र० उ० पृ ९६, आ०वि०

अभ्यास काव्य को जानने समझने वाले महानुभावों की शिक्षा से किया जाता है। शक्ति, निपुणता और अभ्यास तीनों समवेत रूप में काव्य हेतु हैं। इसका आशय यह है कि उत्तम काव्य की रचना हेतु तीनों ही आवश्यक हैं -- कोई एक अथवा दो नहीं। इन तीनों में से प्रथम प्रेरणा का स्त्रोत है - शेष दो उसे कलात्मक रूप प्रदान करते हैं। स्वभावत: आवेग का पक्षधर कवि पारंपरिक काव्य-नियमों का भंजन करता है - नए रूप रचता है - उनका औचित्य प्रतिपादित करता है। ये नए नियम पुन: आलोचकों द्वारा कविता पर आरोपित किए जाते हैं - निकष बनते हैं।

कवि अंतत: मानव है अत: उसकी मूल अथवा प्रथम प्रकृति वैयक्तिक भावनाओं को व्यक्त करने के लिए उत्सुक होती है, परन्तु गौण अथवा अर्जित प्रकृति उसे अपनी भावनाओं को काव्य कला की सीमाओं में अभिव्यक्त करने को बाध्य करती है। कविता के लिए दोनों तत्त्व आवश्यक हैं - प्रेरक आवेग भी और कलात्मक भी। प्रेरक आवेग के अभाव में कृति मात्र कारीगरी होगी और कला के अभाव में नितांत वैयक्तिक विलास, जो समाज के लिए व्यर्थ होगा।

कविता के उपरि कथित दोनों तत्वों का उल्लेख प्रकारांतर से अरस्तु ने भी किया है। जान केबल (John Keble) ने कहा है 'कविता अपने छंद रूप तथा विषय वस्तु में मानव प्रवृत्ति की दो सत्यात आवश्यकताओं से निगम्य है।'[१] अत: कविता से संबंधित ये दोनों तत्त्व सुविचारित हैं।

चार्ल्स लैम्ब की मान्यता है कि कवि अपने अभिव्यंग्य विषय से आक्रांत नहीं होता - उस पर अधिकार रखता है। कवि का स्वाभाविक विवेक उसे विपथन में मार्ग दिखलाता है।[२] कवि को अपने प्रेरणास्पद

---

१. द पोएटिक माइन्ड - पृ २३९, प्रेस्काट

२. वही

आवेगों और सामाजिक अपेक्षाओं में समन्वय करना पड़ता है । शैली तथा वाल्ट ह्विटमैन ने एक प्रकार का समन्वय किया था, पारंपरिकता में विश्वास करने वाले पोप और टेनीसन ने दूसरे प्रकार का । हिन्दी के छायावादी कवियों में आवेग और राज्यसताजन्य नियंत्रण का द्वन्द्व । स्पष्ट है ।[1] छायावाद का फिलमिल रूप-शिल्प और व्यंजनात्मक भाषा इसी समन्वय का परिणाम है । द्विवेदी युग के घोर नैतिकता-जन्य नियंत्रण ने ही छायावादी नारी के रूप को अमूर्त रूप में अभिव्यक्त होने को बाध्य किया । परंपराओं को तोड़ने का पक्षधर होते हुए भी प्रयोगवादी और नया कवि कहीं न कहीं समझौता करता है । आवेग और नियंत्रण का संतुलन सर्वत्र दिखलाई पड़ता है ।[2] आलोचक इस संतुलन की संतोषप्रदता पर विचार करते हैं । शेक्सपीअर, शैली अथवा ह्विटमैन में वे कला की अपेक्षाओं को ढूंढते हैं । ड्राइडन के अनुसार शेक्सपीअर में कला की अपेक्षा है । मुक्त छंद के रचयिताओं के संदर्भ में भी यह प्रश्न सदैव रहा है ।

कविता में प्रत्यक्ष आसक्ति को व्यक्त नहीं किया जा सकता अथवा कहना चाहिए कि आसक्ति नियंत्रित होने के कारण परोक्षत: अभिव्यक्त होती है । इस आसक्ति-दमन का कारण सामाजिक नियंत्रण है । केबल के अनुसार अभिव्यक्ति अथवा काव्यात्मक अभिव्यक्ति वही है जिसमें वाणी के माध्यम से संसर्ग अथवा संकेत के चातुर्य से अनुभूति व्यक्त की गई हो । जैसे मुख आकस्मिक और त्वरित भंगिमा द्वारा हृदय के अन्यथाअप्रेषणीय भाव को व्यक्त कर देता है वैसे ही भाषा के किसी विशिष्ट प्रयोग द्वारा अनुभूति व्यक्त हो जाती है । कभी कभी एक संकेत अथवा एक शब्द पूरे वाक्य की अपेक्षा अधिक

---

१. बीसवीं शताब्दी हिन्दी साहित्य : नए संदर्भ, पृ १६२, डा० वार्ष्णेय

२. **In a general way, we all recognize that a balance between furthering and retarding condtions is the desirable state of affairs. – The Art as experience John. Deway. p 60, 1964.**

अभिव्यक्तिदाम होता है। इसी प्रकार की अभिव्यक्ति कलात्मक है। इस कलात्मक अभिव्यक्ति का आनंद-सृजेता पद्म में --आवेगा के निराकरण का आनंद है।

काव्य के लिए प्रेरक आवेग कवि-कामनाओं से उपलब्ध होता है, सामाजिक सता-जन्य प्रतिरोध के कारण यह कामना-- आवेग मुक्त अभिव्यक्ति प्राप्त नहीं कर सकता, नैतिक परंपराएं आवेग के मुक्त प्रकटीकरण में बाधा उत्पन्न करती हैं। परिणामत: कवि आवरणयुक्त अभिव्यक्ति का मार्ग ग्रहण करता है जिसमें कथ्य प्रतीयमान हो जाता है। तल पर रहने वाले अर्थ से भिन्न इसी अर्थ में कवि की अनुभूति व्यक्त होती है - कविता इसी अर्थ में है। इसी अर्थ तक सहृदय को पहुंचना होता है। इसी अभिव्यक्ति को विचारकों ने Veiled Expression कहा है। ईसा की नवम शती में प्रतीयमान अर्थ की प्रधानता की स्थापना कर आनंदवर्धन ने काव्य-सृजन प्रक्रिया के इसी रहस्य का उद्घाटन किया था। आनंदवर्धन ने कहा है `ध्वनि अथवा गुणीभूत व्यंग्य के मार्ग का अवलंबन करने से कवि की सृजनशील प्रतिमा अनन्त हो जाती है। स्पष्टत: इसका तात्पर्य यही है कि यदि कवि प्रतीयमानता के मार्ग को ग्रहण करे तो वह अपने किसी भी आवेग को अभिव्यक्ति दे सकता है। कवि की प्रतिमा बिम्ब, प्रतीक, मिथ, अलंकार आदि के अनेक रूपों का प्रयोग कर सकेगी। इस प्रकार प्रतीयमान रूप में अनुभूति को व्यक्त करने का मार्ग ग्रहण कर वह आवेग को व्यक्त कर सकेगा। अत: `प्रतिमा के आनन्त्य` और `वाणी के नवत्व` की चर्चा कर आनंदवर्धन कवि को मार्ग दिखलाते हैं कि उसे कहीं रुकना नहीं है। उसके पास आवेग हैं उस पर सामाजिक सता का नियंत्रण है तो उसे अपने आवेग को प्रतीयमान रूप में व्यक्त करना चाहिए। जो सहृदय हैं, उस प्रतीयमान अर्थ तक पहुंच जाएंगे और कवि को भी आवेग की अभिव्यक्ति का संतोष मिलेगा।

छंद-योजना भी आवेग और नियंत्रण के द्वन्द्व की उपर्युक्त प्रक्रिया का परिणाम है। कालरिज के अनुसार --' कवि मानस में आवेगों के अवरोधक प्रयत्नों के संघर्ष में ही छंद का मूल है।'

८.४ काव्यात्मक आवेग ऊर्जा का ही एक सहरूप है। यह भी कहा जा सकता है कि यह ऊर्जा-व्यय से उत्पन्न - एक प्रकार का - मानसिक संघर्ष है। सभी प्राकृतिक ऊर्जाएं- जैसे ऊष्मा, प्रकाश, विद्युत, आदि तरंगरूप में गमन करती हैं। ये ऊर्जा-तरंगें पुनरावर्तक होती है - फलत: लयात्मक भी। शक्तिशाली, निर्बाध आवेग ऊर्जारूप होने के कारण स्वयं को अपरिहार्यत: तरंग रूप में व्यक्त करता है। यह अभिव्यक्ति स्पंदन की भांति, ध्वनि के पुनरावर्तन में अथवा इंगितों के पुनरावर्तन में होती है। इस पुनरावर्तन में एक प्राकृतिक लय होती है। भावात्मक अभिव्यक्ति स्वरूप कविता में भी यह लय स्वभावत: रहती है। वाल्ट ह्विटमैन ने इन तरंगों की तुलना जल-सतह पर गतिशील तरंगों से अथवा घास के मैदान में वायु से उत्पन्न तरंगों से की है, ये तरंगे पूर्णत: तो नहीं, पर सामान्यत: नियमित होती है। कविता का पुनरावर्तन स्वर ऊपर से जोड़ा हुआ तत्त्व नहीं है, वह काव्यात्मक अनुभूति का अनिवार्य सहयोगी अवयव है, कवि की अनुभूति इस लय को उत्पन्न करती है। भावक के कर्ण कुहरों में प्रविष्ट होकर यही लय उसके मानस को समान कंपनांकों (Frequency) से स्पंदित करती है, ये स्पंदन श्रोता में वही अनुभूति जाग्रत करते हैं जिससे लय उत्पन्न हुई थी। इस प्रक्रिया को निम्नांकित भाव-चित्र से समझा जा सकता है।

क
कवि की अनुभूति
लय
ल,
स
श्रोता में स्पंदन
ल,
क
प्रेरक
अनुभूति का
पुनः उत्पादन
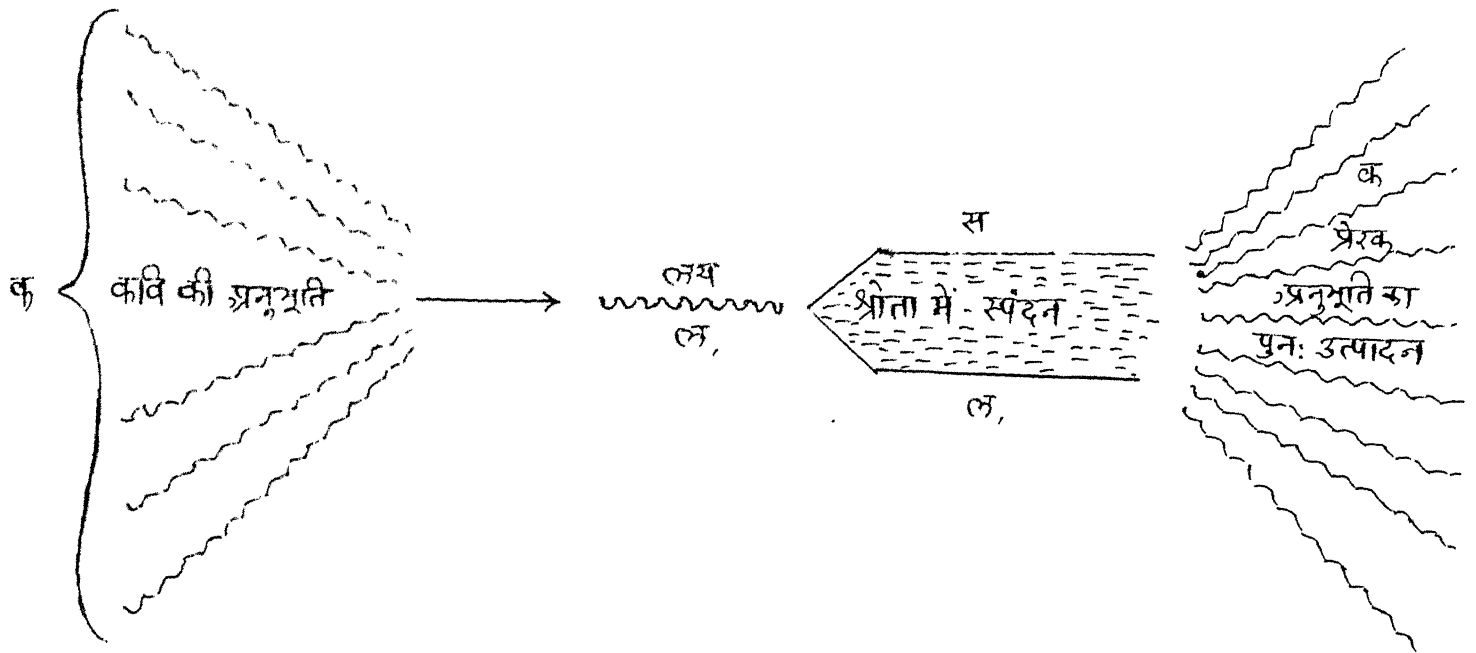
'क' कवि की अनुभूति है जिसने ल, कंपन वाली लय उपपादित की ।
यह लय श्रोता 'स' के मानस में ल, कंपन वाली लय-तरंग उत्पन्न करती है । श्रोता मानस में यह लय तरंग अनुभूति में परिवर्तित हो जाती है - यह अनुभूति वही होती है जिसने ल, कंपन वाली तरंग उपपादित की थी । यह वस्तुत: एक ऊर्जा के दूसरी ऊर्जा में रूपांतरण और पुन: स्व-रूप ग्रहण का सिद्धान्त है । ऊर्जा कभी नष्ट नहीं होती, वह रूपांतरित हो सकती है । कवि की अनुभूति की ऊर्जा उसकी कविता में सुरक्षित रहती है यह ऊर्जा का विचारपूर्ण प्रक्रिया में रूपांतरण है - वह शब्द रूप अथवा भाषिक रूप में परिवर्तित हो जाती है । अब भी, वर्षों के बाद भी, सहृदय उसे पढ़ता है कविता में निहित लय उसमें वही अनुभूति जाग्रत करती है जो कवि-मानस में थी, जिसने उस लय को उत्पन्न किया था । प्रसादकृत कामायनी के श्रद्धा सर्ग की ये पंक्तियां --

आह! वह मुख पश्चिम के व्योम,
बीच जब घिरता हो घनश्याम,
अरुण रवि मंडल उनको भेद,
दिखाई देता हो छवि धाम ,

आज भी उसी सौन्दर्यानुभूति को जाग्रत करने में सक्षम है, जिसका भावन कवि ने किया होगा - जिस अनुभूति ने इस लय-छंद और शब्दों को प्रेरित किया होगा, यह रूपाकार ग्रहण किया होगा । प्रेस्काट ने शेक्सपीअर का उदाहरण देकर लिखा है --'शेक्सपीअर के शब्द उसके अर्थ को व्यक्त करते हैं, उसकी लय उसकी अनुभूति को प्रेषित करती है । यह भाषा का ही चमत्कार है कि आज ३५० वर्ष बाद भी शेक्सपीअर की भावनाएं पाठकों के समक्ष पुनर्निर्मित होकर आती हैं । आवेग की

मुक्त अभिव्यक्ति सीमाहीन होगी , लय भी आवेग से आक्रांत होगी । ह्विटमैन में आदिम प्रकार के आवेगों की तीव्रता को अनुभव किया जा सकता है । अनुभूति को छन्द बद्ध करने की इच्छा ही इस बात का प्रमाण है कि कवि वह `कुछ` कहना चाहता है जो वह गद्य में नहीं कह सकता । एक और तथ्य भी ध्यातव्य है -- अनवरुद्ध भावावेश की अभिव्यक्ति, संभव है, तीव्रता (Intensity) के कारण भावक में समान भाव उपपादन में असमर्थ रहे, आवरण में आकर, नियंत्रित होकर वह कुछ नरम हो जाती है । गोथे (Goethe) ने अपने नाटक फास्ट (Faust) के त्रासद दृश्यों के संदर्भ में शिलर (Schiller) को एक पत्र लिखा था कि `जब वह दृश्य गद्य में लिखा गया था तो बहुत असह्य था इसलिए अब मैं उसे लय-छंद में रचने का प्रयत्न कर रहा हूं ।` ऐसा प्रतीत होता है कि एक आवरण से उस आवेगपूर्ण सामग्री का तात्कालिक प्रभाव कुछ कोमल हो जाता है । नीत्शे ने इस तथ्य को स्वीकार किया है कि `छन्द सत्य के ऊपर एक झीना आवरण डाल देता है ।` कला जीवन के परिप्रेक्ष्यों पर अमूर्तता का आवरण निक्षिप्त कर उन्हें सह्य बना देती है -- आस्वाद्य बना देती है । यही कारण है कि जिन दृश्यों को हम प्रत्यक्ष जीवन में देख नहीं सकते - सह नहीं पाते उन्हें ही नाटक में देख लेते हैं -- देख ही नहीं लेते, उनका आनंद लेते हैं, बारंबार देखने की इच्छा करते हैं । वीभत्स में आनंदानुभूति के मूल में यही तथ्य है ।

८.५ कविता की रूप-रचना (Form) दो शक्तियों, लयपूर्ण आवेग (क्योंकि प्रत्येक ऊर्जा लययुक्त होती है) और छन्द, पंक्ति तथा प्रघट्टक आदि के द्वारा क्रियान्वित नियंत्रण का फल है । संभव है कला की अपेक्षा करने वाले श्रोता को अनवरुद्ध भाव की प्रकृत लय अरुचिपूर्ण लगे । इसलिए उसे कला के मान्य साँचे में व्यक्त होना ही चाहिए ।

परन्तु इस प्रक्रिया में मूल आवेग तिरोहित नहीं होना चाहिए। रूप के पीछे रहता हुआ, उसे प्राण व शक्ति से अनुप्राणित करता हुआ वह आवेग सतत प्रतीत होना चाहिए। शैली में प्रकृत आवेग की लय शक्तिशाली है, प्रतीत होता है जैसे वह रूप-रचना के बंधनों को तोड़कर स्वतंत्र हो जाना चाहती है। पोप और उसके अनुयायियों में प्रकृत आवेग कमजोर है -- रूप ही सब कुछ है। आवेग के शाश्वत संगीत की गूंज की कमी उसमें सदैव खटकती है।

प्रत्येक कलात्मक अभिव्यक्ति में प्रेरणास्पद तत्व के साथ नियंत्रण तत्व भी होता है, कविता में ऐसा सामान्य तत्व छंद है। जिनदो परस्पर प्रतिरोधी तत्वों का विवेचन यहां किया जा रहा है, वे छंद का ही नहीं, भाषा का भी निर्धारण करते हैं, वस्तु को भी प्रभावित करते हैं। सर वाल्टर स्काट ने गद्य के संदर्भ में कहा है कि कथा वक्ता के वास्तविक भावों और श्रोता के बीच एक आवरण की भांति रहती है। प्रत्येक सृजनधर्मी काव्यात्मक कृति आवृत अभिव्यक्ति ही होती है। पो के अनुसार सर्वाधिक सुन्दरता रहस्यात्मक कविताओं में है जिनमें पारदर्शी उपरी सतह के नीचे एक प्रतीयमान अर्थ भी फिलमिलाता है। संभवत: यही गहन अर्थ वास्तविक भी होता है। कारलाइल ने प्रतीकों की आश्चर्यजनक व्यंजकता का अनुभव किया है क्योंकि प्रतीक में अभिव्यक्ति के साथ छिपाव भी होता है।

प्रकृतित: कवि व्यक्ति होता है और समाज का विरोधी भी। अंग्रेज कवि शैली (Shelley) समाज से निरंतर जूझता रहा। जहां तक नैतिक मान्यताओं का प्रश्न था उसने समाज से अपनी ओर से, एकपक्षीय समझौता किया। उसकी रचनाओं में उसने स्वयं शंका व्यक्त की है कि उसकी अभिव्यक्ति काव्यकला की सीमाओं में है या नहीं ? अंशत: स्वप्नद्रष्टा होने के कारण भी कवि वैयक्तिक होता है। सामाजिक नियंत्रण की अनुभूति सामान्य और व्यावहारिक जीवन में तो तीव्रता से होती ही है, किन्तु वैचारिक संसार में, दृष्टि में अथवा

स्वप्न में (क्योंकि यह वैयक्तिक होता है।) सामाजिक अपेक्षाएं आवेग को प्रभावित कर पृष्टभूमि में चली जाती हैं। इस स्थिति में भी आवेग और नियंत्रण का संघर्ष क्रियाशील रहता है। काव्य दृष्टि (Poetic Vision) इसी संघर्ष का परिणाम है। इस बिन्दु को स्पष्ट करने के लिए काव्यात्मक इच्छाओं और उनके नियंत्रण पर सावधानी से विचार अपेक्षित है।

बैकन ने 'मानस की कामनाओं' का विश्लेषण किया है। कवि इन्हीं कामनाओं की पूर्ति हेतु क्रियाशील होता है। काव्य की सृजन-प्रक्रिया में यही 'मानस - कामनाएं' प्रेरणा का कार्य करती हैं। सामान्य जन की अपेक्षा कवि की मानस-कामनाएं उदात्त और परिष्कृत होती हैं। प्रत्येक मनुष्य कामनाओं का पुंज है - यही कामनाएं उसके चारित्र्य का निर्माण करती हैं। नीत्से के अनुसार ये कामनाएं मानव अस्तित्व की महत्त्वपूर्ण घटक हैं। ये कामनाएं अनेक प्रकार की हो सकती हैं पर मूल भावना आत्मरक्षा तथा काम अथवा संतानोत्पत्ति द्वारा स्वयं को चिरकाल तक अस्तित्ववान रखने की है। ये मूल भावनाएं अन्य रूपों में रूपांतरित होती हैं। शेष भावनाएं भी इन्हीं के चतुर्दिक घिरी रहती हैं, मानव की कामनाएं उसके क्रिया-कलापों का निर्देशन करती हैं। कामनाओं के विशाल पुंज में से कुछ पूर्ण हो पाती हैं, शेष संतुष्टि के प्रयत्न में दमित होती हैं, अस्वीकृति पाती हैं।

अस्वीकृति अनेकविध हो सकती है, परन्तु दो प्रकारों का यहां परिगणन किया जा सकता है। बाह्य अस्वीकृति -- बाधा के रूप में, जैसे एक मनुष्य कुछ प्राप्त करना चाहे और दूसरा उसे छीन ले। मानसिक - जिसमें मनुष्य यह सोचे कि जो कुछ वह चाह रहा है वह असंभव है, पूर्ण हो ही नहीं सकता। प्रथम स्थिति में कामना मानसिक और बाधा भौतिक है, द्वितीय में दोनों ही मानसिक हैं। इस प्रक्रिया में पुन: दो स्थितियां संभव हैं। प्रथम यह कि मनुष्य यह सोचे कि उसकी

कामना भौतिक रूप में पूर्ण होने में असमर्थ है , जैसे किसी मृत क
को पुन: सशरीर पाने की कामना । द्वितीय यह विचार कि उसकी
कामना सामाजिक-कर्तव्य-भावना के प्रकाश में अनुपयुक्त है ।
सामाजिक-कर्तव्य-भावना के अंतर्गत वे सभी विधि-निषेध समाहित हैं
जिन्हें मानव-मानस मान्यता देता है । यह कर्तव्य - अकर्तव्य भावना
मनुष्य के विचारों को प्रभावित करती है - इस प्रकार सामाजिक
सत्ता और कामनाजनित आवेग में संघर्ष होता है । उपर्युक्त सभी स्थितियों
में जहां-जहां भी कामनाओं को अस्वीकृति मिलती है काल्पनिक पूर्णता
में संतुष्ट होती हैं । इस दृष्टि से वह स्थिति अधिक महत्वपूर्ण है
जिसमें कामना और अस्वीकृति दोनों ही मानसिक हैं । जिस क्षण
सामाजिक विधि-निषेध का अनुभव होता है, स्थिति जटिल हो जाती
है । मानव की प्रथम अथवा मूल और अर्जित प्रकृति में द्वन्द्व होता है ।
जहां अर्जित प्रकृति द्वारा मूल आवेग का दमन होता है, वहीं से कल्पना
का कार्य प्रारंभ होता है । यह कल्पना की प्रक्रिया मूल और अर्जित
दोनों भावनाओं को संतोष प्रदान करती है । छिपाव अथवा अर्थ के
प्रतीयमान होने की यही व्याख्या है । जब मूल इच्छा मुक्त होती है
तो कल्पना उसके संतोष हेतु प्रत्यक्ष चित्र-विधान करती है । जब
मूल इच्छा नियंत्रित होती है तो कल्पना एक प्रत्यक्ष चित्र उपस्थित न
कर समतुल्य, अनुषंग (associate) चित्र उपस्थित करती है, --
जिसके साथ वही भावनाएं जुड़ी होती है -- और वह चित्र पूर्ण संतोष
देता है । कल्पना द्वारा प्रस्तुत इस बिम्ब में कवि का मूल अर्थ तल पर
नहीं रहता, वह प्रतीयमान बनकर सहृदयगम्य हो जाता है । आनंदवर्धन
कवि की अनुभूति को ही प्रधानता देते हैं । काव्य की कलात्मकता इसी
में है कि कवि की प्रतीयमान अनुभूति प्रधानत: प्रतीत हो । काव्य की
सफलता, कवि की सफलता इसी में है, यही ध्वनि है । इस स्थानापन्न
बिम्ब द्वारा गौण अथवा अर्जित प्रकृति भी संतुष्ट होती है । इस

स्थिति में अर्थ न एकदम उजागर होता न अत्यन्त गूढ़ वह झिलमिलाता है। संस्कृत में इसके लिए बहुत सुन्दर उक्ति है --

नान्ध्रीपयोधर इवातितरां प्रकाशो,

नो गुर्जरीस्तन इवातितरां निगूढः।

अर्थो गिरामपिहितः पिहितश्च कश्चित्,

सौभाग्यमेति मरहट्टवधूकुचाभः।।[१]

मानस के एक और वैशिष्ट्य पर यहां विचार कर लेना संगत होगा। अवचेतन मानस का अस्तित्व अब विवादास्पद नहीं है। दमित इच्छाएं मानस के इसी भाग में निक्षिप्त कर दी जाती हैं। इस निक्षिप्तीकरण के दो कारण हो सकते हैं। (१) चेतन मानस में सामान्यतः उपयोगी कामनाएं ही रहती हैं, बलवती किन्तु अनुपयोगी प्रतीत होने वाली कामनाएं ऐसी स्थिति में अचेतन में चली जाती है। (२) द्वितीय कारण यह हो सकता है कि ये कामनाएं दमित होकर पीड़ादायक हों और तब इस पीड़ा से मुक्ति पाने के लिए चेतन मानस इन्हें अपने क्षेत्र से बाहर कर देना चाहे, इस स्थिति में भी ये अचेतन मानस में निक्षिप्त हो जाती है। यह फ्रायड की स्थापना है और बर्गसां भी इससे अनुमत है। असंतुष्ट तथा अव्यावहारिक इच्छा पीड़ादायक होती है इसमें संदेह नहीं है। यह पीड़ा चाहे भौतिक हो अथवा मानसिक, मानव प्रकृतितः पीड़ा से बचना चाहता है अतः इस प्रकार की कामनाओं की यदि बहिर्निर्गति नहीं होती तो वह अचेतन की ओर उन्मुख हो जाती है। यह ध्यातव्य है कि मूल और अर्जित दोनों ही भावनाएं चेतन अथवा अचेतन का अंग बन सकती है। ऐसा भी हो सकता है कि एक चेतन का अंग बने दूसरी अचेतन का। ऐसी स्थिति जब एक अथवा दोनों अचेतन का अंग हों कविता के लिए विशेष महत्वपूर्ण मानी गई है।

---

१. काव्य प्रकाश : पृ १६६, आ० वि०

अचेतन में निहित आवेग काल्पनिक रूपाकारों को उत्पन्न करते हैं। यहां दमन का कारण अव्यावहारिकता तथा सामाजिक नियंत्रण है, प्रबल नियंत्रण के कारण संघर्ष भी उग्र होता है। फलत: अभिव्यक्ति भी कठिनाई पूर्ण होती है, छिपाव अधिक होता है, स्थानापन्नता भी अधिक होती है, रूप परिवर्तन होता है। यह स्थानापन्नता समान भावनाओं को जाग्रत कर सकती है, समान संतोष दे सकती है।

उपर्युक्त जटिल प्रक्रिया की सरलीकृत व्याख्या संभव नहीं है - संभवत: वह भ्रामक भी हो। तब भी इसे निम्न - लिखित विधि से सूत्रबद्ध करने का प्रयास किया जा सकता है -[१]

८.६ सामान्यत: मनुष्य की ऐसी इच्छा जो अनुभूतियों से युक्त है, विचारों को जाग्रत करने वाली है यदि सुचिंतित क्रिया में परिणत होती है तो पूर्ण हो जाती है। परन्तु यदि यह इच्छा अवरुद्ध होती है तो यही क्रम कल्पना में घटित होता है। चेतन मानस में उपस्थित एक इच्छा `इ` अवरुद्ध होने पर कतिपय बिम्ब ब$_1$ बनाती है, इसके साथ अ अनुभूति जुडी है तथा इससे `स` संतोष मिलता है। यदि यह इच्छा नियंत्रण द्वारा अवरुद्ध होती है तो इच्छा `इ`, ब$_1$ बिम्ब नहीं, ब$_2$ बिम्ब बनाती है। अनुभूति ब$_2$ के साथ भी वही होती है जो ब$_1$ के साथ थी और संतोष भी `स` ही होता है किन्तु जब तक आसंगो ( ) का ज्ञान नहीं होता ब$_2$ बिम्ब इ अथवा अ के अनुरूप प्रतीत नहीं होता। इस प्रकार ब$_2$ आवरणयुक्त अभिव्यक्ति होती है जिसके मूल में इच्छा `इ` रहती है। यह स्थिति तब है जब इच्छा `इ` चेतन मानस में उपस्थित है। यदि इच्छा इ अचेतन मानस में है तो

---

१. द पोएटिक माइन्ड, प्रेस्काट, पृ २४६

वह और भी विचित्र स्थानापन्न बिम्ब व रचती है। इसकी व्याख्या और भी कठिन है क्योंकि इच्छा तो अचेतन में रहती है, बिम्ब ही चेतन मानस में आते हैं।

कविता इन तीनों स्थितियों में होती है। प्रथम में वह इसलिए काल्पनिक है कि प्रत्यक्षत: असंतुष्ट इच्छा को संतुष्ट रूप में उपस्थित करती है। द्वितीय स्थिति में द्विगुणित काल्पनिक है, तृतीय में और भी अधिक, क्योंकि वह एक प्रकार से रूपक तथा प्रतीकों का आश्रय लेती है। परोक्ष अभिव्यक्ति इसलिए महत्वपूर्ण है कि एक और वह व्यक्ति को मुक्ति देती है दूसरी ओर उसे समाज से भी जोड़ती है। अत: प्रतीयमान अभिव्यक्ति ही वास्तव में काव्यात्मक है। अचेतन मानस का यही एक अभिव्यक्ति मार्ग है - जहाँ कविता का जन्म होता है। शैली (   ) के अनुसार कविता अचेतन मानस को पीड़ित करने वाली भावना को अपने में निहित रखती है तथा भाषा अथवा रूप के सहारे पुन: मानव के समक्ष प्रस्तुत करती है।[१] यह कविता श्रोता में भी स्वसदृश भावना उत्पन्न करती है।

८.७ फ्रायड ने काव्य सृष्टि और स्वप्न-सृष्टि को समानान्तर माना है, यहाँ उस पर भी विचार कर लेना उचित होगा। काव्यात्मक दृष्टि कामनाओं, विशेषत: मूल आवेगों और अचेतन ग्रंथियों को व्यक्त करती है। फ्रायड के मतानुसार स्वप्न सृष्टि में भी दो शक्तियाँ काम करती है -- प्रथम शक्ति स्वप्न-इच्छा का निर्माण करती है, द्वितीय उस पर नियंत्रण करती है, परिणामत: रूपांतरण होता है।[२] चेतना के द्वार पर स्थिति नियंत्रण कतिपय विचारों का अवरोध करता है। परन्तु नैश शैथिल्य की स्थिति में कतिपय विचार स्वप्न के विचित्र

---

१. Defence of Poetry Ed. Cook p 41.

२. Psychanalysis p. 37 . A Brill.

छिपाव में निकल जाते हैं, इस प्रकार वे इच्छाएं जो वास्तविक जीवन में असंतुष्ट थी, संतोष का अनुभव करती हैं ।[१] स्वप्न रचना का उद्देश्य कतिपय भावनाओं को तुष्टि देकर निद्रा में बाधा पहुंचाने वाले आवेग से मुक्ति पाना है ।[२] विरूपित ( ) स्वप्न में इच्छा पूर्ति प्रत्यक्षत: व्यक्त नहीं होती , उसे ढूंढना होता है - स्वप्न की व्याख्या करने पर ही उसे जाना जा सकता है । यह स्पष्ट है कि विरूपित स्वप्नों के मूल में स्थिति भावनाएं वे हैं जो नियंत्रण द्वारा अस्वीकृत है - अवरुद्ध है ।[३] यह नियंत्रण भी वही है जिसका विवेचन पिछले पृष्ठों में किया जा चुका है । फ्रायड के मनोवैज्ञानिक नियंत्रण का आधार भी यही सामाजिक नियंत्रण है - इसे समाज - मनोवैज्ञानिक नियंत्रण कहा जाना चाहिए । इसके अभाव में फ्रायड सम्मत नियंत्रण निराधार और कृत्रिम लगता है । मनोवैज्ञानिक नियंत्रण और आवेगों का संघर्ष इस वृहत संघर्ष का एक आयाम मात्र है । काव्य के संदर्भ में जिसे छिपाव कहा है स्वप्न के संदर्भ में वही विस्थापन ( ) है । विस्थापन में इच्छा प्रत्यक्ष व्यक्त नहीं होती, वरन उसका प्रतिनिधित्व कोई प्रतीक, कोई बिम्ब करता है । इच्छा और प्रतीक में संसर्ग संबंध होता है । मूल भावना प्रतीक पर स्थानान्तरित हो जाती है । अत: विस्थापन ( ) एक प्रकार से आवरण में अभिव्यक्ति है । आनंदवर्धन की शब्दावली में कहना होगा कि प्रतीक वाच्यार्थ है जिसमें मूल भावना प्रतीयमान है ।

कारलाइल का ' सिद्धान्त कविता तथा अन्य समानधर्मी अभिव्यक्तियों के लिए समानत: संगत है ।

---

१. Substitute Gratifications fordesires which are unsatisfied in life' Introductary Lectures on Psycho-analysis, Freud, 1961, Joan Riviere.

२. Ibit, p 180

३. Ibit, p 181

व्यंग्योक्तियों में भी वाच्यार्थ के द्वारा प्रतीयमान अर्थ व्यक्त होता है तथा प्रतीयमान अर्थ के उद्घाटन से चमत्कृति जन्य आनंद का अनुभव होता है।

कविता में जहां दोहरे अथवा वाच्य-व्यतिरिक्त अन्य अर्थ होते हैं, वहां वाच्य-व्यतिरिक्त प्रतीयमान अर्थ अत्यन्त महत्वपूर्ण होता है। सामान्यत: जितनी तीव्र अनुभूति होती है, जितना प्रबल दमन होता है, द्वन्द्व भी उतना ही शक्तिशाली होता है - विस्थापन भी उतना ही अधिक होता है। इस विस्थापन के अनुपात में ही आवरण भारी होता है तथा इसी अनुपात में प्रभाव भी काव्यात्मक होता है।

प्रैस्काट ने काव्यात्मक प्रक्रिया में सामाजिक नियंत्रण के अभाव को व्यक्त करने वाले एक और महत्वपूर्ण अनुगुण का विवेचन किया है। स्वप्न में 'गौण-विस्तार' (   ) की प्रक्रिया होती है। यह चेतन-मानस की क्रिया है। जब जागने के बाद स्वप्न का पुन: स्मरण किया जाता है तो स्मरणकर्ता इसे वैसे ही देखता है जैसे वह किसी अन्य प्रत्यक्ष वस्तु को देखता है। द्रष्टा इस स्वप्न को यथावत स्वीकार नहीं करता वरन् पूर्व धारणाओं के अनुसार पुन:निर्मित रूप में ग्रहण करता है। इस प्रकार किसी सीमा तक इसे चेतन मानस की अन्य प्रक्रियाओं से संगत बनाकर उपस्थित किया जाता है। इसी प्रकार जब कवि अपनी दृष्टि को प्ररणा-क्षेत्र के बाहर संसार में लाता है तो वह चेतन होकर पुन: स्मरण करता है और जब लिखता है तो उसे पुन: संयोजित करता है तथा जाग्रत विचारों से संगति देता है। अत: लिखित कविता तृतीय बार संयोजित रूप में हमारे समक्ष आती है।

ट्रिलानी (   ) ने शैली के एक प्रसंग का संदर्भ दिया है -- 'शैली (Shelley) को पीसा के निकट के वन में देखा, उसके गीतों की पांडुलिपि उसके पास थी - - यह अत्यंत घसीट में

में लिखी गई थी - शब्द उसकी उंगलियों से बिना क्रम के, एक पर एक, फिसल रहे थे। पूछने पर शैली ( ) ने कहा था 'जब मेरा मानस उत्तप्त होता है तो बिम्ब शब्द फेंकता है - मैं इन्हें उतार नहीं पाता - प्रात: कुछ शीतल होने पर मैं उस से चित्र बनाता हूं।' शैली जब लिखता था तो इस प्रक्रिया में कुछ रह जाता था। पुन: लिखने की स्थिति में भाषा, छन्द आदि के कारण फिर कुछ परिवर्तन होता होगा।

ध्वनिसिद्धान्त वाच्यार्थ की अपेक्षा प्रतीयमान अर्थ की श्रेष्ठता में कविता मानता है। इसका स्पष्ट तात्पर्य यह है कि आवेग और नियंत्रण के द्वन्द्व के परिणामस्वरूप कवि की अनुभूति प्रतीयमान तो होगी ही, पर उसे प्रधान भी होना चाहिए। यदि बाह्य तल पर प्रतीत होने वाला अर्थ ही प्रधान लगता है तो इसका अर्थ होगा कि कवि अपने शिल्प में अपूर्ण रह गया है। कवि का कथ्य (प्रतीयमान अर्थ रूप में) यदि प्रधान न हुआ, वाच्यार्थ की अपेक्षा अतिशय न लगा तो कवि और सहृदय दोनों की ही दृष्टि से काव्य समुचित न कहा जा सकेगा। परन्तु ऐसा होता है कि कवि की अशक्ति अथवा अव्युत्पत्तिकृत दोष के कारण वाच्यार्थ और प्रतीयमान अर्थ समानत: प्रतीत हों या प्रतीयमान अर्थ वाच्यार्थ से हीन लगें, तब उस स्थिति में गुणभूत व्यंग्य काव्य होता है। परन्तु कविता की वास्तविक स्थिति तो वही है जिसमें कवि का अनुभूति रूप आवेग प्रतीयमान रूप में प्रधानत: प्रतीत हो।

अत: समाज-मनोवैज्ञानिक व्याख्या के आधार पर कवि की अनुभूति का प्रतीयमान होना प्रमाणित होता है और उसका प्रधान होना भी।

८.८ उपर्युक्त विवेचन का सार यह है कि प्रेरणात्मक आवेग - जो कवि की इच्छाओं-कामनाओं पर निर्भर करता है- कविता के लिए आधार-भूमि प्रस्तुत करता है तथा सामाजिक नियंत्रण उसे शिल्प प्रदान करता है। यदि बाधित कामना चेतन मानस में है तो कल्पना द्वारा साधित बिम्ब सरल होंगे तथा असंतुष्ट कामना को संतुष्ट रूप में प्रस्तुत कर रचयिता को तनाव से मुक्त करेंगे। यदि दमित कामना अथवा इच्छा अवचेतन में स्थित हैं तो बिम्ब जटिल होंगे, यद्यपि रचयिता को उनसे वही सुख मिलेगा जो चेतन-स्थित दमित भावना जन्य बिम्बों से मिला था। इस विवेचन से यह प्रमाणित होता है कि तल पर दिखलाई पड़ने वाला अर्थ कवि की अनुभूति को प्रकट नहीं करता, उसे जानने का प्रयत्न करना होगा, वह आवरण में होता है। आवरण में अर्थ कैसे रह सकता है? इसका एकमात्र समाधान है 'प्रतीयमानता'। अर्थात वह अर्थ व्यंग्यार्थ बनकर रहेगा। आनंदवर्धन ने इसीलिए इतने विस्तार से व्यंग्यार्थ का प्रतिपादन किया है।

८.९ परन्तु ऐसी भी कविता है जिसमें बिम्ब नहीं है और जो व्यंग्योक्ति भी नहीं है, जिनमें वक्ता का अर्थ वाच्यार्थ से निष्पन्न नहीं होता, वह अर्थ परिवेश के विमर्श से प्रतीत होता है। इस स्थिति का परिगणन आधुनिक मनोवैज्ञानिक काव्यशास्त्रीय चिन्तक भी नहीं कर पाए हैं। नियंत्रण ( ) इन कविताओं में भी बहुत स्पष्ट है। ध्वन्यालोक में उद्धृत एक बहु चर्चित श्लोक लें --

भ्रम धार्मिक विस्रब्धः स शुनकोऽद्य मारितस्तेन।
गोदावरीनदीकूललतागहनवासिना दृप्तसिंहेन॥[1]

---

१. ध्वन्यालोक: पृ ५२, ज.पाठक

यह कथन किसी कुलटा का है, वह अपने प्रियतम से मिलने के लिए एक निश्चित स्थान पर जाती है, वहां एक पुजारी पुष्पचयन हेतु आता है- नित्य आता है, इससे उस स्त्री के प्रियमिलन में बाधा पहुंचती है, वह किसी प्रकार पुजारी को वहां आने से रोकना चाहती है । इस स्थिति का विश्लेषण उपर्युक्त विवेचन के आधार पर निम्नलिखित विधि से किया जा सकता है ।

उपपति से संभोग जन्य सुख की कामना नायिका में उत्पन्न होती है । इस सुख को प्राप्त करने में सामाजिक - नियंत्रण बाधा उत्पन्न करता है । बाधा भौतिक है, अत: वह एकान्त स्थान ढूंढ कर इस बाधा से मुक्ति पा लेती है, ध्यातव्य है कि नियंत्रण नैतिक नहीं है, शुद्ध सामाजिक है । परन्तु , उस एकान्त स्थान में भी समाज का प्रतिनिधि स्वरूप पुजारी आ जाता है, अत: पुन: सामाजिक सत्ता का नियंत्रण प्रभावी होता है । वह स्पष्टत: पुजारी रूप नियंत्रण को हटा नहीं सकती - क्योंकि यहां भौतिक बाधा हटानी है अत: वह विशेष कथन के द्वारा यह कार्य सिद्ध करती है । इस स्थिति में इच्छा और नियंत्रण का संघर्ष है, नियंत्रण के कारण ही वह विधि परक कथन कहती है, परन्तु मूल इच्छा अथवा आवेग (यहां वस्तुत: आवेग ही है, कामातुरा नारी की इच्छा में बाधा उसमें दोहरे आवेग को उत्पन्न करती है - एक तीव्र इच्छा का आवेग द्वितीय उसके बाधित होने का आवेग) इस कथन में तल पर नहीं है - वह प्रत्यक्ष कथन के आवरण में निहित है - वह प्रतीयमान है । नायिका कहती है - 'पुजारी आराम से भ्रमण करो, जिस कुत्ते से तुम डरते थे, उसे गोदावरी नदी के गहन कुंजों में निवास करने वाले मदमस्त सिंह ने मार डाला है ।'

यहां मूल आवेग (काम) एकांत में पूर्ति चाहता है - इसका दूसरा रूप है अन्य की उपस्थिति का निषेध । अत: पुजारी के भ्रमण का निषेध ही मूल आवेग है । इस तक सहृदय पहुंचता है 'माश्रित:'

`दृप्तसिंहि` आदि पदों के विमर्श से । नायिका कहती है पहले तो कुत्ता ही था, अब मदमस्त सिंह है, अत: मूर्ख यहां भ्रमण मत करो । परन्तु भ्रमण मत करो यह अर्थ वाच्यार्थ नहीं है -- गहरे में है, यही इस कविता का सौन्दर्य है । अभिव्यक्ति की इस विधि का कारण स्पष्टत: सामाजिक नियंत्रण ही है - आवेग और नियंत्रण दोनों की प्रभावी उपस्थिति यहां प्रमाणित है । अत: यह सिद्ध होता है कि नियंत्रण से बाधित अभिव्यक्ति में मूल कथ्य व्यंग्य बनकर ही रह सकता है । वह प्रतीयमान (   ) ही होता है ।

८.१० दृष्टि हे प्रतिवेशिनी क्षणमपि इहास्मद्गृहे दास्यसि,
प्रायेणास्य शिशो: पिता न विरसा: कौपीरप: पास्यति ।
एकाकिन्यपि यामि सत्वरमित: श्रोतस्तमालाकुलं,
नीरन्ध्रास्तनुमालिखन्तु जरटच्छेदानलग्रन्थय: ।।

यह कथन भी कुलटा का है अपनी पड़ोसिन से कहती है -`हे पड़ोसिन क्षणभर के लिए मेरे घर का ध्यान रखना, इस बच्चे का पिता (मेरा पति) कुए का सारा जल नहीं पीता, इसलिए दूर स्थित भरने तक मैं अकेली भी जाऊंगी, यद्यपि वहां पुराने भाड़ है, मेरे अंगों में खरोंचे पड़ जाएंगी फिर भी मैं जाऊंगी । इस प्रसंग में इच्छा काम जन्य है, तज्जनित आवेग है, बाधा भौतिक है (सामाजिक है) । इस नियंत्रण के कारण नायिका छिपकर अपनी आवेग जन्य इच्छा को पूर्ण करती है । परन्तु जाने पर संभोगानान्तर जो उसकी स्थिति होगी उसे वह छिपाना चाहती है, जाना भी अकेले है । अत: पहले से ही उस बाद की स्थिति की कल्पना कर कह देती है --
`दूर है तेजी से जाऊंगी, पुन: तेजी से लौटना होगा अत: श्वास भर आएगी । पसीने से लथपथ हो जाऊंगी, वहां पुराने भाड़ हैं, कपड़े फट सकते हैं, बदन पर खरोंचे आ सकती हैं, `आदि` स्पष्ट है कि ये सभी बातें संभोग जन्य भी हो सकती हैं - यहां होंगी ही । परन्तु नायिका की यह मूल इच्छा

उपर्युक्त श्लोक का विश्लेषण करने पर ही ज्ञात हो सकती है, यह अर्थ तल पर नहीं है, वाच्य से पृथक ही है ।

इस प्रसंग में एक और दृष्टिकोण भी प्रस्तुत किया जा सकता है । यह नायिका अतृप्ता है, परपुरुष भोग में सामाजिक नियंत्रण बाधा उत्पन्न करता है । अत: वह भरने के नीचे भाड़ियों में परपुरुष से पूर्ण संभोग की कल्पना करती है और कल्पना में ही असंतुष्ट इच्छा को पूर्ण होता देखती है । इच्छा पूर्ति के बाद की अपनी स्थिति की भी कल्पना कर लेती है । सामाजिक नियंत्रण यहां भी कार्य कर रहा है अत: कल्पना में ही उस नियंत्रण को तुष्ट करने के लिए ऐसा कथन सोचती है कि किसी के पूछने पर ऐसा कह देगी । यहां इच्छा और नियंत्रण में समझौते की प्रवृत्ति अत्यन्त स्पष्ट है । अत: यह विवादास्पद नहीं है कि यह अर्थ की व्यंग्यार्थ के रूप में स्थित होगा - वाच्य हो नहीं सकता, प्रतीयमानता इसकी नियति है । उपर्युक्त श्लोक में नियंत्रण नैतिक नहीं है - शुद्ध सामाजिक है । सामाजिक नियंत्रण और आवेग के संघर्ष के परिणाम स्वरूप कथित एक और उक्ति का विश्लेषण यहां प्रस्तुत है -- यह श्लोक भी ध्वन्यालोक में विवेचित है -

८.११ श्वश्रूरत्र निमज्जति अत्राहं दिवसकं एव प्रलोकय ।
मा पथिक रात्र्यंध शय्यायां मम निमंक्ष्यसि ।।

यह एक प्रोषितपतिका का कथन है । पति विदेश गया हुआ है और नायिका बहुत समय से विरहविधुरा है । तभी एक पथिक उसके यहां रात्रियापन हेतु ठहरता है । स्त्री का आवेग तीव्र हो जाता है, पर सास के भय से वह स्पष्टत: उस पथिक को अपने सोने का स्थान कैसे बतलाए - यहां भी बाधा सामाजिक है, नैतिक नहीं। एक और तीव्र कामावेग है दूसरी और नियंत्रण है -- परिणामत: उक्ति इस रूप में प्रकट हुई है ।

'सास यहाँ सोती है, मैं यहाँ, दिन में ही देख लो, कहीं रतौंधी के कारण रात्रि में मेरी शैय्या पर मत गिर जाना । वस्तुत: वह चाहती है कि पथिक रात्रि में उसकी शैय्या पर आए । इस प्रकार ऐसी अभिव्यक्ति जिसमें निषेध के द्वारा विधि का प्रतिपादन हो- सामाजिक अथवा नैतिक नियंत्रण के अवरोध के कारण होती है । इन में वक्ता का तात्पर्य वाच्यार्थ के रूप में उपस्थित नहीं रहता वह प्रतीयमान ही रहता है । 'कस्य वा न भवति.... आदि श्लोकों के कथन-शिल्प का कारण भी यही नियंत्रण जन्य अवरोध है । यह स्थिति तब होती है जब आवेग और नियंत्रण दोनों ही चेतन मानस में स्थित हों । चेतन मानस में स्थित अवरुद्ध आवेग बिम्ब के रूप में भी अभिव्यक्त हो सकता है, वह बिम्ब वक्ता के मूल भाव से संबंधित होगा, पर उसे ढूंढना होगा । एक उदाहरण लें --

८.१२ अनुरागवती सन्ध्या दिवसस्तत्पुरस्सर: ।
अहो दैवगति: कीदृक्तथापि न समागम: ।।[१]

'अर्थात् प्रेम से पूर्ण सन्ध्या है दिवस भी उसके सामने बढ़ रहा फिर भाग्य की गति कैसी है कि दोनों का समागम नहीं हो रहा ।'

यह नायक का कथन है । वह अपनी प्रिया से मिल नहीं पा रहा है । मिलन का आवेग तीव्र है परन्तु नियंत्रण भी उतना ही प्रबल है । अत: प्रतीक के माध्यम से अपनी अभिव्यक्ति करता है । सन्ध्या भी सामने है, अनुरागवती भी है । वैसे ही नायिका भी अनुरागवती है, पर फिर भी नायक अपनी कामना को संतुष्ट नहीं कर पाता । नियंत्रण यहाँ बाधक है । प्रतीक कथन से वह अपनी भावना को प्रकट करता है । परन्तु प्रसंग के विमर्श से नायक की मूल भावना तक पहुँचा जा सकता है । यह भावना

---

१. ध्वन्यालोक:, पाठक, पृ.११४

भी यहां प्रतीयमान है । नायक इस प्रकार की अभिव्यक्ति से संतोष प्राप्त करता है, आवेग से मुक्ति पाता है, उसकी निराशा व्यक्त होकर कोमल हो जाती है । यह कथन भी श्रोता के लिए सह्य हो जाता है । नियंत्रण अवहेलना नहीं सह सकता है, इस प्रकार की आवरणयुक्त अभिव्यक्ति में नियंत्रण को मान्यता मिलती है । दूसरी ओर अभिव्यक्ति कलात्मक हो जाती है । इसे सूत्र रूप में इस प्रकार कहा जा सकता है । नायक की इच्छा इ अवरुद्ध हुई, उसकी कल्पना ने भावचित्र ब प्रस्तुत किया कि सब कुछ होते हुए भी दो प्रेमी मिल नहीं पा रहे हैं, प्राकृतिक प्रतीकों के माध्यम से अभिव्यक्ति हुई । अभिव्यक्ति में सन्ध्या स्त्रीलिंग है, रागपूरित है,लालिमा युक्त है, उसका राग उच्छलित है, प्रेमी दिवस सामने है, आगे भी बढ़ रहा है तब भी मिलन संपन्न नहीं हो पा रहा, यहां नियंत्रण का प्रतीक दैव गति है । इसका कारण तत्कालीन भारतीय संस्कृति की नियति विषयक धारणा है । यहां कामना और अवरोध दोनों चेतन मानस में है अत: प्रतीक योजना भी सरल है । आसंग ( ) के द्वारा यह सहृदय को नायक की मूल भावना तक पहुंचा देता है । यहां आसंग है - अनुकूल परिस्थितियां होने पर भी मिलन का संपन्न न होना । यह प्रसंग राजा से संबंधित है, राजा, रत्नावली से मिलन चाहता है, रत्नावली भी उसे चाहती है । राजा की नैतिकता यहां नियंत्रण है, वह वासवदत्ता के हृदय को दुखाना नहीं चाहता, अत: गुप्त रूप से ही मनोकामना पूर्ण करना चाहता है ।

पूर्व पृष्ठों में मनुष्य की जिस गौण अथवा अर्जित प्रकृति की चर्चा की जा चुकी है, वह यद्यपि मनुष्य में ही होती है- परन्तु नियंत्रण के संदर्भ में वह मनुष्य की प्रथम अथवा मूल प्रकृति के समक्ष इस प्रकार व्यवहार करती है जैसे वह पृथक अस्तित्व हो । मानव दो व्यक्तित्वों में विभाजित

हो जाता है - मूल और गौण । सामाजिक, नैतिक अथवा अन्य भी कोई नियंत्रण इस द्वितीय प्रकृति के द्वारा ही प्रभावी होता है , अत: नियंत्रण की सफलता इस द्वितीय प्रकृति को संतोष देती है जो प्रकारांतर से मानव को सुख देती है, त्याग इत्यादि महत् समझी जाने वाली भावनाएं इस गौण प्रकृति द्वारा आरोपित की जाकर इसे ही संतोष देती है, व्यक्ति स्वयं को महान समझकर, अपनी ही दृष्टि में ऊंचा होकर आनंद का अनुभव करता है । अत: नियंत्रण की यह गौण प्रकृति है ।

८.१३ कभी ऐसी भी स्थिति होती है कि आवेग प्रतीक का आश्रय लेकर व्यक्त हो, परन्तु कवि के व्यक्तित्व की प्रबलता के कारण, उसकी लीकों को तोड़ने की प्रकृति के कारण, वह स्थल-स्थल पर स्पष्ट प्रकट हो जाए । हिन्दी के छायावादी कवि निराला में काव्यात्मक आवेग की प्रबलता , उनकी कविता में सर्वत्र उद्वेलित होती दिखलाई पड़ती है । `राम की शक्ति पूजा` हो या `जुही की कली` शिल्प के छंद के बंधनों में आबद्ध भी उनकी अनुभूति छलक-छलक जाती है । नियंत्रण को झेलते हुए भी निराला का प्रबल व्यक्तित्व जैसे उसे ताड़ फेंकता है । प्रतीकों का आश्रय ग्रहण करती हुई भी उनकी अभिव्यक्ति - प्रतीकों से व्यंजित भाव से कुछ अधिक कह देने को व्यग्र प्रतीत होती है । `जुही की कली` [१] का प्रारंभ विजन वन

---

१ विजन-वन-वल्लरी पर
सोती थी सुहाग भरी-स्नेह स्वप्न मग्न -
अमल कोमल-तनु तरुणी जुही की कली,
दृग बन्द किए, शिथिल पत्रांक में ।
वासन्ती निशा थी,
विरह - विधुर प्रिया संग छोड़
किसी दूर देश में था पवन
जिसे कहते हैं मलयानिल ।

वल्लरी' पर सोती ही सुहाग भरी' पंक्ति से होता है, पर द्वितीय तृतीय पंक्ति तक पहुंचते - पहुंचते कवि का मूल आवेग उफन कर प्रत्यक्ष होने लगता है - प्रणय की क्रीड़ा का यह दृश्य, कली और पवन के प्रतीकों से व्यक्त होकर आवेग को कलात्मक बना देता है, 'सुहाग भरी' आदि शब्द व्यंजना को पूर्णता देते हैं परन्तु भावावेग की उग्रता का आभास स्पष्टत: हो जाता है। 'जुही की कली' की छंदात्मक लय, सहृदय में कवि की अनुभूति को साकार करने में सहायक है। 'निराला' में आवेग और नियंत्रण का द्वन्द्व जितना प्रबल है, नियंत्रण के प्रति जैसा आग्रह का भाव है अन्य छायावादी कवि में नहीं। द्वन्द्व की यह तीव्रता ही निराला के काव्य की अदम्य प्राणवत्ता का कारण है। कभी-कभी अपनी भावना को संतुष्ट न कर पाने की निराशा में

आई याद बिछुड़न से मिलन की वह मधुर बात,
आई याद कान्ता की कंपित कमनीय गात,
आई याद चांदनी की धुली हुई आधी रात,
फिर क्या ? -- पवन
उपवन सर-सरित गहन-गिरि कानन
कुन्ज-लता-पुंजों को पार कर
पहुंचा जहां उसने की केलि खिली-कली साथ।
सोती थी, जाने कहो, कैसे प्रिय आगमन वह ?
नायक ने चूमे कपोल,
डोल उठी वल्लरी की लड़ी जैसे हिंडोल।
इस पर भी जागी नहीं, चूक क्षमा मांगी नहीं,
निद्रालस बंकिम विशाल नेत्र मूंदे रही
किंवा मतवाली थी यौवन की मदिरा पिए, कौन कहे ?

कवि ऐसे प्रतीक चुनता है जिनमें उसकी निराशा का प्रतिबिम्ब हो। `राम की शक्ति पूजा` इसी प्रक्रिया का परिणाम है - इस प्रकार भी कवि अपने आवेग को कर पाता है।

पंत की स्थिति निराला से भिन्न है। पंत में नियंत्रण अधिक है, उनका आवेग मंथर गति से प्रवाहित सरिता के सदृश है। `चाँदनी रात में नौका विहार` कविता में गंगा को `तापस बाला` कहा है, जो `शांत`, `क्लांत` और `निश्चल` लेटी है, उसे अपने केशों का ध्यान नहीं है, स्वयं का ही ध्यान नहीं है, अत्यधिक `थकान` के कारण वह श्रमश्लथ है, `गोरे अंगों` पर `तार तरल सुंदर` `वस्त्र` वायु से आन्दोलित है। जिस प्रकार की शब्दावली इस कविता में प्रयुक्त है उससे लगता है जैसे चिर कुमार कवि मानस में नारी को इस रूप में भोग पाने की इच्छा कुमारी ही रह गई हो, वह किसी नारी को इस स्थिति तक कभी न पहुँचा पाया, फलत: कल्पना में इस बिम्ब का सृजन करता है और अतृप्त कामना को तृप्त करता है, संतोष पाता है। परन्तु, तभी

निर्दय उस नायक ने निपट निठुराई की
कि झोंकों की झाड़ियों से सुन्दर सुकुमार
देह सारी झकझोर डाली
मसल दिए गोरे कपोल लोल।
चौंक पड़ी युवती,
चकित चितवन निज चारों ओर फेर,
हेर प्यारे को सेज पास
नम्र मुखी, हँसी खिली,
खेल रंग, प्यारे संग

- सूर्य कान्त त्रिपाठी `निराला`

नियंत्रण प्रबल हो जाता है और वह इस नारी रूप को `तापस बाला` कह उठता है, जैसे उसका नैतिक मन नारी को इस रूप में प्रस्तुत करने की कल्पना भी सह नहीं सकता । यहां अतृप्ति अवचेतन में सुप्त कामना है, जो यह रूप-बिम्ब रचने की प्रेरणा देती है, `तापसबाला` प्रयोग चेतन मन में स्थित नैतिकता की प्रेरणा है । अत: अतृप्ति और कामना पर अंकुश रहता है, पंत में यह स्थिति बहुत स्पष्ट है - वे स्पष्ट कह नहीं सकते । जीवन में सदैव परिष्कृति की कामना करने वाले, धरती पर स्वर्ग की इच्छा करने वाले पंत में सांस्कृतिक और नैतिक नियंत्रण इतना प्रबल है कि उनकी कविता कभी-कभी प्राणहीन सी लगती है । आवेग का अभाव उसमें खटकता है । पंत ने `मन ` को बहुत प्रशिक्षित किया है पर वह कभी-कभी प्रकट हो ही जाता है । इसी कविता में `एक पक्षी` के उड़ने की बात है - कवि कहता है - `क्या निकल कोक उड़ता छाया की कोकी को विलोक` । कविकी भावना इस संपूर्ण कविता में `छाया की कोकी` की तरह ही प्रतीयमान है । यह प्रतीक भी कवि के अवचेतन-स्थित अनुभूति का प्रतीक है ।

यह सिद्धान्त अन्यत्र भी उतना ही संगत है । पिछले पृष्ठों में जिन कविता प्रसंगों का विश्लेषण किया गया उन सब में आवेग मूल भावना `काम` जन्य था । प्रेरक आवेग किसी प्रकार का हो सकता है, इसी प्रकार नियंत्रण के भी अन्य रूप हो सकते हैं । एक उदाहरण प्रसाद की कामायनी के श्रद्धा सर्ग से लें --

८.१४ कौन तुम संसृति-जलनिधि तीर,
तरंगों से फेंकी मणि एक
कर रहे निर्जन का चुपचाप
प्रभा की धारा से अभिषेक

उपर्युक्त कविता का शिल्प भी आवेग और नियंत्रण के द्वन्द्व का परिणाम है। श्रद्धा - प्रलय के पश्चात् - यह मान कर कि सब कुछ नष्ट होगया है फिर भी आशा की एक किरण हृदय में संजोए कि जैसे वह बच गई है, संभव है कोई और भी बचा हो, एकाकी घूमती फिरती है। और आगे बढ़कर जब सागर तट पर पहुंचती है तो एक स्थान पर बलि अन्न देखती है, सोचती है शायद कोई हो, उसे एक पुरुष दिखाई पड़ता है जिसका मुख सागर की ओर था तथा पीठ श्रद्धा की ओर। अकस्मात् दिखलाई पड़े इस स्वेतर मानव को देखकर आशा, उल्लास और जिज्ञासा का भाव श्रद्धा के मानस में उद्वेलित होने लगता है - वह एकाएक पूछ बैठना चाहती है, किन्तु वह मनु की संतान है, गंधर्व देश की कन्या है, संस्कार संपन्ना है - नारी सुलभ लज्जा से युक्त है। यह संस्कार-संपन्नता, लज्जा आदि यहाँ जिज्ञासा और उल्लास के आवेग का नियंत्रण करते हैं, परिणामत: अभिव्यक्ति प्रतीक मयी हो जाती है। अन्यथा बलि अन्न को देखकर जाग्रत हुई आशा के अनुरूप पुरुष को देखकर जो अचिंतित आवेग जागा होगा वह सपाट रूप में व्यक्त होना चाहिए था। इतना अलंकारपूर्ण, गंभीर कथन सोच-समझकर कहा हुआ है - यह भावावेग पूर्ण कथन नहीं, नियंत्रित उक्ति है। इसमें वातावरण की निर्जनता, मनु के पुरुषोचित दीप्त सौन्दर्य और उस सौन्दर्य का परिवेश पर प्रभाव, सब कुछ कह दिया गया है। अत: काव्य शिल्प युक्त यह उक्ति आवेग और नियंत्रण का ही परिणाम है।

नियंत्रण की एक और स्थिति का परीक्षण भी यहाँ प्रासंगिक है।

कवि अपने आवेग को प्रकट करना चाहता है, परन्तु उसे संतोष नहीं होता, तब वह प्रतीक आदि का आश्रय लेता है, इस स्थिति में यह असंतोष ही सपाट बयानी का नियंत्रण करता है। यदि अनुभूति सरल

और अविरुद्ध है तो वह कविता के लिए प्रेरणा भी न दे सकेगी। ऊर्जा जैसे दबाव पाकर शक्तिशाली हो जाती है वैसे ही आवेग की ऊर्जा भी नियंत्रण के दबाव से फूट पड़ने को मचल उठती है।[१] परन्तु आवेग का मात्र प्रकटीकरण अभिव्यक्ति (   ) नहीं है। यदि कोई व्यक्ति अपने आवेग को प्रकट कर रहा है तो जान डेवी (   ) के शब्दों में 'वह अपने आवेश (   ) को व्यक्त कर रहा है'[२] और इस प्रकार आदिम अथवा आभ्यासिक आवेश को प्रकट करना अभिव्यक्ति नहीं है। कला की मूल्यवत्ता इस प्रकार के प्रकटीकरण में संभव नहीं है? वह तो आवेग के मार्ग में बाधा उत्पन्न करने वाले - पर्यावरण - जन्य प्रतिरोध से ही उत्पन्न होती है।[३] जान डेवी ने इस प्रक्रिया को स्पष्ट किया है। अभिव्यक्ति के लिए भावावेग का प्रवाह अन्त: से बहिर्मुखी होना आवश्यक है। तदनन्तर भावनाओं के ऊर्ध्वगामी प्रबल स्रोत को पूर्वानुभूत अनुभवों की मूल्यवत्ता से क्रमबद्ध तथा बोधगम्य बनाना होता है। यह चेतन मानस की प्रक्रिया है।[४] प्रतिरोध का महत्व एक दृष्टि से और भी है। इसके अभाव में 'अहं' को अपने अस्तित्व का बोध ही नहीं होगा। अत: यही वह शक्ति है जो व्यक्ति को उसके अस्तित्व से परिचित कराती है। यही वह कारण है जिससे अभिव्यक्ति ठोस रूप में रूपायित होती है - आकृति ग्रहण करती है। इस प्रकार अपने आवेग को अभिव्यक्ति देकर कलाकार नियंत्रणात्मक शक्ति को निरस्त करता है। इस अभिव्यक्ति द्वारा

---

१. 'Unless There is compression nothing is expressed. - Art as an experience, John Deway p.66

२. "He is only giving way to a fit of Passion", Ibid 61

३. Art as an Experience, John Deway p.61

४. Ibid

५. Arts and Society, Herbert Read, p. 85.

वह सहृदय के अचेतन आनंद स्त्रोतों को उन्मुक्त कर देता है - उन्हें संतोष और आनंद प्रदान करता है । सहृदय इस आनंदानुभव से कृतज्ञ होकर कवि की प्रशंसा करता है, उसे यश देता है । संभवत: इसी अर्थ में संस्कृत काव्यशास्त्र में काव्यप्रयोजनों के अंतर्गत `काव्यं यशसे` कहकर `यश` को एक प्रयोजन माना है । कवि अपने भावावेश को ऐसा रूपाकार देता है कि उनका वैयक्तिक दंश आवृत हो जाता है ।

८.१५ इसीलिए कहा गया है कि पारिवेशिक सत्ताजन्य नियन्त्रण आवेग को कलात्मक रूप देता है । इससे यह निष्कर्ष भी नि:सृत होता है कि कला--प्रत्येक दशा में सामाजिक तत्त्व है ।

स्वभावत: विद्रोही होते हुए भी कवि गौण वृत्ति की पूर्ण उपेक्षा नहीं कर सकता, इसलिए वह अपने आवेग और पारिवेशिक सत्ता --जन्य नियन्त्रण में समन्वय का प्रयत्न करता है । `समन्वय के प्रयत्न` में ही काव्य दृष्टि ([illegible]) विकसित होता है । और कवि अपने कथ्य को प्रत्यक्ष न कहकर संकेतित ([illegible]) करता है । जब गिन्सबर्ग की प्रेरणा से उत्तेजित समीरराय चौधरी `कौलेप्सिबल जांघों पर गुलाब` की बात कहते हैं तो उघड़ने का दावा करते हुए भी, प्रतीक का ही आश्रय लेते हैं । अत: काव्यदृष्टि कवि की भावना को व्यंग्यत्व की ओर अनुप्रेरित करती है । इसी अभिप्राय से जान कैबल ([illegible]) ने कविता को शब्दों के माध्यम से परोक्ष अभिव्यक्ति कहा है । अत: कविता में आवेग की सीधी (direct) अभिव्यक्ति नहीं हो सकती । व्यंग्य होना ही काव्य की नियति है । कथ्य व्यंग्य बनकर पूर्णतया व्यक्त हो सके, इसी में काव्यदृष्टि की सफलता है।[१] `पो` (Poe) भी वाच्यार्थ की बाह्य पारदर्शी

---

१. "Similarly in Poetry a direct expression is improper or impossible; a vailed or poetical one is recourse. The motive impulse in poetry is supplied by the poetic desires. But these can not give themselves free expression. They are met by the repressive forces of authority regard for appearance, convention ....

धारा में निहित व्यंग्यार्थ में ही काव्य का सौन्दर्य प्रतिपादित करता है।[१] अर्थस्थितियों के अनेक भेद दिखलाकर एम्पसन (   ) भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। एवर क्रोम्बी की वैचारिक परिणति भी इसी धारणा का प्रतिपादन हैं। 'कथ्य' को 'व्यंग्यत्व' प्रदान कर एक ओर कवि अपने व्यक्ति को संतोष देता है, दूसरी ओर सामाजिक अपेक्षाओं को भी पूर्ण करता है। कथ्याभिव्यक्ति की यह प्रक्रिया उसके 'अहं' की सन्तुष्टि का आनन्द देती है। यदि भावक की दृष्टि से विचार करें तो भी यह सिद्ध होगा कि कवि की व्यंग्यपरक कृति को ग्रहण कर, वाच्यार्थ के माध्यम से, मूल आवेग की निहिति जिसमें हैं, उस व्यंग्यार्थ तक पहुँचकर भावक की बुद्धि को तोष होता है।

८.१६ ग० मा० मुक्तिबोध[२] ने कवि की दृष्टि से कला की रचना प्रक्रिया के तीन क्षण माने हैं। कला के प्रथम क्षण में जीवन का उत्कृष्ट तीव्र अनुभव निहित होता है -- इसे अनुभव क्षण कहा जा सकता है। द्वितीय क्षण में यह अनुभव अपने कसकते-दुखते मूल से पृथक होता है और एक ऐसी फैण्टेसी का रूप धारण कर लेता है मानों वह फैण्टेसी आँखों के सामने खड़ी है, तृतीय और अंतिम क्षण है इस फैण्टेसी के शब्दबद्ध होने की प्रक्रिया का आरंभ और उस प्रक्रिया की पूर्णावस्था तक की गतिमानता। इस गतिमानता में फैण्टेसी अनवरत रूप में विकसित परिवर्तित होती हुई आगे बढ़ती जाती है।

---

morality which conflict with and control them. The result is an indirect or veiled expression, which we call poetry. "The poetic mind, p.241."

१. in which there lies beneath the transparent upper current of meaning an under or suggestive one. The Poetic mind Page 244.

२. एक साहित्यिक की डायरी, ग०मा० मुक्तिबोध, पृ १६

फैण्टेसी के शब्दबद्ध होने की प्रक्रिया में मूलरूप में जो विकास होता है, वही कलासृजन का तृतीय क्षण है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि कला सृजन के द्वितीय क्षण में ही कवि की अनुभूति व्यंग्य बनने लगती है, क्योंकि ज्योंही अनुभूति फैन्टेसी का रूप ग्रहण करती है, वह भोक्ता कवि से पृथक् हो जाती है और कवि उसका स्वतंत्र द्रष्टा हो जाता है। प्रतीक, बिम्ब आदि का संयोजन इसी स्थिति में होता है। इस फैण्टेसी को शब्द देने की प्रक्रिया में कविता मूर्त होती है। कला रचना के इस द्वितीय क्षण का विश्लेषण यह सिद्ध करता है कि यह प्रक्रिया चेतन मानस की है इसमें समय की अपेक्षा है। कला तात्कालिक सृजन नहीं है।[१] इससे यह भी सिद्ध होता है कि कविता-कला का सौन्दर्य व्यंग्यत्व जन्य ही होता है, वाच्यत्व में नहीं।

अत: कवि यदि अपने परिवेशजन्य अनुस्थितियों में स्थित है, उनसे कटा नहीं है, कटने का आकांक्षी भी नहीं है और उसने आवेग के उच्छलन और परिवेशजन्य नियंत्रण को झेला है, अभिव्यक्ति की छटपटाहट को अनुभव किया है तो वह अपनी अनुभूति को व्यंग्य रूप में ही प्रस्तुत करेगा।

आनंदवर्धन ने अब से ग्यारह सौ वर्ष पूर्व कविता के इस चिन्तन का उद्घाटन किया था। शब्द और अर्थ की समन्वित का प्रतिपादन भामह भी कर चुके थे। 'रीति' को काव्य की आत्मा कहकर वामन ने विस्तार-पूर्वक दस शब्द गुण और दस अर्थगुणों का व्याख्यान किया, यद्यपि वामनकृत यह आख्यान भौतिक शरीर को आत्मा कहने के समान था। भरत का रस संदर्भीय सूत्र भी विद्यमान था। इस पूर्वप्राप्त के परिवेश में आनंदवर्धन का यह सिद्धान्त सृजन की रचना-प्रक्रिया से संबद्ध है। कविता का प्रथम भौतिक आधार शब्द और अर्थ है। ध्वनिसिद्धान्त में शब्द और अर्थ

---

१. Art as an experience , John,Dewey p. 65.

विषयक समस्याओं के सभी आयामों का तर्कसम्मत विवेचन है। जैसा कि कहा जा चुका है, रचना प्रक्रिया में ही कवि की अनुभूति व्यंग्य बनने लगती है, अत: कविता में वाच्यरूप में उपस्थित अर्थ कवि की अनुभूति को प्रकट नहीं करता। इसलिए कविता की प्रेरक अनुभूति तक पहुंचने के लिए वाच्यार्थ के द्वारा निहित व्यंग्यार्थ तक पहुंचना होगा। इसका तात्पर्य यह हुआ कि कवि की सृजन सामर्थ्य इतनी प्रबल होनी चाहिए कि वह अपनी अनुभूति को व्यंग्यत्व की पूर्णता तक पहुंचा सके। इसके लिए उसे शब्द चयन में इतना सायास होना चाहिए कि प्रयुक्त शब्द और वाच्यार्थ व्यंग्यनिष्ठ हों। इसी समस्या के समाधान हेतु आनंदवर्धन ने कहा कि महाकवि को उस अर्थ (जिसमें अनुभूति साकार होती है, और जो व्यंग्य ही होता है।) और उस अर्थ को व्यक्त करने वाले शब्द को पहचानने का प्रयत्न करना चाहिए। क्योंकि शब्द मात्र उस अर्थ की अभिव्यक्ति में समर्थ नहीं होता।[१] कविता के मर्म तक प्रत्येक व्यक्ति नहीं पहुंच पाता। शब्द, कोषगत अर्थ और वाच्य रचना के व्याकरणिक नियम भले ही सब जान लें, परन्तु व्यंग्यार्थ तक पहुंचने के लिए जिस सहृदयत्व की आवश्यकता है, वह सबके पास नहीं होता। नए कवियों ने बार-बार यह घोषणा की है कि उनकी कविता विशिष्ट पाठकों के लिए है। सच तो यह है कि कविता अभिव्यक्ति की ऐसी विधा है जो विशिष्ट जनों के लिए ही है। कविता जनसामान्य के लिए कभी नहीं रही। भारतीय काव्य शास्त्र की परम्परा ने सदैव सहृदय का विधान किया है, वही व्यक्ति काव्य के मर्म को जान सकता है जो काव्यार्थतत्त्व को जानता है।[२] जिसके पास

---

१. सोऽर्थस्तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन।
यत्नत: प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवे:।। ध्व० पृ० उ० पृ ४७

२. शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते।
वेद्यते स तु काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव केवलम्।। ध्व० प्र० उ० पृ ४६

कविता को समझने में सहायक सहृदयत्व के संस्कार हैं।

भारतीय विचार परम्परा भौतिक शरीर के साथ आत्मा को महत्व देती है। अपनी अभिव्यक्ति के लिये शरीर पर निर्भर रहते हुये भी, आत्मा का प्राधान्य निर्विवाद है। अभी हम जिस काव्य रचना प्रक्रिया का विवेचन कर आए हैं, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि की अनुभूति, कविता में व्यंग्य रूप में निहित होती है। शब्द और वाच्यार्थ उसे व्यक्त करने के साधन हैं। जैसे आत्मा को व्यक्त करने का साधन शरीर है उसी प्रकार व्यंग्यार्थ के सन्दर्भ में, शब्द और वाच्यार्थ, दोनों ही शरीर धर्म का पालन करते हैं। स्पष्ट है कि इस स्थिति में व्यंग्यार्थ का ही प्राधान्य होगा। इसी सन्दर्भ में आनंदवर्धन ने प्रतीयमान अर्थ अथवा व्यंग्यार्थ को काव्य की आत्मा कहा है, वही प्रतिपाद्य भी है। यही कारण है कि शब्द और वाच्यार्थ का प्रतीयमान अर्थ के प्रति 'तत्परत्व' भाव प्रतिपादित किया गया है।[1]

शब्द और वाच्यार्थ के व्यंग्यनिष्ठ होने पर ही कविता, रचना प्रक्रिया की दृष्टि से पूर्ण कही जाएगी और ऐसी ही कविता को आनन्दवर्धन श्रेष्ठ काव्य प्रतिपादित करते हैं।[2] उत्तम काव्य ही ध्वनि काव्य भी है, आनन्दवर्धन ने 'ध्वनि' पद का प्रयोग विशेष मन्तव्य से किया है। काव्य, जिसमें शब्द और अर्थ व्यंग्यनिष्ठ भाव से स्थित हों, व्यंग्यार्थ की प्रधान सत्ता के कारण प्राणवान भी होगा और ध्वनि तो प्राणवत्ता का प्रमाण है। इसी लिये आचार्य ने

---

१ तत्परा वेव शब्दार्थौ यत्र व्यंग्यं प्रति स्थितौ प्र० उ० पृ ७१

२. यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यंक्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः।।
ध्वन्या० प्र० उ० पृ ६१

'ध्वनि' पद का प्रयोग किया है। निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि शक्त एवं प्राणवान काव्य वही होगा जिसमें कवि की अनुभूति व्यंग्य रूप में स्थित है। इसलिए जब आनन्दवर्धन 'काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति' कहते हैं तो कविता की प्रभावी सामर्थ्य एवं सप्राणता पर बल देते हैं। कविता की आत्मा स्वरूप यह अर्थ काव्यतत्व को समझ सकने में समर्थ व्यक्तियों को तुरन्त अवभासित हो जाता।[1]

ध्वनिसिद्धान्त अपने समय का विवादास्पद सिद्धान्त रहा है। आनन्दवर्धन ने अपने पूर्व सभी सिद्धान्तों काव्य के अर्थ से जोड़कर ध्वनिसिद्धान्त में समाहित कर दिया था। आनन्दवर्धन की क्रांतिकारी स्थापना थी वस्तु और अलंकार रूप अर्थों की भी प्रतीयमानता। सायास 'शब्दयोग की साधना' पर बल देकर आनन्दवर्धन कविता की रचना-प्रक्रिया में बुद्धितत्व का महत्व स्थापित करते हैं और वस्तु की प्रतीयमानता सिद्ध करते हुए कविता के भावन में बुद्धि की अनिवार्यता स्वीकार करते हैं। वाच्यार्थ से भिन्न व्यंग्यार्थ रूप वस्तु तक पहुंचने का क्रम अलौकिक आनंद-अनुभूति का मार्ग नहीं वरन् बुद्धि और तर्क का मार्ग है। वस्तुत: मुक्तक कविता में अर्थ प्रतीति की यही तर्कसंगत व्याख्या है।

कतिपय ऐसी भी रचनाएं होती है। जिनमें वाच्यार्थ प्रतीति के साथ ही कोई भाव तत्काल ही भासित हो उठता है, पर यह स्थिति कविता के लिए अनिवार्य नहीं है। इसलिए आनन्दवर्धन ने रसको भी व्यंग्य माना है, मात्र रस को ही नहीं। अत: यह आरोप लगाकर कि भारतीय काव्यशास्त्रपरम्परा रसवादी है और नयी कविता का रस से कोई संबंध नहीं इसलिए पारम्परिक काव्यशास्त्र को अग्राह्य कहना, अपने अज्ञान को प्रकट करना है --आनन्दवर्धन तो

---

१. बुद्धौ तत्त्वार्थदर्शिन्यां झटित्येवावभासते, ध्व० प्र० उ० पृ ५३

रचना प्रक्रिया, और काव्य शिल्प की दृष्टि से कथ्य की व्यंग्यता पर बल देते हैं। उनके वस्तु व्यंग्य में तो जगत के सभी तथ्य-कथ्य आ जाते हैं, लघु से लघु और महान् भी।

आनन्दवर्धन ने गुणीभूत व्यंग्य काव्य वहाँ माना है जहाँ प्रतीयमान अर्थ की प्रधानता न हो। इस स्थिति का रचना प्रक्रिया की दृष्टि से विश्लेषण करें तो ज्ञात होगा कि यह अपूर्ण अथवा त्रुटिपूर्ण रचना स्थिति है। इससे कवि की अक्षमता प्रकट होती है। यह स्थिति अनेक प्रकार से हो सकती है। व्यंग्यार्थ भी वाच्यार्थ का ही उपकारक बन जाए, अथवा व्यंग्यार्थ इतना गूढ़ हो कि सहृदयों के लिए भी अगम्य हो अथवा व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ जितना ही स्पष्ट हो तो उसका वैशिष्ट्य ही समाप्त हो जाएगा। व्यंग्य का संस्पर्श होने से इस प्रकार की रचना भी कविता तो है ही। गुणीभूत व्यंग्य रचना, जैसा कि हम कह चुके हैं कवि की अक्षमता की द्योतक है। क्योंकि कोई कवि यह नहीं चाहेगा कि उसकी मूल अनुभूति की अपेक्षा वाच्यरूप से उपस्थित अर्थ प्रधानतया प्रतीत हो। यह तभी होगा जब कवि अपनी फैण्टेसी को उपयुक्त शब्द देने में असमर्थ हुआ हो, या फिर कल्पना शक्ति में सामर्थ्य न होने से फैण्टेसी ही पूर्ण न बनी हो।

किन्तु कभी-कभी एक भाव दूसरे का अंग बन जाता है -- ऐसी स्थिति सर्वदा दोषपूर्ण नहीं होती। शिल्प के रूप में भी इस प्रकार के प्रयोग किए जाते हैं। वहाँ वस्तुतः एक भाव प्रधान होता है-- उस भावजन्य अनुभूति से उत्पन्न फैण्टेसी के रूप में द्वितीय भाव उभरता है, किन्तु उस मूल भाव का ही पोषण करता है। आचार्य मम्मट ने इस स्थिति का एक अच्छा उदाहरण दिया है। भाव है --

'चतुर्दिक ऊँचे-ऊँचे पर्वत और विस्तीर्ण सागर दृष्टिगोचर होते हैं, पृथ्वी इन्हें धारण करती हुई भी तुम विचलित नहीं होती, तुमको मेरा प्रणाम है। इस प्रकार जब मैं पृथ्वी की आश्चर्याभिभूत

होकर वन्दना कर रहा था कि हे राजा । इस पृथ्वी को भी अविचलित रूप से धारणकरने वाली तुम्हारी भुजा मुझे स्मरण हो आई और मेरी वाणी मुद्रित हो गई ।[1]

निश्चित रूप से यह कहा जा सकता है कि राजा के प्रति श्रद्धा भाव जन्य अनुभूति को कवि के फैण्टेसी का रूप देकर व्यक्त किया है । अत: यह कोई त्रुटि नहीं है । यह शिल्प का एक प्रकार है । परन्तु जहां कवि कुछ कहना चाहे और उसमें असमर्थ हो ? वाचक अर्थ निर्णय ही न कर पाए, यह स्थिति काव्य दृष्टि की असफलता की सूचक है । यदि वाच्यार्थ ही प्रमुख लगे तो इसका तात्पर्य यह होगा कि फैण्टेसी को उपयुक्त शब्द ही न मिले । इसीलिए आनन्दवर्धन ने प्रयत्न पूर्वक शब्द प्रयोग का निर्देश किया है ।

जिसमें व्यंग्य का स्पर्श भी न हो उसे ध्वन्यालोककार ने चित्र काव्य कहा है । स्वनिमों (Phoneme) के वैचित्र्य पूर्ण प्रयोग से रचा हुआ काव्य । क्योंकि इसमें काव्य का आत्मतत्व स्वरूप प्रतीयमान अर्थ होता ही नहीं अत: यह प्राणवान प्राणी के समान नहीं उसके निर्जीव चित्रवत् होता है । व्यंग्य प्राधान्य काव्य प्राणवान, सजीव कविता है, उससे रहित काव्य कविता नहीं, उसका निर्जीव चित्र है । इसमें व्यंग्यार्थ विशेष प्रकाशन की शक्ति नहीं होती यह वाचक-वाच्य के वैचित्र्य के आधार पर निर्मित होता है । लिखने के लिए लिखी गई अनुभूति और उसके आवेग से शून्य कविताएं इसी कोटि की होगी । पाठक पर इनका प्रभाव भी नहीं पड़ेगा । इस प्रकार की रचना करने वाला कवि काव्य की रचना प्रक्रिया से ही अपरिचित होगा, वह

---

१ अत्युच्चा: परित: स्फुरन्ति गिरय: स्फारास्तथाम्भोधय:
तानेतानपि बिभ्रती किमपि न क्लान्तासि तुभ्यं नम: ।
आश्चर्येण मुहुर्मुहु: स्तुतिमिति प्रस्तौमि यावद् भुव:
तावद्बिभ्रदिमां स्मृतस्तव भुजो वाचस्ततो मुद्रिता: ।।
काव्य० ५ उ० पृ २०१

सुनी हुई अथवा बलात् ओढ़ी हुई पराई अनुभूति के अनुकरण में निर्जीव शब्द जाल रचेगा। प्रयोगवादियों और अकविता लिखने वालों ने भाषा के शब्दों के असामर्थ्य की बात अनेक बार दुहराई है। शब्दों में नए अर्थ भरने का दंभ प्रकट किया है। निस्सदेह, शब्दों को नए संदर्भ में प्रयुक्त किया जा सकता है और तब व्यंजना के चमत्कार से शब्द नूतन चमत्कार पूर्ण अर्थ की अभिव्यक्ति दे सकता है, परन्तु शब्दों में नया अर्थ नहीं भरा जा सकता। आनंदवर्धन ने इस समस्या पर विचार किया है। कोई कवि नया शब्द गढ़ सकता है, किन्तु, तब उसे बतलाना होगा कि शब्द किस अर्थ का वाचक है। प्रसिद्ध वाच्यार्थ)वाला शब्द संदर्भ विशेष में, व्यंजना के आश्रय से नूतन अर्थ ध्वनित करेगा। किन्तु उस संदर्भ से हट जाने पर वह रूढ़ अभिधार्थ का ही वाचक रहेगा।

आनंदवर्धन ने कवि की पूर्ण अभिव्यक्ति की आकांक्षा जनित पीड़ा को समझा था, इसी से उन्होंने कहा है, कवि व्यंजना का मार्ग ग्रहण कर नवत्व को प्राप्त कर सकता है।[१] कवि की प्रतिभा, कल्पना-शक्ति का ही एक रूप है, यही अनुभूति के समतुल्य फैण्टेसी रचती है। फैण्टेसी जितनी स्पष्ट होगी, काव्य उतना ही शक्त होगा। व्यंजना के आश्रय से कवि की कल्पना शक्ति भी उन्मेष प्राप्त करती है।

व्यंजना का आश्रय लेकर कवि की वाणी प्राचीन अर्थों से युक्त होने पर भी नवत्व को प्राप्त करती है।[२] परिमित काव्य-मार्ग भी अनन्त हो जाता है।[३] शुद्ध वाच्य अर्थ भी अवस्थादेशकालादि के वैशिष्ट्य से, स्वभावत: अनंत हो जाता है।[४] पौराणिक कथाओं का नए

---

१. `अतोनानन्त्यमायाति कवीनां प्रतिभागुण:` ध्व० च० उ०, पृ ४५४
२. `वाणी नवत्वमायाति पूर्वार्थान्वयवत्यपि` ,, ४५५
३. `मितोऽप्यनन्ततां प्राप्त: काव्यमार्गो यदाश्रयात् ,, ४५६
४. `आनन्त्यमेव वाच्यस्य शुद्धस्यापि स्वभावत: ,, ४७४

कवियों ने इस प्रकार प्रयोग किया ही है और आनन्दवर्धन को बिना पढ़े ही किया है। वस्तुत: यह काव्य का शाश्वत मार्ग है -- इसमें प्राचीनता नवीनता का प्रश्न नहीं उठता।

ध्वन्यालोककार अपने समय का निश्चित ही प्रगतिशील विचारक रहा होगा। वह परम्परा मुक्तता में विश्वास नहीं करता, कहता है[1]--

'जिस वस्तु के विषय में सहृदयों को ऐसा प्रतीत हो कि वह वस्तु नई लगती है, यह उचित नई सूफ है--वह वस्तु नई या पुरानी जो भी हो रम्य है।'

इस मान्यता को प्रश्रय देने वाले ध्वनिसिद्धान्त को परम्परावादी कौन कह सकता है ? कविता को प्रेरणा देने वाली अनुभूति का आधार जगत की कोई भी वस्तु बन सकती है। नई कविता में सामान्य के प्रति, लघु के प्रति रुचि जागी है--वह अनुचित नहीं है। नित्य दृष्टि में आने वाली सामान्य और घृणित से घृणित वस्तु के सम्बन्ध में यदि कवि की कोई अनुभूति है और उसे वे इस रूप में प्रस्तुत कर सकें कि नूतन लगे, तो वह भी रम्य है। किन्तु कविता घृणा उत्पन्न कर वमन कराने का साधन नहीं हो सकती--इस स्थिति को कोई भी सविवेक व्यक्ति कविता न कह सकेगा।

कवि, स्वभावत: विद्रोही होने के कारण, लीकों को तोड़ता है, किसी अंश तक समफौता करता है। नई कविता में दो स्थितियाँ स्पष्ट दिखलाई पड़ती थीं। ऐसे कवि थे जिन्होंने आवेग फेला था, नियन्त्रण सहा था, अभिव्यक्ति की छटपटाहट जिनमें शिल्प बनकर उभरी थी। और ऐसे भी थे जिन्होंने सब कुछ अस्वीकारने का मार्ग चुना था। इनमें भी दो कोटियाँ थीं। एक वे जिनमें काव्योक्ति

---

१ यदपि तदपि रम्यं यत्र लोकस्य किंचित्,
स्फुरितमिदमितार्य बुद्धिरभ्युज्जिहीते ।।

ध्व० च० उ० पृ० ५८८

आवेग तो था पर जो किसी भी नियन्त्रण को स्वीकार नहीं करते थे । आवेग की तीव्रता के कारण ये जैसे-तैसे उसे कह जाते थे । आवेग की तीव्रता ही इसमें प्रभावी तत्त्व होता था । दूसरे वे थे जिनका दर्द ओढ़ा हुआ था जो अनुकरण पर जी रहे थे, न इनके पास आवेगजन्य अनुभूति थी और न कविता का शिल्प । चौंकाने वाले, कुरुचिपूर्ण कथनों को ये तथाकथित कवि जस्टीफाई करते रहे । अकविता के हामियों ने कहा, `अकविता नंगी है,` उसे कोई संकोच नहीं है,` सेक्स उसके लिए आश्चर्य की, डर की चीज नहीं है । वस्तुत: यह नयी पीढ़ी की, कुछ भी न कर - सब अस्वीकार करने का नाटक कर--अपना अस्तित्व स्वीकृत कराने की विधि भी है । इस विधि की भी परम्परा रही है ।

ध्वनि सिद्धान्त (व्यंजना) ने कविता के सभी संभव प्रकारों को समेटा है । इसका तात्पर्य यह है कि यह प्रवृत्ति जो नई कही जा रही है आज की ही नहीं है, आनन्दवर्धन के समय में भी रही होगी तभी न आचार्य ने इसे भी परिगणित किया है ।

अत: जहां तक शाश्वत काव्यतत्त्व चिन्तन का प्रश्न है, वह नया-पुराना नहीं होता । आनन्दवर्धन का ध्वनिसिद्धान्त काव्यतत्त्व चिन्तन की दृष्टि से आज भी महत्त्वपूर्ण है ।

...

अ ध्या य - ६

प्रतीक, बिम्ब और मिथ का व्यंजकत्व

६.१ प्रतीक और अर्थव्यंजना

प्रतीक-प्रयोग की प्रेरणा दो वस्तुओं में साम्य की अनुभूति में निहित है। यदि दो वस्तुएं इतनी समान प्रतीत होती हैं कि प्रत्येक दृष्टि से एक दूसरी के समतुल्य लगे तो एक को दूसरी का स्थानापन्न कर दिया जाता है। यदि क और ख, दो वस्तुओं में सादृश्य है तो 'क', 'ख' का अथवा 'ख', 'क' का प्रतीक बन सकती है। इस प्रकार साम्य रखने वाली वस्तुओं में से एक अधिक परिचित होगी, दूसरी कम। एक स्थूल हो सकती है, दूसरी सूक्ष्म। ऐसी स्थिति में सुपरिचित वस्तु अल्पपरिचित का और स्थूल वस्तु सूक्ष्म का प्रतीक बनेगी। डब्ल्यू.एम. अरबन ने सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टि से उस वस्तु को प्रतीक माना है जो अपने तात्कालिक अभिप्राय से भिन्न- विषय की दृष्टि से महत्वपूर्ण किसी अन्य अभिप्राय को सुझाती है।[१] प्रतीक-प्रयोग और तज्जनित अर्थभावन में सहृदय की भावनशक्ति का महत्वपूर्ण स्थान है। इसके अतिरिक्त प्रतीक की अर्थ-विवृति में संदर्भ-विमर्श भी अनिवार्य है।[२] प्रतीक के संबंध में

---

१. लैंग्वेज अण्ड रिअलिटी, पृ ४६६

२. द मीनिंग आव मीनिंग, पृ २०६, सी.के.आगडेन तथा आई.ए.रिचर्ड

लैंगर का कथन सत्य है कि प्रतीक जिस वस्तु का प्रतीक है, उस वस्तु को नहीं, उसके भाव को, धारणा को व्यक्त करता है ।[1]

कविता में प्रतीक - प्रयोग की परंपरा संभवत: स्वयं कविता जितनी ही प्राचीन है । कविता शब्दार्थमय है अत: शब्द और अर्थ के समुच्चय स्वरूप भाषा से प्रतीक का संबंध-अवधारण उचित होगा ।

`क` और `ख` दो वस्तुएं हैं, दोनों में सादृश्य है, तब ये दोनों ही एक दूसरे की प्रतीक बन सकती हैं । यदि दोनों वस्तुओं के भाषा में `क` और `ख` नाम भी हैं तो `क` के स्थान पर उसके प्रतीक `ख` के नाम ख का प्रयोग भी किया जा सकता है । इसका तात्पर्य यह है कि वस्तुओं की भांति उनके नाम भी परस्पर परिवर्तनीय हैं । इस प्रकार के प्रयोग, जब नाम स्वयं से वाच्य वस्तु की अपेक्षा अन्य वस्तु को अथवा उसके भाव को व्यक्त करें, प्रतीक प्रयोग कहलाते हैं । बहुधा ऐसा भी संभव है कि साम्य रखने वाली दो वस्तुओं में से एक के लिए भाषा में कोई वाचक शब्द नहीं होता तब यह वस्तु आलंकारिक विधि अथवा लाक्षणिक प्रयोग से जानी जाती है । नई वस्तु के लिए नया शब्द गढ़ने की अपेक्षा मानव-प्रकृति के यह अधिक अनुकूल है कि वह पुराने शब्द के अर्थ में प्रतीकात्मक अर्थविस्तार करले । निश्चय ही, इस प्रक्रिया से भाषा की अभिव्यक्ति-क्षमता में वृद्धि होती है । कवि का संसार इस स्थूल-भौतिक जग से अधिक व्यापक है, वह अनेक ऐसे विचारों से, घटनाओं से, ऐसे सत्य से साक्षात्कार करता है जिनके लिए भाषा में सम्यक् शब्द नहीं होते, परिणामत: उसे प्रतीकात्मक प्रयोगों का आश्रय ग्रहण करना पड़ता है । इस प्रकार कवि अन्यथा-असंप्रेषित विचारों को भी अभिव्यक्ति देता है । इसी अर्थ में कवि भाषा का निर्माता कहा जाता है ।[2]

---

१. सौन्दर्यशास्त्र के तत्व पृ २३७

२. द पोएटिक माइन्ड। प्रेस्काट, पृ २२५

प्रतीक - प्रयोग में दो वस्तुएं सादृश्य के कारण एक-दूसरे के निकट रख दी गई हों, ऐसा नहीं है। कवि की कल्पना दृष्टि दो सदृश वस्तुओं को परस्पर निकट नहीं रखती, वह दोनों का समेकन करती है। यदि दो सदृश वस्तुएं -- `अ` और `ब` हैं तो कल्पना द्वारा रचित वस्तु `अ ब` द्वारा व्यक्त की जा सकती है। `अ` और `ब` के कतिपय गुण प्रच्छन्न हो जाते हैं, अतः नूतन यौगिक - अ ब की अपेक्षा (अ - स) (ब - द) होता है, स `अ` का दमित अंश है और द `ब` का दमित अंश। नई वस्तु को `अ` अथवा `ब` नाम से अथवा दोनों के संयुक्त नाम से भी पुकारा जा सकता है। इस दृष्टि से प्रतीक दो वस्तुओं का परस्पर सम्प्रेषण भी कहा जा सकता है।

६.२ प्रतीक-अर्थ-प्रतीति के हेतु

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि काव्य में प्रयुक्त शब्द-प्रतीक दो अर्थों को सन्निहित रखता है। जिस वस्तु का वह प्रतीक है, उसके अर्थ को और स्वयं के वाच्यार्थ को। दो अर्थों की इस प्रवृत्ति के कारण विद्वानों ने प्रतीक को लाक्षणिक प्रयोग तथा अर्थ प्रतीति में शुद्धा साध्यवसाना या गौणी साध्यवसाना लक्षणा मानी है।

साध्यवसाना लक्षणा वहां होती है जहां उपमान के द्वारा उपमेय का अंतर्भाव कर लिया जाता है --

`विषय्यन्तः कृते अन्यस्मिन् सा स्यात् साध्यवसानिका।`
इसका उदाहरण `गौरयम्` दिया गया है। इसमें उपमेय वाहीक का शब्दशः कथन नहीं है, वह `गौ` के द्वारा निगीर्ण हो गया है। इस प्रतीति में - कुछ बातें ध्यान देने की हैं -- (१) यह (गौरयम्) प्रत्यक्ष कथन होगा, अर्थात् जब सामने वाहीक होगा तभी वक्ता,

`यह बैल है`, कहेगा, उसके अभाव में `यह बैल है` कहा ही नहीं जा सकता । वाहीक की अनुपस्थिति में तो `वाहीक बैल होता है` कहना पड़ेगा । वाहीक की उपस्थिति में वाक्य के कहे जाने पर `अयम्` उसका वाचक हो गया, तब बैल, अयम् का प्रतीक नहीं हो सकता । प्रतीक-प्रयोग में तो प्रतीक का ही प्रयोग होता है । अथवा कविता के एकाध ऐसे उदाहरण भी देखने में आते हैं जिनमें स्पष्टत: यह कहा गया है कि अमुक, अमुक का प्रतीक है ।

शुद्धा साध्यवसाना लक्षणा वहां होती है जहां उपमेय और उपमान में सादृश्येतर संबंध होता है । परन्तु प्रतीक-योजना में सादृश्येतर संबंध का अवसर नहीं है, वह तो सादृश्य पर ही निर्भर है । अत: शुद्धा साध्यावसाना अथवा गौणी साध्यवसाना लक्षणा के अंतर्गत `प्रतीक` का अन्तर्भाव युक्तिसंगत नहीं है ।

कविता में प्रतीकार्थ तक कैसे पहुंचा जाता है, यह प्रश्न विचारणीय है । पंत की निम्नलिखित पंक्तियों का परीक्षण करें --

उषा का था उर में आवास,
मुकुल का मुख में मृदुल विकास ।
चांदनी का स्वभाव में वास,
विचारों में बच्चों की सांस ।[१]

`उर` में उषा का आवास कैसे संभव है ? अत: वहां वाच्यार्थ अव्युत्पन्न है, तब उषा से संबंधित अर्थ, प्रकाश, प्रसन्नता, औज्ज्वल्य आदि ग्रहण करने होंगे । इस प्रकार उषा प्रकाश, आदि का प्रतीक है, परन्तु इस प्रतीक - प्रयोग का प्रयोजन क्या है ? `उर` की सहृदयता, प्रेरणात्मकता आदि प्रकट करना । प्रयोजनवती लक्षणा में प्रयोजन

---

१ पल्लव, पंत, पृ १६

की प्रतीति में व्यंजना का व्यापार ही रहता है, यह सिद्ध बात है। आचार्य मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' के द्वितीय और पंचम उल्लास में इस संबंध में विस्तार से शास्त्रार्थ दिया है। अत: प्रतीकार्थ तक पहुंचने में एक हेतु मुख्यार्थ का अव्युत्पन्न होना है। इसमें लक्षणा की प्रवृत्ति मानी जा सकती है, परन्तु प्रयोजन की प्रतीति में व्यंजना को हेतु मानना होगा। इस प्रकार प्रयोजन रूप प्रतीकार्थ और प्रतीक में व्यंग्य-व्यंजक भाव संबंध है।

प्रतीक-प्रयोग में वाच्यार्थ सदैव अव्युत्पन्न नहीं होता। निराला की 'कुकुरमुत्ता' कविता की ये पंक्तियां विचारणीय है --

अबे सुन बे गुलाब,
भूल मत पाई गर खुशबू रंगो आब,
खून चूसा खाद का तूने अशिष्ट
डाल पर इतरा रहा कैपिटलिस्ट।[१]

इन पंक्तियों का वाच्यार्थ पूर्णत: निष्पन्न है। परन्तु चतुर्थ पंक्ति में 'कैपिटलिस्ट' पद प्रथम पंक्ति के 'गुलाब' को प्रतीक बना देता है। अब सहृदय इसे दूसरे अर्थ में देखता है। गुलाब - कैपिटलिस्ट, शोषक, निम्नवर्ग के सत्व पर फूलने-फलने वाले व्यक्तियों का प्रतीक है। स्पष्टत: यहां 'संदर्भ' ही प्रतीकार्थ तक पहुंचने का हेतु है। 'गुलाब' के प्रतीकार्थ की प्रतीति यहां व्यंजना-गम्य ही है। क्योंकि कैपिटलिस्ट गुलाब का वाच्यार्थ नहीं है। लक्षणा के हेतु न होने से यहां लक्षणा का अवसर भी नहीं है अत: प्रतीकार्थ की प्रतीति व्यंजना द्वारा ही हो रही है।

काव्य-प्रतीक में कुछ गुण उस वस्तु के होते हैं, जिसका वह वाचक होता है और कुछ गुण उस वस्तु के होते हैं जिसका प्रतीक होता है। अत: प्रतीक, उस वस्तु के भाव को, जिसका वह प्रतीक है, व्यंजित

---

१. कविश्री, निराला

करता है । प्रतीक अपना वाच्यार्थ रखते हुए भी अन्य अर्थ - जिसे प्रतीकार्थ में व्यंग्य-व्यंजक भाव संबंध ही होता है । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने प्रतीक को विशेष प्रकार का उपमान कहा है । शुक्ल जी प्रतीक की विशेषता को तो हृदयंगम कर चुके थे परन्तु संभवत: व्यंजना के प्रति पूर्वाग्रह के कारण वे इसे व्यंजक कहना न चाहते हों ? जो भी हो 'विशेष' स्वयं इस बात की घोषणा करता है कि प्रतीक में सामान्य उपमानोपमेय भाव से अधिक वैशिष्ट्य है । यह वैशिष्ट्य इसके व्यंजकत्व के कारण ही है ।

६.३ प्रतीक अन्योक्ति नहीं है -

काव्य-प्रतीक जिस संरचना में प्रयुक्त होता है, उस संरचना में उसकी स्थिति केन्द्रीय होती है । अन्योक्ति में एक पूर्ण वाच्यार्थ होता है, यह वाच्यार्थ संदर्भ के विमर्श से अन्य अर्थ भी देता है । पर अन्योक्ति कथन की यह विशेषता है कि वाच्यार्थरूप कथन भी उतना ही सुंदर लगता है , यदि किसी को संदर्भ का ज्ञान न हो और वह अन्य अर्थ न भी प्राप्त कर सके, तो भी कथन पूर्ण लगेगा । उसमें अंतर यह होगा कि संदर्भ के ज्ञान से अन्योक्तिरूप कथन के वाच्यार्थ से विशेष व्यंग्यार्थ की प्रतीति होगी और संदर्भ के ज्ञान के अभाव में सामान्य अर्थ की प्रतीति होगी । बिहारी की प्रसिद्ध अन्योक्ति का परीक्षण करें --

स्वारथु सुकृत न श्रम वृथा देख विहंग विचारि ।
बाज पराये पानि परि तू पच्छीन न मारि ।।

(१) यदि श्रोता को राजा, उसके कर्मचारी आदि का संदर्भ ज्ञात नहीं है तो भी वह 'बाज पक्षी' रूप वाच्यार्थ से इस अर्थ तक पहुंच जाएगा कि मनुष्य को व्यर्थ, किसी अन्य के संकेत से, किसी को कष्ट नहीं पहुंचाना चाहिए । यह सामान्य व्यंग्यार्थ होगा ।

(२) यदि राजा जयसिंह और उनके कर्मचारियों का संदर्भ ज्ञात है तो राजा से संबंधित विशेष अर्थ की प्रतीति हो सकेगी । इसका अर्थ यह हुआ कि अन्योक्ति में अर्थ निष्पत्ति के लिए माषेतर संदर्भ - विमर्श की अपेक्षा अनिवार्य है । प्रतीक का संदर्भ उस संरचना में ही होता है ।

अन्योक्ति व्यक्ति विशेष के लिए ही होती है, जब कोई व्यक्ति किसी दूसरे को प्रत्यक्ष न कहकर, व्याज से कहना चाहता है तो वह अन्योक्ति प्रणाली का आश्रय लेता है ।

अन्योक्ति में प्रतीक का प्रयोग किया जा सकता है पर प्रत्येक प्रतीक-प्रयुक्ति अन्योक्ति नहीं होती । अन्योक्ति और प्रतीक प्रयुक्ति के उद्देश्य में स्पष्ट अंतर है । अन्योक्ति की शैली में श्रोता की सन्निधि अपेक्षित है, प्रतीकशैली में यह आवश्यक नहीं है । एक वस्तु भिन्न-भिन्न संदर्भों में प्रयुक्त होकर भिन्न-भिन्न वस्तुओं का प्रतीक बन सकती है, पर अन्योक्ति विशेष संदर्भ में ही सीमित रहती है ।

गणपति चंद्रगुप्त ने अरबानकृत प्रतीक वर्गीकरण को उद्धृत कर उससे सहमति प्रकट की है । यह वर्गीकरण निम्नलिखित है --

१- संकेतात्मक -

इनमें प्रतीकात्मक शब्द का विशेष महत्व नहीं रहता, केवल संबंधित पदार्थ का ही महत्व रहता है । उदाहरण के लिए हम अपने कुत्ते का नाम कमल रख देते हैं । यहां कमल विशेष कुत्ते का पर्यायवाची है ।

इसे श्री गुप्त ने अभिधा पर आधृत प्रतीक माना है । प्रतीक विधान के वैशिष्ट्य पर ध्यान देने से स्पष्ट होगा कि उपर्युक्त प्रयोग प्रतीक के अंतर्गत नहीं रखा जा सकता । यद्यपि ऐसे मत भी हैं जो भाषा

के प्रत्येक शब्द को, उस शब्द से ज्ञात वस्तु का प्रतीक मानते हैं [१] --
उस दृष्टि से भी `कमल` कुत्ते का प्रतीक नहीं कहा जा सकता । यहां
दो वस्तुएं हैं कुत्ता और कमल । `कुत्ते` के स्थान पर कमल का प्रयोग किसी
भी सादृश्य पर आधृत नहीं है । एक वस्तु के स्थान पर दूसरी वस्तु
का अथवा उसके नाम का प्रयोग करने से ही वह वस्तु प्रतीक नहीं बन जाती,
सादृश्य की प्रतीति ही प्रतीकार्थ तक पहुंचाती है । कुत्ते को कमल कहना,
अभिधा पर आधृत तो एकदम नहीं है । कुत्ते और कमल के वाच्यार्थ रूढ
है । यह वाक्य -`यहां कमल विशेष कुत्ते का पर्यायवाची है`, निरर्थक
है । पर्यायवाची प्रसिद्ध होते हैं, जब तक प्रयोक्ता स्पष्टत: न कहे
कि कमल का अर्थ उसका विशेष कुत्ता समझा जाय तब तक कोई भी वैसा
समझने की मूर्खता नहीं करेगा । अत: ऐसे प्रयोगों को प्रतीक नहीं कहा
जा सकता ।

२- अभिव्यंजनात्मक -

इनमें प्रतीकात्मक शब्द का प्रयोग विशेष प्रयोजन से होता
है । `मेरा नौकर बिल्कुल गधा है, उसे कुछ भी समझ में नहीं आता`
यहां गधा मूर्खता का प्रतीक है । वस्तुत: इसे भी प्रतीक प्रयोग नहीं कहा
जा सकता, यह लक्षणा का उदाहरण है । लक्षणा के प्रत्येक प्रयोग
में प्रतीक नहीं होता । काव्यशास्त्र के प्रसिद्ध उदाहरण `गंगायांघोष:`
में लक्षणा का चमत्कार स्पष्ट है, यहां प्रतीक प्रसंग नहीं है ।

३- आरोपमूलक -

`इसमें जानबूझ कर एक अर्थ पर दूसरे अर्थ का आरोपण होता
है ।` उदाहरण दिये गये हैं --

१. `ठाढा सिंघ चरावै गाई` -- कबीर

२. मधुर मधुर मेरे दीपक जल` -- महादेवी

परन्तु ये दोनों उदाहरण भिन्न प्रकृति के हैं। कबीर की पंक्ति में वाच्यार्थ अव्युत्पन्न है -- `सिंघ गायों को खड़ा रहकर नहीं चराता`। कबीर के पदों के विमर्श से ही इस उलटबांसी का रूपक स्पष्ट होता है। सिंघ यहाँ मन है, गाई का अर्थ इन्द्रियां है। यह अर्थ किसी सादृश्य से व्यक्त नहीं होता। यह रूढ़ लक्षणा का ही नहीं, सीमित, अत्यंत रूढ़ कोई लक्षणा हो तो उसका उदाहरण कहा जा सकता है।

इसके विपरीत महादेवी की पंक्ति प्रतीक-प्रयोग का श्रेष्ठ उदाहरण है। इसमें वाच्यार्थ अव्युत्पन्न नहीं है। `दीपक के मधुर मधुर जलने` में माधुर्य की अभिव्यक्ति हो रही है। साथ ही `दीपक` प्रतीक से अन्य अर्थ भी प्रतीत हो सकते हैं।

निष्कर्षत: कहा जा सकता है --

(१) प्रतीक प्रयोग के मूल में दो वस्तुओं के सादृश्य की प्रतीति है।

(२) प्रतीक का अंतर्भाव लक्षणा प्रयोगों से नहीं होता। लक्षणा प्रयोगों में सर्वत्र प्रतीक योजना नहीं दिखलाई पड़ती। कहीं-कहीं प्रतीकार्थ की प्रतीति में लक्षणा-प्रक्रिया दृष्टिगोचर होती है। सामान्यत: प्रतीक अपना अर्थ रखते हुए ही प्रतीकार्थ व्यक्त करता है।

(३) प्रतीक प्रयुक्ति के मूल में कम से कम शब्दों के द्वारा वांछित कुछ एक मूर्तियों के उद्भाव की आकांक्षा है।

(४) प्रतीक और उसके अर्थ में व्यंग्य - व्यंजक भाव संबंध है।

६.४ कविता में प्रतीक-प्रयोग, कविता की जटिल सृजन-प्रक्रिया से संबद्ध है। कवि जब अपने आवेग (Poetic impulse) को स्पष्टत: अभिव्यक्ति देना नहीं चाहता तब वह प्रतीक का प्रयोग कर सकता है। कवि-मानस में जो अनेक वस्तुएं, घटनाएं निक्षिप्त रहती हैं उनमें से जिससे भी कवि की तात्कालिक वस्तु, भाव अथवा घटना का सादृश्य होगा,

वही प्रतीक रूप में प्रयुक्त की जा सकेगी । परन्तु प्रतीक-प्रयोग की यह प्रक्रिया इतनी सरल भी नहीं है । कभी-कभी अनेक पूर्वदृष्ट वस्तुएं, पूर्वानुभूत घटनाएं मिलकर एक नई वस्तु, नई घटना को रूपायित कर देते हैं - ऐसी वस्तु जब प्रतीकरूप में प्रयुक्त होती है तो प्रतीकार्थ-ज्ञान करना जटिल हो जाता है । तब भी, प्रतीक, काव्य में प्रयुक्त किया जाने वाला सहज उपादान है । प्रतीक काव्यात्मक आवेग और नियंत्रण के द्वन्द्व की कलात्मक परिणति है । इस प्रकार के प्रयोग का दोहरा उद्देश्य रहता है -- १. नियंत्रण से सामंजस्य और २. आवेग की अभिव्यक्ति इसका एक निष्कर्ष यह निकलता है कि प्रतीक-युक्त रचना में अर्थ तल पर नहीं होता , उसे संरचना के गहन तल से प्राप्त करना होता है । तल पर एक अर्थ ज्ञात होता है, इस अर्थ से दूसरे अर्थ तक पहुंचना होता है । यह दूसरा अर्थ ही कवि का अभिप्रेत होता है । यदि ऊपर से प्रतीत होने वाला वाच्यार्थ अव्युत्पन्न रहा तो प्रतीक - प्रयोग का प्रथम उद्देश्य नियंत्रण से सामंजस्य-पूर्ण नहीं होगा । अत: प्रतीक प्रयोग में प्रतीक के लिए आवश्यक है कि स्वयं का अर्थ देते हुए ही अन्य अर्थ की प्रतीति कराए ।

६.५ ध्वनिसिद्धान्त ऐसे सभी प्रयोगों को संलक्ष्यक्रम व्यंग्य के अंतर्गत रखता है । स्पष्ट है कि प्रतीक-प्रयोग में प्रथमत: वाच्यार्थ की प्रतीति होती है तदनन्तर विमर्शपूर्वक अन्य अर्थ तक पहुंचा जाता है । यह अन्य अर्थ, पाठक के समक्ष, विचार रूप में उपस्थित हो सकता है , भाव रूप में भी हो सकता है । कविता के ऐसे शतश: उदाहरण हैं, इन सबका विचार करके ही, सृजन और भावन को दृष्टि में रखते हुए आनंदवर्धन ने असंलक्ष्यक्रम कोटि की कल्पना की है । काव्य का आत्मा रस कहकर, आनंदाभिभूत होकर झूमना बहुत सरल है, पर कविता की इस कोटि की रससिद्धान्त के आधार पर व्याख्या करना कठिन है । तब रसवादियों को रस को व्यापक करने का प्रपंच रचना पड़ता है ।

संसार के सभी क्षेत्रों के काव्य में - सभी कालों में प्रतीक का प्रयोग हुआ है और आज भी हो रहा है। यह स्थिति प्रतीक को सृजन की प्रक्रिया में सहज उत्पन्न काव्योपादान सिद्ध करती है।

हिन्दी के आधुनिक काव्य में भी प्रतीक, बिम्ब आदि को अपरिहार्य कहकर, इन्हें नये हिन्दी काव्य के वैशिष्ट्य के रूप में विवेचित किया जा रहा है।

उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध हो जाता है कि प्रतीक काव्य का ऐसा उपादान है जो कवि के अभिप्रेत अर्थ की व्यंजना करता है, प्रतीक स्वयं व्यंजक है। काव्य रचना के इसी शाश्वत सत्य से साक्षात् कर आनंदवर्धन ने प्रतीयमान अर्थ के संलक्ष्यक्रम प्रकार का विधान किया था। काव्य वाक्य में कवि का अभिप्रेत अर्थ ही तात्पर्यविषयीभूत अर्थ होता है - अत: वही प्रधान है। प्रतीक के द्वारा वह अर्थ प्रतीयमानत: व्यक्त होता है। इसलिए प्रतीक - प्रयोग ध्वनि के स्थल होते हैं।

६.६ आधुनिक हिन्दी काव्य के कुछ प्रतीक प्रयोगों का विश्लेषण यहां प्रस्तुत किया जा रहा है।

१ कितनी द्रुपदा के बाल खुले,
कितनी कलियों का अंत हुआ,
कह हृदय खोल चित्तौड़ यहां,
कितने दिन ज्वाल वसंत हुआ।

(दिनकर-हुंकार, हिमालय)

उपर्युक्त उद्धरण में 'द्रुपदा', 'कलियों', आदि पद प्रतीक हैं। दोनों का वाच्यार्थ संगत है परन्तु द्रुपदा के पूर्व प्रयुक्त 'कितनी' पद उसे प्रतीक बना देता है। द्रौपदी महाभारत का ऐसा पात्र है जो पवित्र माना जाकर भी लांछित हुआ। अपने बलवान प्रियजनों की उपस्थिति में उसके केश खींचे गये। इस प्रकार द्रौपदी विवशता का, नारी की अवमानना का प्रतीक भी है और पंचकन्याओं में परिगणित द्रौपदी पवित्रता का प्रतीक भी । यहां द्रौपदी पवित्र और निरीह नारियों

का प्रतीक है । प्रतीकार्थ होगा - 'कितनी द्रौपदियों - कितनी पवित्र, किन्तु विवश स्त्रियों का उनके स्वजनों के देखते - देखते अपमान हुआ, उनके केश पकड़ कर खींचा गया । इस प्रसंग के विमर्श से कलियों का अर्थ होगा कली जैसी कच्ची उम्र की बालिकाएं, जिन्हें कुचल दिया गया । निश्चय ही ये प्रतीक न तो लक्षणा में अंतर्भावित हो सकते, न अन्योक्ति में । ये प्रतीक अपने वाच्यार्थ को रखते हुए ही संदर्भ से अन्य (वाक्यार्थीभूत) अर्थ की प्रतीति करा रहे हैं , इसीलिए प्रतीक को व्यंजक कहा गया है ।

२ मैं वही शम्बूक हूं,
तू ने दिया था रोक उस दिन,
स्वर्गपथ पर मुझे जाते देख ।
मैं वही एकलव्य हूं,
कि धनुर्धारी वीर अर्जुन
डर गया था,
और तून ले लिया था अंगूठा ।
याद रख मैं हूं
वही अभिभूत ढाका का जुलाहा,
काट ली थी ऊंगलियां जिसकी,
किसी दिन क्रुद्ध तूने ।

(रांगेय राघव, पिघले पत्थर, आततायी)

शंबूक, एकलव्य और ढाका का जुलाहा क्रमश: रामायण, महाभारत और आधुनिक युग के तीन पात्र हैं । तीनों मिलकर शोषण की उस परंपरा को व्यक्त करते हैं जिसका एक छोर महाभारत काल में है, दूसरा आधुनिक युग में । शम्बूक शूद्र था , अपनी तपस्या के बल पर मोक्ष चाहता था । ऋषि-ब्राह्मण जो शूद्र को तपस्या का अधिकारी नहीं मानते थे, उसकी तपस्या को न सह सके, परिणामत: स्वयं राम ने शंबूक का वध किया, क्योंकि उसने तपस्या की थी । प्रस्तुत कविता में शंबूक उन सब

शोषितों का प्रतीक है जो अपने परिश्रम के फल से (शोषकों-आततायियों के द्वारा) वंचित कर दिये जाते हैं। एकलव्य भी शोषित पात्र है। उसने स्वयं के परिश्रम से धनुर्विद्या अर्जित की और राजकुमारों के गुरु द्रोणाचार्य ने केवल इसलिए कि एकलव्य अर्जुन से श्रेष्ठ धनुर्धर न बन जाय, उसका अंगूठा गुरु-दक्षिणा में ले लिया, जबकि उन्होंने कभी उसे शिक्षा न दी थी। और ढाका की मलमल, जिसका पूरा थान अंगूठी से निकल जाता था, ढाका के जुलाहों की अंगुलियों की कला थी, अंग्रेजों ने उन अंगुलियों को इसलिये कटवा दिया था कि वैसी मलमल न बने और भारत अंग्रेजी कपड़े का बाज़ार बन सके। इन तीन प्रतीकों का व्यंग्यार्थ शोषण की यह दीर्घ परंपरा है, इनके साथ ही, इन तीनों से संबद्ध प्रसंग भी स्मृति में उतर आते हैं। कवि ने केवल प्रतीक कहे हैं, अपना वाच्यार्थ प्रकट कर, उसके द्वारा ये प्रतीक व्यंग्य रूप में (प्रधान अर्थ) शोषण की परंपरा के प्रति आक्रोश व्यंजित करते हैं। इस कविता का प्रेरक आवेग शोषण की पीड़ा की अनुभूति से उत्पन्न है। परन्तु राज्य का, शासन का अंकुश इस आवेग को नियंत्रित करता है, परिणामत: अभिव्यक्ति प्रतीकमयी होती है। हिन्दी की प्रगतिशील कविता में दिनकर, रांगेय राघव, सोहनलाल द्विवेदी, आदि ने रोम के सम्राट नीरो, रूस के जार, जर्मन के हिटलर को भी अत्याचारी के प्रतीक के रूप में प्रयुक्त किया है

> ३ युग की गंगा,
> गुहागर्त से,
> आगे जाकर,
> सूर्योदय से खेलेगी ही।
> युग की गंगा
> सूखी खेती सींचेगी ही। (केदारनाथ अग्रवाल : युग की गंगा)

उपर्युक्त कविता में `गंगा` शब्द `युग की` पद के सान्निध्य से प्रतीक बन जाता है । गंगा यहां प्रवाह, पवित्र प्रवाह का प्रतीक है । जन-जन की शक्तिशाली चेतना का पवित्र प्रवाह जो सूर्योदय से , प्रकाश से, ज्ञान से खेलेगा, जो सूखे मानस को भी अपने प्रवाह से सींचेगा, हरा-भरा कर देगा । चेतना का जो प्रवाह सुप्त था, अब जागेगा । यह अर्थ द्वितीय पंक्ति में प्रयुक्त `गुहागर्त` और चतुर्थ पंक्ति में प्रयुक्त `सूर्योदय से खेलेगी` से व्यंजित होता है । इस अर्थ की प्रतीति के चमत्कार में ही कविता का आनंद है ।

४ अबे सुन बे गुलाब,
मूल मत पाइ गर खुशबू रंगो आब,
खून चूसा खाद का तूने अशिष्ट,
डाल पर इतरा रहा कैपिटलिस्ट ।

यह कहा जा चुका है कि निराला में काव्यात्मक आवेग अत्यन्त प्रबल है । निराला का परिवेश भी विचित्र था, हृदय में मुक्ति भावना का ज्वालामुखी, ऊपर से अंग्रेजी शासन का अंकुश । निराला के व्यवहार में भी `कैपिटलिस्टों` के प्रति हिकारत का भाव प्रकट होता था । इस कविता में गुलाब `कैपिटलिस्ट का प्रतीक है । निराला ने स्वयं ही सादृश्य भी प्रकट कर दिया है । खाद शोषितों का प्रतीक है । शोषितों के बल पर । श्रम पर `रंगो आब` प्राप्त कर कैपिटलिस्ट इतराता है, यह प्रतीक और कथ्य का साम्य है । परन्तु निराला का व्यक्तित्व अधिक आड़-ओट सह नहीं पाता । गुलाब को कैपिटलिस्ट कहकर , `अबे`,`तू`,`अशिष्ट` आदि प्रयोग कर निराला ने शोषकों के प्रति हृदयगत आक्रोश को व्यक्त कर दिया है । गुलाब मुख्य प्रतीक होते हुए भी प्रधान नहीं रह जाता, कैपिटलिस्ट पद का प्रयोग उसे स्पष्ट कर देता है । कवि का आवेश ही यहां प्रधान व्यंग्यार्थ है । प्रतीक वस्तुत: वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ तक पहुंचने का क्रमिक माध्यम

है। परन्तु इस कविता को पढ़ते ही कवि की अनुभूति से सीधा साक्षात्कार होता है। कवि की अनुभूति की शिल्पसमन्वित यह अभिव्यक्ति सहृदय को चमत्कृत करती है, यही इसकी उपलब्धि है।

५ दानव है वह चाह रहा एकाकी जो सोना बटोरना
गीधों को ही आता है लाशें अगोरना,
हमें नहीं काँटे पसन्द हैं,
सड़े घाव में चीर फाड़ करना ही होगा
(नागार्जुन, शांति का मोची, हंस, अक्तू. ५०)

'सड़े घाव' काँटे, गीध, दानव, आदि प्रतीकों के रहते हुए भी नागार्जुन की इस कविता में, कवि का मूल भाव-शोषण के प्रति दृढ़ प्रतिक्रिया, पूंजीपतियों की स्वर्ण एकत्रित करने की प्रवृत्ति के प्रति उद्दाम आक्रोश उछले पड़ते हैं। भाषा का प्रयोग भी इसी उद्दाम आवेग से संचालित है। तृतीय पंक्ति में काँटे के पूर्व 'नहीं' का प्रयोग तथा अंत में 'हैं' का प्रयोग निश्चयात्मकता के व्यंजक हैं। चतुर्थ पंक्ति में निपात 'ही' का प्रयोग इस प्रभाव को सघन करता है।

प्रतीक का स्वरूप कवि के आवेग पर निर्भर करता है। एक ही भाव के अनेक प्रतीक हो सकते हैं, पर कवि किसी विशेष प्रतीक का ही चयन करता है। उपर्युक्त कविता में 'दानव' और 'गीधों' के स्थान पर अन्य प्रतीकों का प्रयोग भी किया जा सकता था, पर, संभवत: 'दानव' और 'गीध' कवि की सोना बटोरने वालों के प्रति घृणा और तिरस्कार के अधिक निकट हैं। कविता की अंतिम पंक्ति कवि के निश्चित और दृढ़ प्रतिरोधात्मक भाव की व्यंजक है।

६ धू - धू जल रही है
स्वर्ण की लंका
विजय की वैजयन्ती
फरफराती बढ़ रही है
लाल सेना आज। (शिवमंगलसिंह 'सुमन')

इन पंक्तियों में - `स्वर्ण` की लंका` पद ही केन्द्रीय प्रयोग है। लंका सोने की थी, सोना वहां बन्दी था। यहां यह प्रयोग पूंजीपतियों के लिये है, जिनके पास पूंजी (सोना) बंद है। `स्वर्ण की लंका` का यह अर्थ लक्षणागम्य नहीं है, यहां वाच्यार्थबाध का अवसर नहीं है। वस्तुत: `लाल सेना` पद के संदर्भ से `स्वर्ण की लंका` का `पूंजीवादी व्यवस्था` अर्थ निष्पन्न होता है। कतिपय शोध ग्रंथों में `लाल सेना` को भी प्रतीक कहा गया है, पर यह प्रतीक नहीं है। `लाल सेना` रूसी सेना का वाचक है। `लाल सेना` में यह अर्थ रूढ़ हो चुका है। ऐसा नहीं है कि लाल सेना का वाच्यार्थ कुछ और हो तथा सादृश्य से यह अन्य अर्थ व्यक्त करता हो। ऐसे प्रयोग वाच्य ही होते हैं। ऐसे प्रयोगों को ही ध्यान में रखकर आनंदवर्धन ने कहा है -

रूढा ये विषये न्यत्र शब्दा स्वविषयादपि।
लावण्याद्या: प्रयुक्तास्ते न भवन्ति पदं ध्वने: ।।

अर्थात् लावण्य आदि शब्द जो अपने विषय (लवणयुक्त) से भिन्न सौन्दर्यादि अर्थ में रूढ़ हो चुके हैं, वे भी प्रयुक्त होने पर ध्वनि का विषय नहीं होते। `लाल सेना` का वाच्यार्थ ही रूसी सेना है। इस पद के संसर्ग से ही `स्वर्ण की लंका` प्रतीक बन सका है।

पौराणिक पात्र, वस्तुएं और घटनाएं भी कालांतर में प्रतीक बन जाते हैं। व्यक्ति से संबद्ध उपादान व्यक्ति निरपेक्ष होकर भाव का प्रतीक बन जाते हैं। उनका वाच्यार्थ लुप्त नहीं होता, वाच्यार्थ के द्वारा ही वे भाव की व्यंजना करते हैं। `दधीची ऋषि` ने जनकल्याण के लिए आत्म त्याग किया था। कालांतर में `दधीची की हड्डियां दृढ़ता के, वज्रता के भाव का प्रतीक बन गया। पहले दधीची व्यक्ति विशेष था, अब आत्म त्याग के भाव का प्रतीक है। दधीची

की हड्डियां दृढ़ता के , वज्रता , इस प्रकार के प्रतीक में सहृदय का ध्यान सर्वप्रथम वाच्यार्थ पर ही जाता है । जो व्यक्ति दधीची के त्याग की अंतर्कथा को नहीं जानता वह इस प्रयोग के प्रयोजन तक पहुंच ही नहीं सकता ।

आधुनिक काव्य में `सलीब` भी बहुप्रयुक्त प्रतीक है । सलीब वह क्रास था जिस पर टांग कर ईसा को मृत्युदण्ड दिया गया था । उस युग की परंपरा के अनुसार मृत्युदंड-भागी स्वयं सलीब को ढोकर वध-स्थान तक ले जाया करता था । अब सलीब कष्टों का, कष्टकर मृत्यु का , हंसते-हंसते कष्ट सहकर मरने का प्रतीक है । ईसा के कारण `सलीब` ईसाइयों का धर्म चिह्न बन गया, बलिदान का प्रतीक हो गया । अर्थविस्तृति के क्रम में धर्म और मानवता के लिए लड़ी जाने वाली लड़ाई का प्रतीक हो गया । `सलीब का वाहकत्व` गौरव की व्यंजना करता है --

`मैं अपने ही नहीं तुम्हारे भी सलीब का वाहक हूं ` (अज्ञेय)

कभी-कभी पूरी कविता ही किसी घटना का, किसी विशेष अर्थ का प्रतीक बन जाती है ।

सो रहा है झोंप अंधियाला नदी की जांघ पर,
डाह से सिहरी हुई यह चांदनी
चोर पैरों से उझककर झांक जाती है ।

(अज्ञेय)

यद्यपि इन पंक्तियों में जो वाच्यार्थ प्रकट हो रहा है, अपने आप में पूर्ण है तथापि `चोर पैरों से उझककर`, `सिहरी हुई` आदि पद एक अन्य अर्थ की भी प्रतीति कराते हैं, तब अंधियाला पुरुष का , नदी प्रिया का, और चांदनी (जो चुपके से आती है और अंधियाले को नदी की जांघ पर सोते देख ईर्ष्या से सिहर उठती है।) सपत्नी के अर्थ को व्यंजित करने वाले प्रतीक बन जाते हैं । पूरी कविता

ही इस अन्य अर्थ को व्यक्त करती है। यहां भी व्यंजना अन्य पदों के सन्दर्भ से संभव हुई है। `डाह' `चौर पैरों' आदि प्रयोग भाषा के सामान्य प्रतिमान (Norm) से विपथन हैं। ये विशेष प्रभावी प्रयोग ही सहृदय को व्यंग्य अर्थ तक पहुंचने को बाध्य करते हैं।

इस उदाहरण में प्रतीकों से बना बिम्ब भी स्पष्ट है - प्रेयसी को जांघ पर सिर रखकर सोया प्रेमी, पत्नी का चुपके से, हल्के-हल्के पैर रखकर आना, उभक-कर देखना, सभी कुछ चित्रवत् साकार हो गया है। `चौर पैरों' व्यंजक है, इसका अर्थ है चोर की भांति हल्के कदम रख कर आना। `उभककर' में पंजों के बल उठी, गर्दन उठाकर देखने का प्रयत्न करती हुई, स्त्री का चित्र उभरता है। `भांके' क्रिया इस चित्र को पूर्णता देती है।

८. सांप तुम सभ्य तो हुए नहीं,
नगर में चलना
भी तुम्हें नहीं आया
एक बात पूछूं उत्तर दोगे ?
तब कैसे सीखा डसना,
विष कहां पाया।

(अज्ञेय... .)

उपर्युक्त कविता का केन्द्र-बिन्दु (प्रभावी पद) -`सांप' है। इस कविता का व्यंग्य शहरी सभ्यता पर कटाक्ष है। शहरी सभ्यता विषैली है, जन-जन को स्वार्थी बनाती है। कवि कहता है कि सर्प सभ्य नहीं है कि नगर में रहे (नागरिक सभ्यता में जीने वाले ही सभ्य होते हैं?)। जब नगर में नहीं रहा तो डसना उसे कैसे आया ? उसने विष कहां पाया। क्योंकि डसना और विष पालना तो आज नागरिक

सभ्यता के अनिवार्य धर्म बन गए हैं। यहां `डसना` और `विष` प्रतीक हैं, सांप प्रतीक नहीं है जैसा कि कुछ विद्वानों ने माना है। सादृश्य शहरी जनों के विद्वेष और विष में, धोखेभरे व्यवहार और डसने में है। इस प्रकार की कविताओं का सौन्दर्य इनके वाक्यार्थीभूत प्रतीयमान अर्थ में ही होता है।

कविता के इस सौन्दर्य की व्याख्या संलक्ष्यक्रम व्यंग्य के आधार पर ही संभव है, ब्रह्मानंद सहोदर रस विषयक सिद्धान्त के आधार पर नहीं। इसमें वाच्य वस्तु से प्रतीयमान विचार रूप वस्तु की प्रतीति होती है। इसमें भाव फुहार नहीं है, कवि के कथ्य तक पहुंचने की, उसे उन्मीलित करने की चमत्कृति है।

अत: प्रतीक और उसके अर्थ में व्यंग्य-व्यंजक भाव संबंध होता है, जिन प्रतीकों में वाच्यार्थ बाधित प्रतीत होता है, उन में भी प्रयोजन की प्रतीति में व्यंजना-व्यापार मानना होगा। आधुनिक कविता का प्रमुख शिल्प-उपादान माना जाने वाला प्रतीक प्रतीयमान अर्थ के सौन्दर्य की अभिव्यक्ति का साधन है। क्योंकि प्रतीयमान अर्थ कवि की अनुभूति रूप होता है अत: प्रतीक उससे स्वत: संबद्ध हो जाता है।

६ प्रात होते
सबल पंखों की अकेली एक मीठी चोट से
अनुगता मुझको बनाकर बावली को -
जानकर मैं अनुगता हूं -
उस विदा के, विरह के विच्छेद के तीखे निमिष में भी
युता हूं -
उड़ गया वह बावला
पंछी सुनहला
कर प्रहर्षित देह की रोमावली को / (अज्ञेय)

उपर्युक्त कविता में सुनहला पंछी प्रिय का प्रतीक है। ऐसा प्रिय जो रात भर साथ रहा और प्रात: काल होते ही, अपनी प्रिया को सबल अंगों से आलिंगन कर, प्रहर्षित बनाकर चला गया। यह जानकर भी कि प्रिया अनुगता है, त्याग कर जाने में संभवत: उसकी आदिम पुरुष भावना को तृप्ति मिली हो? 'बावला' विशेषण प्रेम और विश्वास का व्यंजक है कि भले ही वह चला गया है, पर लौट कर आएगा। 'बावली' पद मुग्धा व प्रेयसी की प्रेम-आकुलता को व्यंजित करता है। व्यंजकत्व की दृष्टि से इस कविता के अन्य पद भी महत्वपूर्ण हैं।

१० सागर भी रंग बदलता है।
गिरगिट भी रंग बदलता है,
सागर को पूजा मिलती है
गिरगिट कुत्सा पर पलता है।
सागर है बली
बिचारा गिरगिट (अज्ञेय)

इस कविता में सागर और गिरगिट क्रमश: शक्तिशाली और निरीह लोगों के प्रतीक हैं। जिन बातों को निरीह लोगों में दुर्गुण माना जाता है, वही बातें शक्तिशाली में गुण बन जाती हैं। इतना ही नहीं उन बातों के रहते शक्तिशाली की पूजा भी की जाती है, निरीह जन घृणा पाता है।

११ हम निहारते रूप
कांच के पीछे हांप रही है मछली।
रूप तृषा भी
(और कांच के पीछे) है जिजीविषा
(अज्ञेय)

इन पंक्तियों में मछली 'जिजीविषा' (जीने की प्रबल इच्छा) का प्रतीक है।

जिजीविषा का यह प्रतीक अज्ञेय के `आंगन के पार द्वार`
कविता संग्रह की कविता में भी प्रयुक्त हुआ है ।

अत: यह सिद्ध होता है कि प्रतीक व्यंजक उपादान है । आधुनिक काव्य, विशेषत: नए हिन्दी काव्य में एक स्वर से कवियों और आलोचकों ने प्रतीक-प्रयुक्ति के महत्व को स्वीकारा है तब प्रतीकार्थ तक पहुंचने की प्रक्रिया और प्रतीक को कवि की अनुभूति से संबद्ध करने वाले ध्वनिसिद्धान्त की संलक्ष्यक्रम व्यवस्था को कैसे अस्वीकार किया जा सकता है । और कैसे ध्वनिसिद्धान्त के रहते भारतीय काव्यशास्त्र को नए काव्य के लिए अनुपयुक्त कहा जा सकता है ।

६.७ बिम्ब

बिम्ब काव्य की सृजन-प्रक्रिया में ही उद्भूत होने वाली निर्मिति है । इस प्रकार बिम्ब काव्य-शिल्प का महत्वपूर्ण उपादान है । बिम्ब के द्वारा कवि अपनी अनुभूति को गुणवैशिष्ट्ययुक्त साकार अस्तित्व के रूप में उपस्थित करता है । बिम्ब का निर्माण चयनधर्मी प्रक्रिया है । ध्वनि, गति, प्रकृति के प्रभावों से जीवन्त होकर भावक की विचार और संवेदन तंत्रियों को झंकृत कर दे, मनोवेगों को उद्वेलित कर दे । बिम्ब शिल्प की वह विधि है जिससे कवि के अमूर्त और नियंत्रित आवेग अभिव्यक्ति का संतोष प्राप्त करते हैं । बिम्ब वह आधार है जिसे पाकर अनुभूति दृश्य, श्रव्य अथवा स्पर्श्य हो जाती है । काण्ट ने कवि की बिम्बविधायिनी कल्पना को इसीलिए पुनरुत्पादक कल्पना कहा है । टी.एस.इलियट का `आब्जेक्टिव कोरिलेटिव` का सिद्धान्त भी बिम्ब प्रक्रिया का आख्यान करता है । इस सिद्धान्त के अनुसार अभिव्यक्ति की प्रक्रिया में कवि कुछ ऐसी वस्तुओं को खोजता है जिनमें उसकी अनुभूति साकार हो सके ।

काव्यात्मक विचार कल्पना के द्वारा बिम्ब रूप ग्रहण करता है। इस बिम्ब में अनुभूति की ऊष्मा होती है। बाह्य यथार्थ के अनुरूप होता हुआ भी, बिम्ब कवि मानस की अपेक्षाओं को पूर्णता का संतोष देता है। यह स्थिति काव्य-सृजन को स्वप्न-प्रक्रिया के समानान्तर बना देती है। स्वप्न-क्रिया में, स्वप्न द्रष्टा की असंतुष्ट कामनाओं को तुष्टि मिलती है। फ्रायड ने यह उपपादित किया है कि हमारे बहुत से स्वप्न जिन्हें स्पष्टत: नहीं पहचाना जा सकता - कामनाओं की तुष्टिरूप ही होते हैं। कामना, किसी प्रतीक में अथवा कल्पनात्मक प्रस्तुतीकरण में निहित होकर व्यक्त होती है। फ्रायड की धारणा है कि प्रत्येक स्वप्न के मूल में कोई न कोई असंतुष्ट कामना होती है। स्वप्न में चेतन मानस की यह भावना - `काश , ऐसा होता` मुक्त हो जाती है और इच्छा पूर्ण रूप में व्यक्त होती है। प्रतीक के मूल में भी ऐसी इच्छाएं रहती हैं।

कवि-मानस में निहित अनेक अवयवों से पूर्ण बिम्ब बनने की प्रक्रिया अत्यंत जटिल है। फ्रायड और उसके अनुयायियों ने स्वप्न के संबंध में अनेक व्याख्याएं प्रस्तुत की हैं, ये व्याख्याएं स्वप्न में उभरने वाले बिम्बों की निर्माण-विधि पर प्रकाश डालती हैं। क्योंकि काव्य-रचना-प्रक्रिया को स्वप्न-प्रक्रिया के समानान्तर कहा गया है अत: यह विवेचनीय है कि स्वप्न-प्रक्रिया काव्यसृजन में निर्मित बिम्ब की व्याख्या हेतु कितनी उपयोगी है। स्वप्न-द्रष्टा के विचारों और अनुभूतियों से स्वप्न बनने की विधि को स्वप्न - प्रक्रिया (Dream work)कहा गया है, इस प्रक्रिया के कुछ निश्चित नियम हैं। यदि स्वप्न-प्रक्रिया के सदृश प्रक्रिया काव्यात्मक बिम्बों के निर्माण में भी मानी जाय तो इसे काव्य-प्रक्रिया (Poetic work) कहा जा सकता है।

६.८ स्वप्न चित्र की भाँति काव्य-बिम्ब भी मानस में निहित अनेक पूर्वघटनाओं से संबद्ध होता है। स्वप्न का एक व्यक्ति यथार्थ जगत के एकाधिक व्यक्तियों से मिलकर बन सकता है। इस प्रकार स्वप्न में देखा हुआ व्यक्ति अनेक व्यक्तियों का संग्रथन होता है। स्वप्न का यह संग्रथित व्यक्ति जिन-जिन अवयवभूत व्यक्तियों से बना है उन सबके कुछ - कुछ गुणों से युक्त हो सकता है। इस प्रकार स्वप्न मेंदेखा हुआ व्यक्ति अनेक व्यक्तियों का संग्रथन होता है। स्वप्न का यह संग्रथित व्यक्ति जिन-जिन अवयवभूत व्यक्तियों से बना है उन सबके कुछ-कुछ गुणों से युक्त हो सकता है। इस प्रकार स्वप्न में देखे गए व्यक्ति का प्रत्येक गुण अपने विविध मूलों के संबंधों और विशेषताओं से युक्त होता है, इसीलिए वह अनेक अर्थों से भरा होता है। इस प्रक्रिया में अपविस्तृत और विकीर्णित विचार सृष्टि का संघनन होता है।

६.९ स्वप्न एक समेकन (Fusion) प्रक्रम है। संघनन और समेकन की जैसी प्रक्रिया स्वप्न निर्माण में घटती है वैसी ही काव्य-सृजन में भी घटती है। कवि द्वारा प्रस्तुत बिम्ब यौगिक होता है। अनेक मूलों से संबद्ध होने के कारण, उन मूलों के वैशिष्ट्य भी बिम्ब में होते हैं। न केवल बिम्बवरन् कविता का प्रत्येक शब्द, कविता को प्रेरित करने वाली कल्पना के गुण से समन्वित होता है। यही कारण है कि काव्यात्मक भाषा कल्पना प्रेरित विषयवस्तु को अभिव्यक्त करने में सक्षम होती है। बिम्बविधान बहुविध आसंगों से संबद्ध होता है अत: एक, दो या अनेक अर्थों को व्यक्त करता है। इसीलिए यह कहा गया है कि काव्य-सृजन में भी स्वप्न की भाँति संघनन होता है। बिम्ब के अर्थों में से कोई तल पर ही रह सकता है, अन्य निहित हो सकते हैं। बहुधा निहित अर्थ तलीय अर्थ की अपेक्षा महत्वपूर्ण होते हैं। वस्तुत: भावात्मक तथा काव्यात्मक मूल्यवत्ता रखने वाला विचार वाच्यार्थत: नहीं व्यक्त किया जा सकता, वह प्रतीयमान ही होता है। कविता

उतनी ही काव्यात्मक होगी, जितनी उसकी भाषा अर्थगर्भित होगी। कविता का वैशिष्ट्य उसके संक्षिप्त तथा व्यंग्यमय होने में ही है। इसीलिए इन दोनों गुणों का प्रतिपादन करने वाला ध्वनिसिद्धान्त नई कविता के लिए विशेषत: प्रयोगार्ह है।

कविता अनेक मानस बिम्बों का प्रतिफलन होती है, इसका तात्पर्य सभी बिम्बों के आसंगों का योग होना नहीं है। समग्ररूप में कविता अनेक प्रभाव उत्पन्न कर सकती है। इसमें अर्थ में अर्थ रह सकते है, जैसे नीतिकथा (Fable) अथवा अन्योक्ति (Allegory) में होते हैं

पो (Poe) ने 'सौन्दर्य के लयात्मक सृजन' को कविता कहा है तथा रहस्यात्मक (Mystical) कविताओं को इस वैशिष्ट्य से युक्त माना है। पो के अनुसार रहस्यात्मक कविताओं में पारदर्शी तल के भीतर अन्य अर्थ रहता है - जिसे व्यंग्य अर्थ कहा जा सकता है। नीतिपरक कविताओं में नीति तत्व व्यंग्य होता है।

कविता में कुछ अर्थ समझे जाते हैं, कुछ केवल अनुभूति के विषय होते हैं। अनुभूति का विषय बनने वाले अर्थ अधिक काव्यात्मक होते हैं। कुछ अर्थों की उत्पत्ति चेतन मानस से होती है, कुछ का स्रोत अचेतन मानस से होता है। अचेतन-मानस से उद्भूत अर्थों में कल्पना का वैभव चरम उत्कर्ष पर होता है। कुछ अर्थ सरलता से अभिव्यक्त किए जा सकते हैं, कुछ नियंत्रण में व्यक्त होते हैं परिणामत: आवरण में होते हैं, कविता का विषय यही अर्थ होते हैं।[१]

भावावेग की तीव्र स्थिति में कल्पना की बिम्ब-निर्माण-प्रक्रिया संभव नहीं है। तात्कालिक तीव्र अनुभूति मानस में तनाव उत्पन्न करती है।

---

१. पोएटिक माइण्ड, प्रेस्काट, पृ १८३

यह तनाव प्रत्यक्ष प्रतिक्रिया को प्रेरणा देता है, स्वप्न, कल्पना आदि का अवसर इसमें नहीं रहता। किसी मित्र की तत्काल मृत्यु को कविता में निबद्ध नहीं किया जा सकता। जब घटनाओं का समंजन हो जाता है, व्यक्ति उनका स्मरण करता है तब कल्पना की क्रिया प्रारंभ होती है। इस कथन के अपवाद हो सकते हैं, परन्तु सामान्यत: यह सच है कि 'कविता शान्ति के दाणों में स्मृत भावनाओं से रची जाती है।

६.१० कल्पना और बिम्ब निर्माण की प्रक्रिया पर विचार करने से स्पष्ट होगा कि ताजा लघु अथवा दीर्घ अनुभव भी कल्पना द्वारा बिम्ब निर्माण में प्रयुक्त किये जा सकते हैं। यह संभव है कि ताजा अनुभवों की प्राचीन अनुभवों की तुलना में सापेदिाक मूल्यवत्ता कम हो। प्राचीन का तात्पर्य किसी निश्चित समय-सीमा से नहीं है। यह अनुभव दो-चार दिन पुराना भी हो सकता है, वर्षों पुराना भी, बाल्यकाल का अथवा मानव ने जब बुद्धि-प्रयोग प्रारंभ किया होगा, तब का भी। विभिन्न स्त्रोतों से उपलब्ध अवयव एक बिम्ब में संगलित (Fuse) होते हैं। इस प्रकार बिम्ब दुर्बोध आसंगों द्वारा दूरवर्ती घटनाओं से संबद्ध हो जाते हैं।

कवि-मानस अनुभवों का कोश होता है।[१] इस कोश में प्राचीन और ताज़ा सभी प्रकार के अनुभव निहित रहते हैं। इन अनुभवों में से कुछ चेतन मानस में रहते हैं, अधिकांश अचेतन मानस में। ये अनुभव आसंगों द्वारा एक दूसरे से संबद्ध रहते हैं। जब मानस गतिशील होता है, इन बिम्बों का समूह उमड़ता है और प्रक्रिया प्रारंभ हो जाती है। किसी भी काल्पनिक-निर्माण-प्रक्रिया में ताज़ा और प्राचीन दोनों ही प्रकार के अनुभवों का सहयोग होता है। वर्तमान घटना अथवा अनुभव प्राचीन

---

१. द इमेज, बोल्डिंग, कैनथ, पृ ६-७

बिम्बों को अनेक प्रकार से आकर्षित करते हैं। यदि प्राचीन दृश्य में वर्तमान घटना से किंचित् मी सादश्य है तो प्राचीन दृश्य खिंचा चला आयेगा बिम्ब के लिए आवश्यक नहीं है कि वास्तविक पदार्थ के सर्वथा अनुरूप हो, उसमें बाह्य पदार्थों की छवियां अस्तव्यस्त, अतिरंजित या मिश्रित होती है। बिम्ब व्यक्ति की इच्छा के अनुरूप होते हैं।[1]

मानलें '$ब_1$' एक बिम्ब है इसके साथ 'अ' और 'स' बिम्ब जुड़े हैं तथा $अ_1$, $अ_2$ अनुमूतियां संलग्न है। $ब_2$ दूसरा बिम्ब है, इसके साथ मी अन्य बिम्ब और अनुमूतियां संलग्न है। बिम्ब $ब_1$ और $ब_2$ सदृश हैं। परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि $ब_1$ और $ब_2$ में पूर्ण समानता हो, थोड़ा मी सादृश्य पर्याप्त है। $ब_1$, $ब_2$ से कितना मी मिन्न हो, पर यदि उसमें और $ब_2$ में रंग, स्वाद आदि का जरा मी सादृश्य है तो $ब_1$ और $ब_2$ में शृंखला स्थापित हो जायेगी। यह मी संमव है कि मानस कोश में निहित प्राचीन बिम्ब विस्मृत हो जाएं, केवल उनसे संबद्ध अनुमूतियां ही जीवित रहें। उपर्युक्त उदाहरण में अ और स विस्मृत हो जायें तथा $अ_1$ और $अ_2$ ही शेष रहें तब $ब_1$ बिम्ब $अ_1$ और $अ_2$ को ही आकर्षित कर पाये। इस स्थिति में बिम्ब के पूर्ण संयोजन की व्याख्या नहीं की जा सकेगी।

किसी बिम्ब विशेष के निर्माण के विषय में निश्चित रूप से कुछ मी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसके मूल में अनेक बिम्ब होते हैं - मावात्मक अतिस्वर होते हैं। परिणामत: बिम्ब की रचना अत्यंत जटिल होती है। बिम्ब निर्माण की प्रक्रिया कवि की सहजात प्रतिमा सापेक्ष्य और चाणसापेक्ष्य मी होती है। ऐसी स्थिति में बिम्ब जैसे कल्पनात्मक सृजन के प्रत्येक स्रोत को ढूंढने का प्रयत्न व्यर्थ ही होगा।

---

१. द साइकोलोजी आव थिंकिंग, पृ १६७, विनाके

बिम्ब की जटिल रचना के बावजूद भी उसका लक्ष्य स्पष्ट है। स्त्रोतों की विविधता रहते हुए भी बिम्ब में - किसी भी बाह्य चित्र जितनी संगतता और ऐक्य रहते हैं। अवयव भूत बिम्ब घुलमिल कर एक प्रभाव उत्पन्न करने वाले बिम्ब का रूप धारण कर लेते हैं।

कविता में बिम्बविधान शब्दों के द्वारा इन्द्रियों पर प्रभाव उत्पन्न करने का विधान है। इंन्द्रियों पर प्रभाव के कारण भावक के भाव तथा बुद्धि तीव्र गति से उद्वेलित होते हैं। बिम्ब के रूप में कवि अपनी विषय वस्तु को धारण करता है अत: बिम्ब जितना व्यंग्यार्थ-गर्भित होगा उतना ही प्रभावक्षम होगा।[१] बर्टन ने बिम्ब के अर्थ से संबंधित एक चित्र[२] दिया है जिसे यहाँ उद्धृत किया जा रहा है --
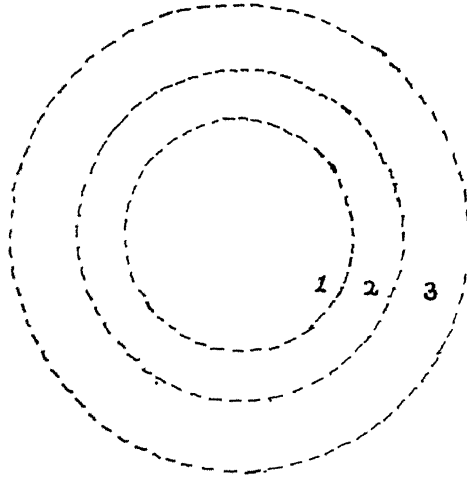
उपर्युक्त चित्र का प्रथम वृत्त शब्दों के प्रति हमारी तात्कालिक प्रतिक्रिया दिखलाता है, द्वितीय वृत्त इन शब्दों से प्रतीत होने वाला व्यंग्यार्थ का द्योतक है। जितने भी आसंग (associations) प्रत्येक शब्द से जुड़े हैं, परस्पर संबद्ध भी हैं। अत: पूर्ण बिम्ब अनेक अवयवों का योग होते हुए भी अवयवों के भावात्मक समेकन के कारण अधिक प्रभावक्षम होता है।

---

१. द क्रीटीसिज़्म आव पोएट्री, एस०एच० बर्टन, पृ १०४

२. वही , पृ १०६

बर्टन `कविता की तुरंत अपील` को महत्वपूर्ण मानते हैं। आनंदवर्धन ने भी असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य रस को इसीलिए महत्व दिया था। उस स्थिति में वाच्यार्थ के साथ सा ही रस रूप अर्थ प्रकाशित होता है, कविता की अपील में विलंब नहीं होता।

६.११ बिम्ब का प्रभाव वाच्य नहीं होता। एक अनुभूति अनेक तात्कालिक और पूर्वदृष्ट बिम्बावयवों से बिम्बित होती है। इन सब अवयवों का रंग और अर्थ छटा इस बिम्ब में होगी। प्रेरक अनुभूति तक पहुंचने में इन सब रंगों के भीतर जाना होगा। वह अनुभूति तल पर नहीं होगी, पारदर्शी तल के भीतर झिलमिलायेगी, प्रतीयमान होगी। अत: जो लोग बिम्ब में अभिधा द्वारा सौन्दर्यविधान की स्थापना मानते हैं -- भ्रम में हैं। बिम्ब और प्रेरक अनुभूति में व्यंग्य-व्यंजक भाव संबंध है।

बिम्ब के विषय में डा० नगेन्द्र की ताज़ा पुस्तक `काव्यबिम्ब` प्रकाशित हुई है। बिम्ब की मूल्यवत्ता के विषय में पृ ५८, ५९, ६१ और ६२ पर चर्चा की गई है। इस विचार-चर्चा में दो प्रकार के दृष्टिकोण प्रकट किये गये हैं --

(१) `अत: राग से निर्लिप्त स्वच्छ-स्फुट बिम्ब अपना साध्य आप ही है, कला के वृत्त में उसका अपना स्वतंत्र और केन्द्रीय अस्तित्व है। विचार के संप्रेषण का माध्यम या अनुभूति की व्यंजना का साधन मानकर उसकी गौणता प्रतिपादित करना कला के प्रति गलत दृष्टिकोण का परिचायक है।` ....

(२) `अनुभूति और विचार से असम्बद्ध हो जाने पर बिम्ब के सौन्दर्य आदि गुणों की कल्पना भी अप्रासंगिक हो जाती है क्योंकि इन गुणों का आधार भी तो अनुभूति ही है, माधुर्य का संबंध चित्त के द्रवीभाव और औदात्य का मन की ऊर्जा के

साथ है। किसी बिम्ब का मूल्य इसलिये नहीं है कि वह चित्त को द्रवीभूत या ऊर्जस्वित करता है अथवा उसके द्वारा प्रमाता में किसी भाव-विशेष का उद्रेक होता है। इस प्रकार का भावपरक या आत्मपरक दृष्टिकोण बिम्ब के वास्तविक मूल्य का आकलन नहीं कर सकता : बिम्ब का मूल्य तो उसकी अपनी सजीवता एवं प्रखरता के कारण ही होता है। बिम्ब की सार्थकता प्रसंग के अनुकूल होने में नहीं है। प्रसंग से कटकर भी उसकी सार्थकता हो सकती है। रत्न की मूल्यवत्ता सिद्ध करने के लिए मुद्रिका का परिवेश आवश्यक नहीं है।'

उपर्युक्त कथनों में बिम्ब को अन्य अपेक्षाओं से मुक्त, स्वयं में साध्य माना गया है, जैसे रत्न की मूल्यवत्ता मुद्रिका निरपेक्ष है वैसे ही बिम्ब की मूल्यवत्ता भी है। अनुभूति और बिम्ब को डा० नगेन्द्र व्यवहार में पृथक करना भी आवश्यक मानते हैं --

'अनुभूति और बिम्ब को एक दूसरे से पृथक नहीं किया जा सकता। फिर भी व्यवहार में इनको पृथक मानकर चलना अनिवार्य हो जाता है : स्वयं शंकर के अद्वैत दर्शन अथवा बौद्धों के शून्यवाद में अहम् और इदम् का भेद करना ही पड़ जाता है।'[1]

परन्तु फिर डा० नगेन्द्र ने बिम्ब को साधन रूप माना है --

'सामान्य व्यवहार में हम अनुभूति के कतिपय गुणों की चर्चा करते हैं। जैसे सूक्ष्मता, तीव्रता, प्राबल्य, विस्तार या व्यापकता आदि। इनमें कल्पना का योग हो जाने से अनुभूति में समृद्धि का समावेश हो जाता है और उधर नैतिक आदर्शों से संयुक्त होकर अनुभूति शुद्ध और सात्त्विक बन जाती है। सर्जना के क्षणों में अनुभूति के ये नाना रूप कवि की कल्पना पर आरूढ़ होकर

---

१. काव्य बिम्ब, डा० नगेन्द्र, पृ ६१

जब शब्द-अर्थ के माध्यम से व्यक्त होने का उपक्रम करते हैं तो इस सक्रियता के फल स्वरूप अनेक मानस-छवियां आकार धारण करने लगती हैं - आलोचना की शब्दावली में इन्हें ही काव्य बिम्ब कहते हैं। इस प्रकार बिम्ब अमूर्त अनुभूति को शब्दमूर्त करने के अत्यंत प्रभावी माध्यम-उपकरण या दूसरे शब्दों में मूर्तन -प्रक्रिया के महत्वपूर्ण अंग है, इसमें संदेह नहीं। परन्तु इनका स्वतंत्र महत्व नहीं है - काव्य बिम्ब में जो काव्य तत्व है, उसका आधार अनुभूति या भावानुभूति ही है। अत: अनुभूति के उत्कर्ष से बिम्ब का उत्कर्ष होता है, यही सत्य है।[1]

वस्तुत: बिम्ब साधन है, डा० नगेन्द्र की यह द्वितीय धारणा ही ठीक है। रत्न के सदृश बिम्ब की निरपेक्ष मूल्यवत्ता नहीं है। बिम्ब इसलिये महत्वपूर्ण है कि वह व्यंग्यार्थ के रूप में कवि की अनुभूति से प्रमाता का साक्षात् कराता है। अनुभूति बिम्ब के माध्यम से संप्रेषणीय हो जाती है।

जीवनानुभवों से परिपक्व, जग के रहस्यों को अपनी सूक्ष्म दृष्टि से उन्मीलित करने वाला कवि अपनी अनुभूति को बाह्य वस्तु जगत के उपादानों के माध्यम से व्यक्त करता है। वह ऐसी वस्तुओं का, ऐसी दृश्यावली का चयन करता है कि अनुभूति साकार हो सके , पाठक के मानस में उसका बिम्ब बन सके।

बिम्ब निर्माण में भाषा सम्पदा का समुचित उपयोग अपेक्षित है। बिम्बविधान की सफलता भाषासामर्थ्य की कसौटी है। बिम्ब की व्यंजकता उसकी मूर्तता और संक्षिप्तता पर निर्भर करती है। एक सफल बिम्ब पाठक की कल्पना को स्पष्ट और मूर्त विवरण द्वारा प्रेरणा देता है, आवेग देता है। तब पाठक की कल्पना स्वयं इन विवरणों से संबद्ध आसंगों को उसके मानस में जाग्रत कर देती है।

---

१. काव्यबिम्ब , डा० नगेन्द्र, पृ ६२

६.१२ यहां आधुनिक हिन्दी कविता से कुछ बिम्बों के उदाहरण प्रस्तुत किये जा रहे हैं --

(१) सुख, केवल सुख का संग्रह,
केन्द्रीभूत हुआ इतना ।
छायापथ में नव तुषार का,
सघन मिलन होता जितना ।
(कामायनी, चिन्ता सर्ग)

कामायनी की उपर्युक्त पंक्तियों में अमूर्त अनुभूति को साकार किया गया है। इन पंक्तियों का कथ्य `सुख की दाणिकता की अनुभूति` है। संदर्भ के विमर्श से इस उद्धरण का प्रत्येक शब्द व्यंजक बन जाता है। प्रथम पंक्ति में `सुख` के पश्चात् पुन: `केवल सुख` यह व्यंजित करता है कि देव जाति में दु:ख था ही नहीं। `केवल` पद , सुखेतर अन्य सब का अभाव व्यंजित करता है। `इतना` पद अंतिम दो पंक्तियों के संदर्भ में काल व्यंजक हो गया है। आकाश के छायापथ (आकाशगंगा) में तुषार का मिलन यद्यपि होता सघन है पर यह स्थिति कुछ समय के लिए ही होती है। उसी प्रकार देवता और सुख परस्पर मिल गए थे, सुख और देवता पर्याय हो गए थे। `सघन मिलन` इस एकाकारता , पर्याय का व्यंजक है।

जब कवि ने देव सुखों की दाणिकता को कहना चाहा होगा तो उसकी कल्पना ने, उसके मानस-कोश में निहित पूर्वानुभूत दृश्यों के बिम्बों को जाग्रत किया होगा और दाणिकता के सादृश्य ने `छायापथ और तुषार के सघन मिलन` के बिम्ब को आकृष्ट किया होगा। केन्द्रीभूत पद की भी विशिष्ट व्यंजना है। देवताओं ने सुख का संग्रह किया, फिर वही संगृहीत सुख केन्द्र बन गया, देवता उस सुख के चतुर्दिक घूमने लगे। `सुख` की दाणिकता की अनुभूति इस बिम्ब में वाच्यत: नहीं कही गई है, वह इस बिम्ब में प्रयुक्त विशिष्ट शब्दों के समुच्चय रूप बिम्ब से ही व्यंजित हो रही है।

(२) मेखलाकार पर्वत अपार,
अपने सहस्त्र दृग-सुमन फाड़ ।
अवलोक रहा है बार-बार,
नीचे जल में निज महाकार ।
जिसके चरणों में पला ताल,
दर्पण सा फैला है विशाल ।

(पंत,)

कवि पंत की उपर्युक्त पंक्तियों में एक बिम्ब है । पाठक के मानस में दर्पण में आँखें गड़ाए, झुके हुए एक दीर्घाकार पुरुष का बिम्ब उभरता है । फिर इसके सादृश्य से पुष्पों से आच्छादित पर्वत, उसके चरणों (नीचे) में फैला विशाल दर्पण जैसा ताल एक-एक कर स्पष्ट होने लगते है, एक पूरा चित्र सा बन जाता है । पाठक पुष्पाच्छादित पर्वत और उजले ताल के सौन्दर्य से अभिभूत होने लगता है । यही सौन्दर्यानुभूति इन पंक्तियों का व्यंग्य है । कवि ने इस प्राकृतिक दृश्य को देखा, मुग्ध हुआ, सौन्दर्य ने उसके मुग्ध मन को आलोड़ित किया । फिर कभी जब उसने शांत और एकांत क्षण में इसे स्मरण किया होगा, तब उसकी सृजनशील कल्पना ने पूर्वानुभूत (दर्पण पर झुके दीर्घ मनुष्य) दृश्य के सहारे इस सौन्दर्य को बिम्बित किया ।

(३) बाग के बाहर थे झोंपड़े,
दूर से जो दिखरहे थे अधगड़े,
जगह गन्दी रुका सड़ता हुआ पानी,
मोरियों में जिन्दगी की लन्तरानी,
बिलबिलाते कीड़े, बिखरी हड्डियां,
सेल्हरों के परों की थी गड्डियां,
कहीं मुर्गी कहीं अंडे
धूप खाते गए कंडे । (निराला

निराला के उपर्युक्त बिम्ब-विधान में, दृश्य का यथातथ्य प्रस्तुतीकरण है। दृश्य की प्रत्येक रेखा को इस प्रकार उकेरा गया है कि पाठक के मानस पर पूर्ण चित्र अंकित हो जाय। इसमें कोई वस्तु सादृश्य नहीं कहा गया है तब भी शब्दों को व्यंजना के ऐसे प्रकम में प्रस्तुत किया गया है कि बिम्ब अनेक भावनाओं को व्यंजित करता है। उपर्युक्त उद्धरण में, प्रथम पंक्ति में प्रयुक्त (बाग के बाहर' ही केन्द्रीय पद है। इस की सहायता से बिम्ब 'वैषम्य' की तीव्र प्रतीति को व्यंजित करता है। बाग़ शब्द में प्रसन्नता का भाव है, यदि इसके स्थान पर 'उपवन' प्रयुक्त किया जाता तो 'वैषम्य' उतनी सफलता से व्यक्त न होता। तो एक ओर तबीयत को बाग-बाग करने वाला बाग है, दूसरी ओर झोंपड़े, जिनका वर्णन शेष सात पंक्तियों में किया गया है।'अधगड़े' से झोपड़ों की नीचाई व्यंजित है। 'मोरी' गंदे पानी की ही होती है,'मोरियों में जिन्दगी' प्रयोग, गलीज़ जिन्दगी को आंखों के सामने उजागर करता है। मोरियों के स्थान पर 'नालियों' प्रयोग इतना सक्षम न होता। गंदगी पर बल देने के लिए 'मोरियों' प्रयोग अधिक उपयुक्त है। संपूर्ण कविता का कथ्य है, बाग़ और उसके बाहर स्थित झोंपड़ियों के जीवन का कन्ट्रास्ट। इसमें कोई)उपमा नहीं, सादृश्याधारित प्रतीक नहीं, बस व्यंजक शब्दों की प्रयुक्ति कला का चमत्कार है।

(४) एक बीते के बराबर,
यह हरा ठिंगना चना,
बांधे मुरैठा शीश पर,
छोटे गुलाबी फूल का,
सजकर खड़ा है।
पास में मिलकर उगी है,
बीच में अलसी हठीली,
देह की पतली कमर की है लचीली,

नीले फूले फूल को सिर पर चढ़ाकर,
कह रही है जो छुए यह,
दूं हृदय का दान उसको,
और सरसों की न पूछो
हो गई सबसे सयानी,
हाथ पीले कर लिए हैं
ब्याह मंडप में पधारी,
फाग गाता मास फागुन,
आ गया है आज जैसे,
देखता हूं मैं स्वयंबर हो रहा है ।

(केदारनाथ, युग की गंगा)

उपर्युक्त कविता में खेत में उगे चने, अलसी और सरसों के पौधों के सौन्दर्य को फागुन के संदर्भ सहित बिम्ब द्वारा प्रस्तुत किया गया है । कवि की वर्णन शैली के कारण पौधे मात्र पौधे न रह कर प्राणवान अस्तित्व में रूपांतरित हो गए से लगते हैं । देह की पतली अलसी, सयानी सरसों और गुलाबी फूल का मुरैठा बांधे हरा बीते भर का चने का पौधा, फागुन आदि मानस में साकार होने लगते हैं । जब सहृदय `स्वयंबर` पद तक पहुंचता है तो चने का पौधा, छोटे, अकड़े हुए दूल्हे में बदला प्रतीत होता है, अलसी तन्वंगी सुकुमारी युवती में परिवर्तित हो जाती है । एक मस्ती, फागुन का सौन्दर्य, सुगंध सब जैसे साकार हो उठे हैं । पाठक स्वयं को उस मस्ती का भागीदार बना सा अनुभव करता है । यह मस्ती, या सौन्दर्य, फागुन की हवा का गान - इस कविता के व्यंग्य हैं ।

स्पष्ट है कवि ने इस दृश्य को देखा, अनुभव किया और कल्पना ने सादृश्य पाकर `स्वयंबर` को उपस्थित कर दिया ।

(५) सीपियां,
ये शुभ्र नीलम,
दर्द की आंखें फटी सी,
जो कमी अब नहीं मोती दे सकेंगी ।

(अज्ञेय, इ०ध०रौं०ये पृ ६६)

यह एक सरल बिम्ब है । भाव प्रवण कवि-मानस खुली सीप देखकर विचित्र सा अनुभव करता है । कवि ने कभी तीव्र पीड़ा के आघात से एकाएक विस्फारित आंखों को देखा होगा, यह बिम्ब उसके चेतन अथवा अचेतन मानस-कोश में निहित होगा । खुलेपन, और श्वेत-नीलम वर्ण के सादृश्य ने उस मानस-कोश-निहित बिम्ब को आकृष्ट किया । तब कवि ने कहा 'सीपियां दर्द की आंखें फटी सी' । दर्द से फटी आंखें जड़ हो जाती है-- उसमें आंसू नहीं आते । फटी सीप में भी फिर मोती नहीं बनता । खुली सीप को देखकर जो अनुभूति कवि-मानस में कसमसाई, उसी की व्यंजना इन पंक्तियों में हुई है । दर्द की आंखों विशेष चमत्कारपूर्ण है । 'दर्द से फटी आंखें' कहने में यह चमत्कार संभव न था । पीड़ा का अति आवेश 'फटी आंखें' प्रयोग से व्यक्त होता है ।

(६) किन्तु सुना है
वज्रकीर्ति ने मन्त्रपूत जिस
अति प्राचीन किरीटी-तरु से इसे गढ़ा था -
४- उस के कानों में हिम-शिखर रहस्य कहा करते थे अपने
५- कन्धों पर बादल सोते थे
६- उसकी करि-शुन्डों-सी डालें
७- हिम वर्षा से पूरे वन-यूथों का कर लेती थी परित्राण
८- कोटर में भालू बसते थे,
६- केहरि उसके वल्कल से कन्धे खुजलाने आते थे ,
१०- और सुना है जड़ उसकी जा पहुंची पाताल-लोक
११- उसकी गन्ध-प्रवण शीतलता से टिका नाग वासुकि सोता था ।

उपर्युक्त खंड अज्ञेय की असाध्य वीणा कविता से उद्धृत है । वैसे 'असाध्यवीणा' संपूर्ण कविता बिम्बों का कोश है, इस लंबी कविता में शब्द शिल्प का चमत्कार पूर्ण उत्कर्ष पर है । कुछ बिम्ब ऊपर के उद्धरण में द्रष्टव्य हैं । विशेषता यह है कि एक-एक पंक्ति के साथ चित्र क्रमश: पूरा होता हुआ श्रोता अथवा पाठक के मानस पर छा जाता है । 'असाध्य वीणा' जिस किरीटी तरु से बनी थी उसका वर्णन सम्पूर्ण वृक्ष को, शिखा से जड़ तक साकार कर देता है । ४ और ५ पंक्ति में 'किरीटी-तरु' की ऊंचाई, ६-७ पंक्ति में विशालता, ८ वीं पंक्ति में तने की गहनता, तथा ६वीं और १०वीं पंक्ति उसके पाताल तक विस्तार को व्यंजित करती हैं । कवि ने वृक्ष के इस आकार को व्यंजना द्वारा व्यक्त किया है । कविता की पंक्तियां वाक्य-व्यंजकत्व का सुन्दर उदाहरण हैं । इस वृक्ष के आकार को प्रस्तुत करने के उपरांत कवि अन्य संदर्भों के बिम्ब उपस्थित करता है --

> 'हां, मुझे स्मरण है :
> बदली-कौंध-पत्तियों पर वर्षा-बूंदों की पटपट
> घनी रात महुए का चुपचाप टपकना
> चौंके खग-शावक की चिहुक

उपर्युक्त बिम्ब का श्रावण प्रभाव व्याख्या की अपेक्षा नहीं करता ।

मूर्त दृश्य के लिए अमूर्त उपमान-योजना का कथन भी बिम्ब विधान में किया जाता है स्थूल दृश्य के सौन्दर्य से अभिभूत कवि अमूर्त उपमानों की शृंखला प्रस्तुत करता है । कुंवर नारायण की निम्नलिखित कविता में यही विधि ग्रहण की गई है :

(७) दूर तिरते छिन्न बादल
स्वप्न के ज्यों मिट रहे आकार,
सहसा चेतना में अधमिटे ही थम गए हों ।

(चक्रव्यूह : ओस न्हाई रात)

'दूर तिरते छिन्न बादल' प्रत्यक्ष दृश्य है, पर 'स्वप्न के मिटते आकार' अनुभूति का विषय है । प्रत्यक्ष दृश्य से कभी-कभी कोई पुरानी घटना, विचार अथवा भाव जाग्रत हो जाता है और कवि उसे उपमान रूप में प्रयुक्त कर लेता है । इस प्रकार के प्रयोगों में अमूर्त अनुभूति ही अधिक प्रभावक्षम प्रतीत होती है ।

कुंवर नारायण की ही एक कविता और है --

(८) एक मुट्ठी कौड़ियों से श्वेत बगुले
व्योम पर फिंक कर खिले
फिर खो गए ।

(कुंवर नारायण : चक्रव्यूह, एक दांव)

उपर्युक्त बिम्ब का केन्द्र 'खिले' पद है । नीले आकाश में श्वेत बगुले रंग कन्ट्रास्ट के कारण खिल उठे । द्वितीय अर्थ यह होगा कि कौड़ियों जैसे सफेद बगुले खेले गए, फिर जैसे कौड़ियां समेट ली जाती हैं, बगुले तिरोहित हो गए । इस बिम्ब-योजना में कवि के पूर्वदृष्ट दृश्य का प्रयोग स्पष्ट है । रंग का कन्ट्रास्ट और बगुलों को प्रकट फिर गायब होने का सौन्दर्य इसका व्यंग्य है ।

(६) ज्योति के पंजे ठहरते रात पर पैने
घेरकर तम को उतरते आग के डैने
चमकता सोनपंखी गरुड़ काले सांप पर (वही)

इस बिम्ब के अवयव 'गरुड़' और सर्प, हैं । कवि को परंपरा से इस रूढ़ि का ज्ञान है कि गरुड़ सर्प को खाता है । अपने ज्ञान से उसने

`गरुड़` और `सर्प` का चयन किया। सूर्य के सुनहले रूप को साकार करने के लिए `सौनपंखी` गरुड़ कहा। इस गरुड़ के पंजे भी ज्योति के हैं, ये पंजे पैने हैं, चुभने वाले हैं। किरणों का चुभने वाला गुण व्यंग्य है। सूर्य की जलती हुई किरणें अंधकार को चारों ओर से घेरती हैं जैसे विशाल गरुड़ सर्प को घेरले, पंजों से पकड़ ले। प्रात: काल का सुनहला प्रकाश, फूटती किरणें, गायब होता अंधकार इस कविता का व्यंग्य है।

(११) जब फूटा सुनहला सोता
सिंदूरी सबेरा बादलों की सैकड़ों
स्लेटी तहों को
चीरकर इस भांति उभर आया
कि जैसे स्नेह से भर जाए मन की हर सतह
हर वासना जैसे सुहागन बन उठे।

(जगदीश गुप्त)

उपर्युक्त उद्धरण की प्रथम चार पंक्तियों में वर्णित दृश्य और अंतिम दो पंक्तियों के कथ्य में सादृश्य है। यद्यपि प्रस्तुत `फूटा सुनहला सोता` ... आदि है पर अप्रस्तुत अधिक प्रभाव उत्पन्न करता है। प्रतीयमान अर्थ का सौन्दर्य `हर वासना जैसे सुहागन बन उठे` में है। स्नेह जब मन की प्रत्येक सतह में आपूरित हो जाय, पोर-पोर में बस जाय तो जैसे हर कामना पूर्ण होती प्रतीत होती है, सुख का, पूर्णकाम होने का अहसास होता है। यही इस कविता का व्यंग्य है। कविता का व्यंग्य अंतिम दो पंक्तियों में निहित है, यह इसलिये भी सत्य है कि प्रथम चार पंक्तियों में उगते सवेरे का बिम्ब स्वयं में पूर्ण है। उसे चित्रित करने के लिए अंतिम दो पंक्तियों की बहुत आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।

(१२) कभी आंगन में अकेले सद्य जागे मुग्ध शिशु जैसा
स्वत: संपूर्ण
तारा चमक आता है ।

(अज्ञेय : बावरा अहेरी)

उपर्युक्त बिम्बा का व्यंग्य, तारे का एकाकीपन, भिलमिलाहट आदि है ।

बिम्बों के उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि बिम्ब में कवि की अनुभूति प्रतीयमान रूप में रहती है । बिम्ब व्यंजक है, अर्थ और बिम्ब में व्यंजक-व्यंग्य भाव संबंध है ।

६.११ मिथ (Myth)

काल-प्रवाह में जब मूर्त घटना अमूर्त प्रतीक बन जाती है, तो उसे मिथ कहा जाता है । मिथ में एक प्रकार का विचार दूसरे प्रकार में अनूदित होता है । बहुधा मिथ जटिल होता है, उदाहरणार्थ प्रोमिथियस अथवा ओडीपस के मिथ लिए जा सकते हैं । ये मिथ असंख्य व्यंग्यार्थों से युक्त हैं । मिथ में जितने व्यंग्यार्थ होंगे, वह उतना ही समृद्ध होगा ।[१] जैसे एकार्थी होना गद्य का गुण माना जाता है वैसे ही अनेक अर्थों की व्यंजना करना कविता का गुण है ।

काव्यात्मक मिथ संघनन (Condensation) है । । अनेक अर्थों का एकीभूत रूप मिथ में होता है, परिणामत: व्याख्या की प्रक्रिया में वह अनेक अर्थों की व्यंजना करता है, इसीलिए मिथ की व्याख्या सामान्यत: कठिन होती है ।

मिथ से संबद्ध घटनाओं, उसके निष्कर्षों का प्रतीकात्मक प्रयोग काव्य में होता है । नई कविता में बहु-प्रयुक्त 'अभिमन्यु' का मिथ, व्यक्ति से हटकर भावमूलक हो गया है । मिथ वस्तुत: पुराण कथाओं से गृहीत प्रतीक है । अभिमन्यु मिथ का अर्थ है - 'छल-कपट से घिर कर

---

१. पोएटिक माइन्ड, प्रेसकाट, पृ.६०

मारा जाता हुआ सत्य । पौराणिक आख्यान अथवा उसका कोई अंश वाचक से व्यंजक हो कर काव्य का उपादान बन जाता है। मिथ की कोशगत परिभाषा भी इस धारणा को ही व्यक्त करती है- 'ऐतिहासिक, पौराणिक गाथा जो मानव प्रकृति, प्राकृतिक निष्कर्ष, मानव के उदय, व्यवहार, परंपरा आदि को व्यक्त करती है -- मिथ है।[१] कालांतर में ऐतिहासिक गाथा, काल की सीमाओं से मुक्त होकर भाव मात्र रह जाती है, तभी वह काव्य में प्रयोगार्ह होती है।

आनंदवर्धन ने प्राचीन और बार-बार प्रयुक्त किए गए आख्यानों में नूतनता-समावेश की चर्चा की है। प्रचीन और बार-बार प्रयुक्त आख्यान का वाच्यार्थ तो एक ही होता है, पर नये संदर्भों में नये-नये व्यंग्यार्थों के संस्पर्श से वह नूतन सा लगता है।[२] प्रतीयमान अर्थ के साधन स्वरूप मिथ, प्रतीक, बिम्बादि के मार्ग का आश्रय ग्रहण कर कवियों की प्रतिभा भी अनन्त हो जाती है।

अतएव यह प्रमाणित तथ्य है कि मिथ प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति कराता है, इसी में उसकी उपयोगिता है।

६.१४ यहां आधुनिक काव्य में प्रयुक्त कतिपय मिथों के उदाहरण देकर उनकी व्यंजकता स्पष्ट की जा रही है।

१. आज भागीरथ सफल श्रम,
ध्येयपूर्ण बना रहा है।
आज जनगंगा प्रवाहित
वेग बढ़ता जा रहा है।
ढह रहे हैं स्वप्न कल के,
चूर्ण हैं चट्टान के कण,
हैं कहां शिव की जटाएं,
रोक लें जो एक भी क्षण (शिवमंगलसिंह सुमन : प्रलय,सृजन)

---

१. वेब्स्टर कोश, पृ.६४२

२. 'वाणी नवत्वमायाति पूर्वार्थान्वयवत्यपि' ध्व०, पृ.३३६, आ०वि०

भागीरथ और गंगा का प्रसंग भारतीय संस्कृति की महत्वपूर्ण कथा है। 'भागीरथ-प्रयत्न' नाम से रूढ़ि बनकर लोक में भी प्रचलित है। अनेक बाधाओं को दूर कर, भागीरथ गंगा को धरती पर लाए थे। इस आख्यान का वाच्यार्थ यही है। परन्तु आधुनिक काव्य में यह मिथ नये संदर्भों में प्रयुक्त किया जा कर नये अर्थों की व्यंजना करता है। भागीरथ जिस गंगा को लाए थे, उसे शिव ने अपनी जटाओं में रोक लिया था, पर आज के भागीरथ ने जो जन-गंगा का प्रवाह उठाया है उसे भला कौन से शिव रोक पाएंगे ? जन-चेतना के प्रवाह को जाग्रत कर गतिशील करना कठिन कार्य है, इसलिए इस कार्य को करने वाले को भागीरथ कहा है। गंगा ने अनेक पर्वत शृंग तोड़े थे, जन-चेतना के प्रवाह ने सड़ी-गली परंपराओं के पुराने स्वप्न तोड़ दिए हैं, पर अंतर यह है कि उस गंगा के प्रवाह को शिव ने रोका था, इस प्रवाह को रोकने वाला कोई नहीं है। जन-चेतना के उद्वेलन रूप कार्य की कठिनता और उद्वेलित होने पर उसकी अप्रतिहतता, 'भागीरथ मिथ' के प्रयोग से व्यंजित हुई है।

२. रे रोक युधिष्ठिर को न यहां,
जाने दे उनको स्वर्ग धीर-
पर, फिर हमें गाण्डीव गदा
लौटा दे अर्जुन भीम वीर।

(दिनकर, हुंकार हिमालय)

युधिष्ठिर अपने चारों भाई और द्रौपदी के साथ हिमालय में गलकर प्राण त्यागने गए थे। इसी गाथा को दिनकर ने नवीन संदर्भ में प्रयुक्त किया है। आज भारतवर्ष को युधिष्ठिर जैसे शांतिप्रिय सत्यवादी की, विशेषत: जोर से असत्य और धीरे से सत्य बोलकर सत्यवादी कहलाने वाले की आवश्यकता नहीं है, वे स्वर्ग जाएं। आज हमें गाण्डीव धनुष और उसे धारण करने वाले अर्जुन तथा भीम की गदा और भीम की

आवश्यकता है। इसलिए कवि हिमालय से कहता है, युधिष्ठिर को स्वर्ग जाने दे, उन्हें यहां न रोक, हमें भीम और अर्जुन लौटा दे। देश के युगधर्म की आवश्यकता, शक्ति और शक्ति प्रयोग करने वालें की आवश्यकता देश को है, यह कथ्य इस मिथ के प्रयोग का व्यंग्य है। मिथ तो केवल इतनी है कि पांडव हिमालय में गए थे, कवि ने उसे नए संदर्भ में, नए अर्थ में प्रयुक्त किया है। भारतीयों की तत्कालीन मानसिक स्थिति की गूंज इन पंक्तियों में व्यंजित है। मिथ जब इस प्रकार प्रयुक्त होता है तो प्राचीन होते हुए भी सहृदय-हृदय-रंजन में समर्थ होता है।

प्रगतिवादी कवियों ने पुराख्यानिक पात्रों को नए संदर्भ में प्रस्तुत कर भारतीय समाज की विडंबनापूर्ण स्थिति पर तीखा व्यंग्य किया है --

३. व्यास मुनि को धूप में रिक्शा चलाते
भीम-अर्जुन को गधे का बोझ ढोते देखता हूं।
सत्य के हरिचन्द को अन्यायघर में
झूठ की देते गवाही देखता हूं
द्रौपदी को और शैव्या को सची को
रूप की दूकान खोले
लाज को दो-दो टके में बेचते मैं देखता हूं।

(सुमन : विश्वास बढ़ता ही गया)

उपर्युक्त पंक्तियों में व्यास, भीम-,अर्जुन, हरिचन्द, द्रौपदी, शैव्यादि क्रमश: ज्ञान, बल, सत्य, सतीत्व और एकनिष्ठा के प्रतीक बन गए हैं। ये पुराख्यानिक पात्र अपने व्यक्तित्व से मुक्त होकर भावों के द्योतक हैं। अपनी सांस्कृतिक परंपराओं पर गर्व करने वाले भारतीय समाज में व्यक्ति का, उसकी योग्यता का कोई मूल्य नहीं है। बलवानों

के बल की नियति रिक्शा चलाने में है। सतीत्व को पूज्य मानने वाले भारत की नारियाँ रूप-जीवा बन कर समय काट रही है। प्राचीन सांस्कृतिक धरोहर और आधुनिक स्थिति का कन्ट्रास्ट इस मिथ का व्यंग्य है।

४. फेनिल आवर्तों के मध्य
अजगरों से घिरा हुआ
विष बुझी फुंकारें
सुनता सहता
अगम नीलवर्णी
इस जल से कालियादह में
बहता
सुनो, कृष्ण हूँ मैं
भूल से साथियों ने
इधर फेंक दी थी जो गेंद
उसे लेने आया हूँ
आया था
आऊँगा
लेकर ही जाऊँगा।

(दुष्यंत कुमार : सत्यान्वेषी)

उपर्युक्त कविता में श्री कृष्ण की 'कालिया-दमन' की घटना को नए संदर्भ में प्रस्तुत किया गया है। सत्यान्वेषण की तीव्र, विश्वास-पूर्ण इच्छा की व्यंजना आठवीं पंक्ति के 'सुनो' और अंतिम पंक्ति के 'ही' से व्यक्त होती है। जब तक वह सत्य मिल न जाएगा, तब तक यह प्रयत्न चलेगा, यह भाव 'आऊँगा' से व्यक्त होता है। युग-भ्रम के वातावरण में सत्यान्वेषण के दृढ़ प्रयास की कामना इस पौराणिक मिथ द्वारा व्यंजित हुई है।

आधुनिक काव्य में अभिमन्यु - मिथ एकाधिक बार प्रयुक्त हुआ है। वस्तुत: आज के परिस्थितियों में घिरे व्यक्तियों के टूटने का भाव अभिमन्यु मिथ से भली भाँति व्यक्त होता है। अभिमन्यु की नियति उसके गर्भ में स्थित होने के समय ही निश्चित हो गई थी। अर्जुन ने गर्भभारालसा उत्तरा के मनोरंजन हेतु उसे चक्रव्यूह-रचना और उसके भेदन की विधि बतलाई, इसको सुनने के पश्चात उत्तरा सो गई अत: अर्जुन निकलने की विधि न बता सका। गर्भस्थित अभिमन्यु भी चक्रव्यूह-भेधन तक ही सीख सका, निकलना नहीं। जब अर्जुन की अनुपस्थिति में, महाभारत युद्ध में, चक्रव्यूह-भेदन का प्रसंग आया तो समस्या उत्पन्न होगई, तब अभिमन्यु ने कहा कि व्यूह को भेद तो वह देगा पर लौटना नहीं जानता, क्योंकि गर्भ में वह उतना ही सीख पाया था। यह स्पष्ट है कि उसका प्रारब्ध निश्चित था, वह प्रवेश कर लेगा - पर उसके आगे ? शत्रु से घिर जाना और फिर मृत्यु उसकी नियति होगी। अभिमन्यु की ही भाँति आज का मानव अपरिचित जीवन के चक्रव्यूहों में नियति द्वारा फेंक दिया जाता है। वह अपने पुरुषार्थ से बंधी-बंधाई लीकों को तोड़ने का प्रयत्न करता है, पर लक्ष्य तक उसका जयनाद ही पहुंचता है, वह स्वयं नहीं।

५. शान्त हो,
काल को भी समय थोड़ा चाहिए,
जो घड़े कच्चे अपात्र डुबा गये मंझधार
तेरी सोहनी को चन्द्रभागा की उफनती छालियों में,
उन्हीं में से उसी का जल अनन्तर तू पी सकेगा।

(अज्ञेय)

सोहनी-महिवाल पंजाब का लौकिक आख्यान है। सोहनी घड़ों की नौका बनाकर अपने प्रिय महिवाल से मिलने जाती थी। एक बार

जब उसने घड़ों की नौका पानी में डाली तो बीच धार में जाकर घड़े गल गए, वे कच्ची मिट्टी के थे, सोह्नी डूब गई। इस मिथ का प्रयोग अज्ञेय ने समय की प्रबलता, आदर्श की अपेक्षा यथार्थ की सत्यता को व्यंजित करने के लिए किया है। जिस चन्द्रभागा में सोह्नी डूब गई, वह महिवाल के लिए करुण भाव का उद्दीपन है, उसे देखकर महिवाल दु:ख-सागर में आकण्ठ निमग्न हो सकता है। पर, यथार्थ अधिक शक्तिशाली है, समय बड़े से बड़े दु:ख के घाव को पूर देता है। इसीलिए कवि कहता है --'कुछ दिन ठहर, काल को भी समय चाहिए फिर तू उसी चंद्रभागा का जल पीएगा, उन्हीं घड़ों से पीएगा, जिन्होंने तेरी सोह्नी को डुबो दिया था।'

६. क्रौन्च बैठा हो कभी वल्मीक पर
तो मत समझ वह अनुष्टुप बांचता है,
संगिनी के स्मरण में,
जान ले वह दीमकों की टोह में है।

(अज्ञेय)

क्रौन्च की प्रिया-विरह-कातर वाणी से प्रभावित होकर ही वाल्मीकि ने श्लोक रचा था, वह प्रथम छन्द अनुष्टुप था। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि जब क्रौन्च दिखे तो वह करुणा-कातर ही हो। यदि वल्मीक पर क्रौन्च बैठा हो तो वह दीमकों की खोज में होगा। 'अनुष्टुप बांचता है' की व्यंजना शोक कातर होना' है, क्योंकि वाल्मीकि का अनुष्टुप शोक की अभिव्यक्ति था।

'ताजमहल', 'द्रोणाचार्य,' 'एकलव्य,' 'आदम का निषिद्ध फल' अनेक मिथों का उपयोग आधुनिक काव्य में किया गया है।

मिथ के उपर्युक्त उदाहरण सहित विवेचन से यह प्रमाणित होता है कि मिथ व्यंजक उपादान है।

अतः आधुनिक हिन्दी काव्य का विवेचन यदि किसी काव्यशास्त्रीय सिद्धान्त के आधार पर किया जा सकता है तो वह 'ध्वनिसिद्धान्त' ही है। नई कविता की भाषा को कवियों और आलोचकों ने व्यंजना की भाषा माना है। प्रतीक, बिम्ब और मिथ को कविता का विशिष्ट उपादान कहा है - ये सब व्यंजक ही हैं। आनंदवर्धन ने अपने समय में प्रभूत मात्रा में उपलब्ध काव्य में प्रतीयमान अर्थ के सौन्दर्य का अनुभव कर के ही ध्वनिसिद्धान्त की स्थापना की थी।

उ प सं हा र

ध्वन्यालोक भारतीय काव्यशास्त्र का आकर ग्रन्थ है। संस्कृत काव्यशास्त्र की परंपरा में इसका उल्लेखनीय प्रभाव रहा है। ध्वनिसिद्धान्त वस्तुत: लक्षण ग्रन्थों से प्रमाणित सिद्धान्त है। काव्य का परीक्षण करने पर यह सिद्ध हो जाता है कि सहृदय को चमत्कृत करने वाला तत्त्व भी प्रतीयमान अर्थ ही है। किसी भी काल की कविता का विश्लेषण प्रतीयमान अर्थ के अस्तित्व और महत्त्व को सिद्ध करता है।

भारतीय काव्यशास्त्र की रस-परंपरा को नकार कर भी आधुनिक कवि और आलोचक भाषा की व्यंजना शक्ति को स्वीकार करता हुआ आधुनिक युगबोध जनित संप्रेष्य को काव्य में ध्वनित होना मानते हैं। पाश्चात्य काव्यशास्त्री भी प्रतीयमान अर्थ से गर्भित काव्य को श्रेष्ठ मानते हैं। अत: पूर्व अध्यायों के प्रकाश में यह निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा में ध्वनिसिद्धान्त महत्वपूर्ण उपलब्धि है। यह सिद्धान्त काव्य के मूल मूल प्रश्नों का समाधान करता हुआ उसके शाश्वत सत्य का उद्घाटन करता है।

आनंदवर्धन के परवर्ती काव्यशास्त्र में मूल तत्वों के विवेचन पर ध्वनिसिद्धान्त का प्रभाव स्पष्ट है। अभिनव ने रस की अभिव्यक्ति स्वीकार की, साधारणीकरण की शक्ति ध्वनन व्यापार में प्रतिपादित

की। महिम भट्ट, कुन्तक, धनंजय-धनिक आदि ने `ध्वनि` का विरोध किया। पर महिम भट्ट कृत विरोध केवल विरोध के लिए था। कुन्तक के वक्रोक्ति जीवित की पद प्रत्यय आदि में वक्रता अवधान प्रणाली ध्वन्यालोक से ही ग्रहण की गई है, यहां तक कि जिस उदाहरण में आनंदवर्धन ने निपात ध्वनि मानी है, कुन्तक ने उसी में निपात मानी है।

आचार्य क्षेमेन्द्र ने भी अपने ग्रन्थ की रूपरेखा का निरतार ध्वन्यालोक की प्रणाली पर किया है। यही नहीं ध्वन्यालोक के तृतीय उद्योत में औचित्य को संघटना नियामक तत्व कहा ही गया है। मम्मट आदि आचार्यों ने अलंकारों और गुणों का विवेचन ध्वन्यालोक-सम्मत ही किया है।

हिन्दी के आधुनिक साहित्यशास्त्री `रससिद्धान्त` पर ग्रन्थ लिखते हुए भी, `रस` को `ध्वनि` की अपेक्षा महत्व देते हुए भी (क्योंकि उनके ग्रन्थ रस-सिद्धान्त विषयक हैं।) मूल से ही सही इस सत्य को स्वीकार कर जाते हैं कि `रस` और `रसध्वनि` अभिन्न हैं।

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि भरत के `विभावानुभाव...` आदि सूत्र - नियंत्रित रससिद्धान्त नाट्य संदर्भीय था। आनंदवर्धन ने इसे काव्य के लिए प्रयोगार्ह बनाया अत: नाट्य संदर्भीय रस-सिद्धान्त की दृष्टि से जो महत्व भरत का है वही काव्यरस के संदर्भ में आनंदवर्धन का है। आनंदवर्धन के ध्वनिसिद्धान्त का सर्वातिशायी महत्व इस तथ्य में है कि वह वस्तु और अलंकार की प्रतीयमानता का भी प्रतिपादन करता है। रसध्वनि का महत्व तो है ही पर वह सर्वत्र तो नहीं होती। तब क्या वस्तु और अलंकार रूप अर्थ को व्यंजित करने वाले काव्य को काव्य न माना जायगा ? इस काव्य में सहृदयों को चित्त चमत्कृति का आनंद अनुभव होता है। `रस सिद्धान्त` इस प्रकार के काव्य की

व्याख्या में अक्षम है । यह सिद्ध किया जा चुका है कि ध्वनिसिद्धान्त ने काव्य की वस्तु और अलंकार कोटियों का भी तर्कसम्मत विवेचन किया है । संलक्ष्यक्रम के अंतर्गत बुद्धि का व्यापार और प्रतीयमान अर्थ के उद्घाटन से अभिव्यक्त आनंद की अनुभूति स्पष्ट है । आधुनिक मुक्तक कविता के आनंद की व्याख्या का यही आधार हो सकता है ।

अत: ध्वनिसिद्धान्त कविता के सभी अभिव्यक्ति प्रकारों को समेटता है । इस सिद्धान्त के रहते `रस सिद्धान्त` को `व्यापक` करने की अपेक्षा नहीं रह जाती । मानव हृदय की संपूर्ण `भाव संपदा` और `अनुभूति वैभव` अथवा `भावकुहार` का समावेश `रससिद्धान्त` में नहीं हो पाता, उसका समुचित समाधान ध्वनि सिद्धान्त में ही है । ध्वन्यालोक `काव्यशिक्षा` का ग्रन्थ भी है । अलंकारों का, गुणों का, वृत्तियों का, रस का आयोजन कवि को कैसे करना चाहिए इस विषय में निश्चित संकेत सूत्र उदाहरण सहित प्रस्तुत किए गए हैं । पूर्व अध्यायों के विवेचन से यह प्रमाणित किया जा चुका है कि अभिनव के रस-विवेचन का दृढ़ आधार तो ध्वन्यालोक है ही, अभिनवपरवर्ती आचार्य भी इस आधार को ग्रहण किए रहे हैं । हिन्दी के आधुनिक काव्यशास्त्रियों ने आनंदवर्धन और उनके ध्वन्यालोक का सही मूल्यांकन नहीं किया है, इसीलिए आज का कवि और हिन्दी आलोचक भारतीय काव्य शास्त्र और रस सिद्धान्त को पर्यायवाची मानकर रससिद्धान्त को अप्रयोगार्ह पाकर काव्य शास्त्र को ही नकारता है ।

ध्वनिसिद्धान्त काव्य की मूलभूत इकाइयों शब्द और अर्थ -- पर आधृत है । नैतिकता-अनैतिकता, धर्म-दर्शन, ब्रह्मानंद-आत्मानंद आदि से मुक्त ध्वनिसिद्धान्त काव्य को जीवन्त अस्तित्व मानकर उसका विवेचन करता है ।

आधुनिक शैलीशास्त्री और वीअरविश जैसे जर्मन काव्यशास्त्री जिस आधार पर शैलीशास्त्रीय विवेचन की प्रणाली प्रस्तुत करते हैं वह आनंदवर्धन ने नवम् शती में उपस्थित की थी । ध्वनिसिद्धान्त एक व्यवस्था (System) है जो काव्य के संबंध में सही निष्कर्ष प्रस्तुत करती है ।

पूर्व अध्यायों में यह प्रमाणित किया गया है कि ध्वनिसिद्धान्त के दो स्तर हैं । प्रथम वह जहां सौन्दर्य का विवेचन है, यह सौन्दर्य विवेचन कला मात्र के सौन्दर्य के लिए संगत है । द्वितीय स्तर वह है जहां आनंदवर्धन इस सौन्दर्य की चर्चा विशेषत: काव्य के प्रसंग में करते हैं ।

अत: ध्वनिसिद्धान्त सामान्यत: सौन्दर्य चर्चा में प्रवृत हुआ है और विशेषत: काव्य सौन्दर्य चर्चा में । इस दृष्टि से ध्वनिसिद्धान्त का महत्व और भी हो जाता है ।

पुन: ध्वनिसिद्धान्त ने जिस प्रतीयमान अर्थ की चर्चा की है वह कविता की सृजन प्रक्रिया का अनिवार्य परिणाम है । कवि की अनुभूति प्रतीयमान होकर ही व्यक्त होती है, यह उसकी नियति है । बिम्ब, पुराख्यान और प्रतीक आदि का प्रयोग कवि इसीलिए करता है । इन आवरणों में उसकी अनुभूति अपने सक्षम रूप में सुरक्षित रहती है ।

इसलिए ध्वनिसिद्धान्त एक पूर्ण सिद्धान्त है । मैं इसे 'मानववादी' 'सार्वभौम' आदि विशेषण नहीं देना चाहता । ये विशेषण घिस गए हैं, वास्तविकता पर आवरण डालते हैं । अनाख्येयता अस्पष्टता आदि को ध्वनिसिद्धान्त स्वीकार ही नहीं करता, 'रस की अनिर्वचनीयता' जैसी कोई बात यहां नहीं है ।

वस्तुत: काव्य में रस की धारणा वही संभव है जिसे आनंदवर्धन ने 'रसध्वनि' कहा है। ध्वनिसिद्धान्त प्रतिपादित प्रतीयमान अर्थ की अतिशयता अपने आप में सत्य है, जिसे भारतीय और पाश्चात्य कवि आचार्यों ने मुक्त कण्ठ से स्वीकार किया है। अत: ध्वनिसिद्धान्त जैसे सिद्धान्त के रहते, आधुनिक काव्य के लिए, भारतीय काव्यशास्त्र को नकारने का प्रयत्न काव्यशास्त्र के प्रति पूर्णज्ञान न होने का ही सूचक है। विश्व की किसी भी काव्य शास्त्रीय सिद्धान्त-परंपरा के संदर्भ में ध्वनिसिद्धान्त की मूल्यवत्ता अखंडित ही रहेगी।

...

प रि शि ष्ट - १

१. रससिद्धान्त 'शक्ति और सीमा' के अन्तर्गत लिखा गया है --
'आनन्दवर्धन ने ध्वनि की उद्भावना द्वारा शब्दार्थ की निहित शक्तियों का उद्घाटन किया और व्यंजना के द्वारा विभावादि को उपस्थित करने वाली नाट्यसामग्री की पूर्ति की।'
'अभिनव ने इस तथ्य को और भी स्पष्ट किया, काव्य के साथ रस का उचित संबंध स्थापित हुआ और शब्दार्थ के संदर्भ में ही रस-सिद्धान्त की पूर्ण प्रतिष्ठा हो गई।'

डा. साहब, क्या उपर्युक्त उद्धरणों से यह निष्कर्ष निकालना ठीक है कि वह मूल (भरत) रससूत्र-नियंत्रित नहीं है। ....हां।

काव्य-संदर्भीय रसप्रक्रिया आनंदवर्धन प्रतिपादित है, अभिनव ने उसे केवल 'और भी स्पष्ट' किया है। क्या यह सोचने में मैं ठीक हूं? .... नहीं, अभिनव का अभिमत ही मुख्यत: मान्य हुआ है। - उक्त मंतव्य केवल व्यंजना तक ही सीमित है।

२. ध्वन्यालोक (सं० आ० वि०) की भूमिका में आपने लिखा है -- `ध्वनि और रस दोनों में रस ही अधिक महत्वपूर्ण है इसी के कारण ध्वनि में रमणीयता आती है। पर रस को व्यापक अर्थ में ग्रहणकरना चाहिए।- - - रस के अंतर्गत समस्त भावविभूति अथवा अनुभूति वैभव आ जाता है।` (पृ ३२)

शंका यह है कि `रस और ध्वनि` की तुलना करके रस को अधिक महत्वपूर्ण क्यों कहा गया है, विशेषत: उस स्थिति में जब काव्य में रस की वही धारणा स्वीकार की जा रही हो जो ध्वनिसिद्धान्त में कथित है। मुझे लगता है ध्वनि तो कथ्य के प्रतीयमान होने की प्रक्रिया है, यह प्रतीयमानता संलक्ष्यक्रम हो या फिर असंलक्ष्यक्रम। ध्वनिसिद्धान्त कवि की अनुभूति के व्यंग्य होने का विवेचन करता है। वह रस के व्यंग्य होने का ही नहीं, वस्तु और अलंकार रूप अर्थ के व्यंग्यत्व अथवा अनुभूति मात्र के व्यंग्यत्व का प्रमाण प्रस्तुत करता है। क्या है विचारणा ठीक है ? ....

वस्तु और अलंकार की रमणीयता में भी भाव या रागतत्त्व का संस्पर्श अनिवार्यत: रहता है।

३: आपने लिखा है --`रसशास्त्र के अनुसार रागतत्व की सीमा के भीतर भी रस स्वरूप अत्यन्त व्यापक है। शास्त्र में रस की परिधि के अन्तर्गत रस,रसाभास -- भावशक्ति का निर्भ्रान्त रूप से समावेश किया गया है।`

-रस-सिद्धान्त,पृ ३१६

रसशास्त्र से यहां क्या तात्पर्य है ? जिस रसशास्त्र की परिधि में रसाभासादि का अस्थान है वह भरत का तो है नहीं, भरत ने रसाभास का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है।`रसाभासादि के विषय में सर्वप्रथम प्रामाणिक विवेचन आनंदवर्धन ने ही किया है। आनंदवर्धन से मम्मट तक का यह रसाभासादि असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य के प्रकार रूप में ही वर्णित हैं। तब आपने जिस `रसशास्त्र` का उल्लेख किया है,वह आनंदवर्धन का असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य का ही रसशास्त्र है अन्य नहीं, रस को व्यंग्य आप भी मानते हैं। क्या यह विचारणा सही है।

........रसशास्त्र यहां `रस-सिद्धान्त` का पर्याय है - किसी ग्रंथ का वाचक नहीं है।

४. आपने रस में अनुभूति का अतिशय और ध्वनि में कल्पना की प्रधानता मानी है। आनंदवर्धन तो 'क्रौन्चद्वन्द्ववियोगस्य' आदि श्लोक द्वारा मूल में ही अनुभूति मानते हैं। फिर ध्वनि में अनुभूति का निषेध कहीं नहीं किया गया है। ऐसी स्थिति में ध्वनि में कल्पना को अधिक महत्व दिया गया है--यह कैसे प्रमाणित हो सकेगा ?

.... यह रस-ध्वनि है जो रस से अधिक है। ....प्रश्न प्रधानता का है रस का आधार तत्व है भाव और ध्वनि में कल्पना का आधार रहता है।

५. समस्त भावसंपदा और अनुभूति वैभव जिसमें समाहित हो ऐसा सिद्धान्त तो फिर 'ध्वनि' ही है। ध्वनिसिद्धान्त प्रतिपादित रस प्राकल्पना ही काव्य में संगत है, यह बस स्वरूप ही है।

..........नहीं--ऐसा क्यों ? ध्वनि की स्वतंत्र सत्ता ही इस बात पर आधृत है कि उसमें भाव-सम्पत्ति गौण भी हो सकती है, जबकि रस में यह संभव नहीं है।

प्रियवर

आपके प्रश्नों पर मैंने अपनी प्रतिक्रियाएं सूचित कर दी है। इस समय और अधिक लिखने का अवकाश नहीं है। क्षमा करेंगे।

शुभेच्छु

नगेन्द्र

BIBLIOGRAPHY

ABERCRUMBIE (Lascelles) : Idea of great poetry. 1925.

ALLPORT (Gordon W.) : Personality and Social Encounter. 1960.

ANANDAVARDHANA : Dhvanyaloka. 1928.

BARFLETT (Francis H.) : Sigmund Freud. 1938.

BARLINGE (Surendra) : Saundarya tatva aur kavya siddhant.

BAUDOUIN (C) : Psychoanalysis and Aesthetims tr. by Eden and Cedar Paul. 1924.

BEATY and MATCHETT : Poetry from statement to meaning.

BERGSON (H) : Introduction to Metaphysics. 1912.

BERNARD (L.L.) : Misuse of intinct in the Social Sciences. (Psychological Review. Vol. 28. 1921).

BHAMAHA : Bhamahalankara. 1909.

BHANU (Jagnnath Prasad) : Kavya prabhakar.

BHARATA : Natya Sastra. 1929.

BHATTA (Mahima) : Vyakti viveka. 1909.

BHATTA (Mukul) : Abidha vritti matrka. 1916.

BOWRA (C.M.) : Background of modern poetry. 1946.

BOWRA (C.M.) : Creative experiment. 1949.

BRILL (A) : Psychoanalysis.

BROWN (Stephen J) : World of imagery. 1927.

BROWNE (Thomas) : Theory of beauty quoted by E.F.Carritt. 1940.

CARR (Harvey A.) : Psychology. 1935.

CARRITT (E.F.) : Theory of beauty.

CARY (Joycee) : Arta and Reality. 1958.

CHAITANYA (Krishna) : New history of Sanskrit literature. 1962.

COOK : Defence of poetry.

CROCE (B) : Essence of Aesthetic.1921.

CUBER and HARROFF : Readings in Sociology.1962.

DANDIN : Kavyadarsa. 1910.

DE (S.K.) : History of Sanskrit Poetics. Rev. Ed. 1960.

DE (S.K.) : Sanskrit poetics.

DE (S.K.) : Studies in the history of Sanskrit poetics. 1925.

DEWEY (John) : Art as experience. 1934.

DHANANJAYA : Dasarupaka. 1917.

DIKSHITA (Appayya) : Kuvalayannda.

DIXIT (Anand Prakash). : Ras siddhant swarup aur vishlesan.

DOBY (John T.) : Introduction to Social Psychology.

DUNLAP (Knight) : Are there any instincts. (Journal of abnormal Psychology. Vol. 14.1919).

DWIVEDI (R.C.) : Principles of Literary Criticism in Sanskrit.

DWIVEDI (Reva Prasad). : Anana Vardhan.

EDMAN (Irwin) : Art and man.

ELIOT (T.S.) : Music of poetry. 1942.

EMPSON (W) : Seven types of amleiguity.

: ENCYCLOPEDIA OF PHILOSOPHY Vol.1.

FARIS (Elsworth) : Are instincts data or hypotheses. (American journal of Sociology.Vol. 27.1921).

FREEMAN : Linguistics and Literary style.

FREUD (S) : Group psychology and the analysis of the ego.1922.

FREUD (S) : Introductory lectures on Psychoanalysis.

FROMM (Erich) : Psycheanalysis and Religion 1950.

GLEASON (H.A.) : An introduction to Descriptive Linguistics.

GNOLI (R) : Aesthetic experience according to Abhinava Gupta. Ed. & 1968.

GREENE : Arts and art criticism. Ed. 3. 1952.

GUPTA (Abhinava) : Abhinava bharti. 1926.

GUPTA (Abhinava) : Lochana on dhvanyaloka.

GURREY (P) : Appreciation of poetry.1951.

GUTHRIE : Psychology of human conflict. Ed. 2. 1950.

HALL (Robert. A. Jr) : Introductory Linguistics.

HEMACHANDRA : Kavyanusasana,1901.

HIRIYANNA (M) : Art experience . 1954.

HOCKETT : A Course in modern Ligguistics.

HOUSEMAN (A.E.) : Name and nature of poetry.1933.

: Introductory Reading on Language.

JAGANNÀTHA : Rasa gangdhara. 1913.

JAIN (Nirmala) : Ras siddhant aur saundarya shastra.

JAIN (Nirmala) : Siddhant aur adhyayan

JAIN (Vimal Kumar) : Kamayam men shabd shakti chamatkar.

JAIN (VIMal Kumar) : Ras siddhant aur saundrya shastra.

JAYADEVA : Chandraloka ed by Jivanand. 1906.

KALELAKAR (Kaka) and NEGANDRA : Bhartiya kavya siddhant.

KANE (P.V) : History of Sanskrit poetics. Ed. 3. 1961.

KRISHNA CHAITANYA : Indian Poetics.

KRISHNA MOORTHY (K) : Essays in Sanskrit poetics.

KSHEMENDRA : Aucityavicharcharcha.1901.

KUMAR VIMAL : Saundarya shastra ke tattva.

KUNTAKA : Vakrokti-jivita. 1923.

LANGER (Suranne) : : Feeling and form.1953.

LANGER (Susanne) : Problems of art. 1953.

LASHLEY (K.S.) : Psychological Review. Vol 45. 1938. p. 445.

LEECH (Geoffrey N) : Linguistic guide to English poetry.

LEWIS (C.Day) : Poetic image

MAMMATA : Kavyaprakasa.1911.

MANNHEIM (Karl) : Essays on the sociology of knowledge.1952.

MARITAIN (Jacques) : Creative intuition in Art and poetry. 1953.

Mc CONBREY (J.W.)	:	American art. 1965.
Mc DOUGALL (William)	:	Introduction to Social Psychology. 1916.
MISHRA (Bhagirath)	:	Bhartiya kavya shastra ka itihas.
MISHRA (Bhagirath)	:	Hindi kavya shastra ka itihas.
MISHRA (Ramdahin)	:	Kavyadarpan
MUKTIBODH	:	Chand ka munha tedha.
MUKTIBODH	:	Eka Sahityaka ki diary.
MYERS (Bernard S.)	:	Understanding the art. 1958.
NAGAR	:	Hindi ki prayogshil kavita aur uske prerana srotra.
NAGENDRA	:	Bhartiya kavya shastra ki parampra.
NAGENDRA	:	Hindi vakroktijivitam.
NAGENDRA	:	Kavya bimb.
NAGENDRA	:	Ras siddhant
NAGENDRA	:	Riti kavya ki bhumika
NAIDU (P.S.)	Ra	Rasa doctrine and the concept of suggestion in Hindu Aesthetics. (Journal of the Annamalai University. Sept. 1940. p.8).
OGDEN and RICHARDS	:	Foundations of Aesthetics. 1925
OSBORNE (Harold)	:	Aesthetics and criticism. 1955.
OZENFANT	:	Foundation of modern art. 1952.
PANDEY (K.C.)	:	History of Indian Aesthetics. 1950.
PARMAR (Shyam)	:	Akavita aur kala sandarbha.

PATHAK (Jagannath) : Dhvanyaloka

PAUDDAR (Kanhayalal) : Kavya kaladrum.

PAUDDAR (Kahhyalal) : Ras manjari.

POLLITT (J.J.) : Art of Greece. 1965.

PRASAD (Jaishankar) : Kamayani.

PRESCOTT (F.C.) : Poetic mind. 1922.

RAGHAVAN (V) : Number of Rasas.1940.

RAGHAVAN (V) : Some concepts of Alamkar shastra.

RAGHAVAN (V) : Studies in some concepts of the alamkara sastra.1942.

RAJASHEKHARA : Kavyamimamsa. 1916.

RATHBUn and HAYES : Layman's guide to modern art. Ed.4. 1957.

READ (Herbert) : Art and Societyy

READ (Herbert) : Meaning of art.

READ (Herbert) : True voice of feeling. (studies in English Romantic poetry.1954).

READ (L.A.) Stu Study in Aesthetics.1931.

RIVIERE (Joan) : Introductory lectures on Psychoanalysis.

ROSENBERG (Bernard) and MANNINGWHITE (David) : Mass Culture.1964.

ROYCE (James E.) : : Man and Nature.

RUDRATA : Kavyalamkara.1906

RUYYAKA : Alamkar sarvasva.1915.

SANKARAN (A) : Some aspects of literary criticism in Sanskrit.1929.

SANTAYANA (George) : Sense of beauty.1955.

SASTRI (P.B.) : Philosophy of Aesthic pleasure.

SHAND (A.F.) : Character and the emotions (Mind, New Series, Vo. 5. 1896).

SHARMA (Krishan Kumar) : Vyanjana Siddhi aur parampara.

SHARMA (Rama Kant) : Chayavadottar Hindi Kavita.

SHASTRI (Kali Charan) : Requisites of a poet. (Journal of the Department of Letters. Vo. 26. p. 1-31)

SHASTRI (Shri Dharanand) : Laghu Siddhant Kaumudi

SUKLA (Ram Chandra) : Ras mimasa

SHYAM SUNDAR DAS : Sahityalochan.

SINGH (Namvar) : Kavita ke naye pratiman.

SINGH (Shambhu Nath) : Prayogavad aur nayi kavita.

SINGH (Shiv karan) : Kala Srijan prakriya.

SKARD (A.G.) : Needs and needenergy (Character & personality Vol.8. 1939. p- 28-41)

SMITH (Alfred G) : Communication and Culture. 1966.

STRANSS (Anselum) : Mead on Social Psychology.

STRANESS and LINDESMITH : Social Psychology. 1949.

STRONG (L.A.G.) : Common sense about poetry. 1952.

TEGERA (Victoria): : Art and human intelligence. 1965.

THOMAS (F.W.) : Making of a Sanskrit poet. (Bhandarkar Commemoration Volume. p- 375-86)

THOMPSON (Clara) : Psychoanalysis. 1951.

TIWARI (Ramanand). : Sahitya kala.

TOLSTOY (Leo) : What is art ? 1905.

UDBHATA : Kavyalamkara samgraha ed. by M.R.Telang.1915.

UPADHYAYA (Ayoudhya Prasad):		Raskalash.
VAJPEYI (Kailash)	:	Adhunik Hindi Kavita men shilp.
VAJPAYI (Nand Dulare)	:	Naya sahitya : Neye Prashna.
VAMANA	:	Kavyalamkar sutra vritti.1922.
VARMA (Lakshmi Kant) :	:	Nayi Kavita ke partiman.
VARSHNEY (L.S.)	:	Beesvi shatabdi ka Hindi Sahitya. Naye Sandarbh.
VASU (S.C.)	:	Panini Ashtadhyayi Vol. I
VISHVESWAR, Ed.	:	Dhvanyaloka
VISVANATH	:	Sahitya darpan.1951.
VYAS (Bhola Shankar)	:	Dhvani sampraday aur auske siddhant.
WEISMANN (Donald L.)	:	Visual arts as human experience.
WEITZ (Morris)	:	Problems in Aesthetics. Ed. 9. 1969.
WELLEK (Rene)	:	History of modern criticism. 1955.
WELLEK (Rene) and WARREN (Austin)	:	Theory of Literature.1949.
WHALLEY (George) :	:	Poetic process.1953.
WHITEHEAD (A.N.)	:	Symbolism : its meaning and effect.1928.
WICKISU (Ralph.L.)	:	Introduction to art activities.

...

JOURNALS

American Journal of Sociology , Vol 27.

Annals of the Bhandarkar Oriental Research Institute Vol. 24. (Poona)

Indian Culture, Vol 6

International Journal of Social Sciences

International Encyclopedia of Social Sciences

Journal of Oriental Research, Madras Vol. 7.

Journal of Abnormal Psychology. Vol. 14

Journal of the Annamalai University , Sept, 1949

Psychological Review, Vol. 42.

Psychological Review, Vol. 35.

Psychological Review, Vol. 45.

Psychological Review, Vol. 28